३-चरणानुयोगसूचिका चूलिका

श्री प्रवचनसारकी वर्णानुक्रम गाथासूची

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

परमपूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत

प्रवचनसार

एवं

परमपूज्य श्रीमदमृतचन्द्रसूरि द्वारा विरचित

तत्त्व दीपिका

पर

सप्तदशांगी टीका

टीकाकार

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, गुरुवर्य श्री मनोहर जी वर्णी

'सहजानन्द महाराज'

प्रकाशक

खेमचन्द जैन सर्राफ

मन्त्री श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए रणजीतपुरी सदर, मेरठ।

प्रति १०००
सन १९७१

लागत रु० २.००

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
विसो भी	किसी भी	२७५	२८
वारण	कारण	२७८	१८
जस्प	जस्स	२७७	२
भा	भी	२७७	१६
प्रदे	प्रदेश	२७७	१४
व्यहार	व्यवहार	२८०	२७
यह्	वह्	२८१	११
पब	अब	२८८	१४
जोवत्व	जीवत्व	२८५	२३
स्भाव	स्वभाव	२९३	२६
बत्घ	बन्ध	३११	२९
करना	कहना	३१४	१८
तादात्म	तादात्म्य	३२१	१७
कवा	क्या	३४७	१३
ओर	और	३४७	१८
—	निमित्तमात्र है आत्मा उनका कर्ता नहीं	३४८	३०
कमरजहि	कम्मरजाहि	३५२	३
हानाहन	हलाहल	३५२	१०
नीव्र	तीव्र	३५२	१०
तोव्रानुभाग	तीव्रानुभाग	३५२	१८
है	हूँ	३५९	२३
अत पय	अतन्मय	३५८	२८
सहजानन्दाम्	सहजानन्दामृत	३६३	१८
जाता	होता	३६४	२६
परमाध्यस्य	परमाराध्यस्य	३६६	१२
अमुत्ता	अमूढ़ता	३६६	२०
पदाथ	पदार्थ	३६८	२०
सनत	सतत	३७२	६
अवादि	अनादि	३८१	२२
अघमोदय	अवमौदय	३८२	१७
अत	अब	३८३	१४
अनशगेर	अनवशरीर	३८३	१८
निविकार	निर्विकार	३८३	२३
पयथाजात	अयथाजात	३८८	२६
जानरूपधरत्व	जातरूपधारत्व	३८८	२२
यथाजावरूप	यथाजातरूप	३८२	२५
आलाचनविध	आलोचनविध	३९३	२३
वन्समिदिदिय	वदसमिदिदिय	३९४	२
छेन्नोपस्थापवा	छेदोपस्थापना	३९६	२४
निर्बेश	निर्देश	३९७	२६
प्रगिति	प्रगति	४००	२४
द्रव्याथिक	द्रव्यार्थिक	४०४	१२
मीरव	नीरग	४०४	२५
विकथार्ये	विकथायें में	४०८	२७
जिमक	जिसके है	४१०	१२
तत्प्रत्ययक	तत्प्रत्यक	४१०	२४
चही	नहीं	४१३	२२
निग्रन्थ	निर्ग्रन्थ	४२१	२४
चित्र	चित्त	४२२	१८
माग	मार्ग	४२२	२४
योग्य	योग्य	४३१	२५
युक्ताहारपनको	युक्ताहारपन को	४३१	२८
हिणका	हिंसाका	४३२	१३
अहिपायें	अहिंसायें	४३३	१८
द्रव्याथिकनय	द्रव्यार्थिकनय	४ ८	२३
कर	—	४४१	४
जिमम	जिसने	४४१	८
पदार्थाको	पदार्थों को	४४२	२१
परात्मत्मज्ञान	परात्मज्ञान	४४२	२५
सकता	एकता	४४४	१९
सवन्न	सवदन	४४८	२६
हा रहे	हो रहे	४४६	२२
साय	साथ	४५७	१८
द्रप	द्रप	४६५	१२
ध	धम	४७१	१८
उपटद्य	उपन्द्य	४७३	८

पूज्यपादश्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीतः

प्रवचनसारः

१ ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापनम्

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृततत्त्वप्रदीपिकावृत्ति

(मङ्गलाचरणम्)

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नमः ॥ १ ॥
हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः ।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः ॥ २ ॥
परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम् ।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥ ३ ॥

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री गुरुवर्य श्रीमत्सहजानन्दकृत सप्तदशाङ्गी टीका

सर्वव्याप्येक इत्यादि— अर्थ—सर्वव्यापी एक चित्स्वरूपमय, स्वोपलब्धिसे प्रसिद्ध ज्ञानानंदात्मक उत्कृष्ट आत्माको नमस्कार हो। भावार्थ—यहाँ आत्माके सहजस्वरूपको नमस्कार किया गया है, क्योंकि इसी सहज स्वरूपके आश्रयसे मोक्षमार्गमें प्रगति और मोक्ष प्राप्त किया जाता है एवं स्वरूपके अनुरूप विकास होता अतः इन्हीं विशेषणों द्वारा सर्वज्ञ वीतराग परमात्माको नमस्कार किया गया है।

प्रसंगविवरण—प्रवचनसार ग्रन्थराजकी तत्त्वप्रदीपिका टीका करते समय श्री अमृत-

न्तमध्यस्थो भूत्वा सकलपुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमा भगवत्पचपरमेष्ठिप्रसादोप

होता है। (४) स्वतन्त्र स्वस्वसत्तामात्र पदार्थोका परिचय होनेसे मोहान्धकार नष्ट हो जाता है। (५) मोहान्धकार नष्ट होनेपर उत्कृष्ट आत्मतत्त्वमे आदर होना है। सहजपरमात्मतत्त्व की उपासनासे परमकाष्ठाप्राप्त ज्ञान और आनन्द प्रकट होता है।

सिद्धान्त—(१) अनेकान्तमय तेजसे वस्तुका यथार्थ ज्ञान होता है।

दृष्टि—(१) सकलादेशी स्याद्वाद।

प्रयोग—स्याद्वादसे वस्तुनिर्णय करके मोह अज्ञान नष्ट कर स्व सहज ज्ञानानन्दको जयवन्त करना।

परमानन्द इत्यादि—अर्थ— उत्कृष्ट आनन्दरूपी अमृतरसके प्यासे भव्य जीवोके हित के लिये वस्तुस्वरूपको प्रकट करने वाली प्रवचनसारकी यह वृत्ति अर्थात् टोका की जा रही है। भावार्थ— प्रवचनसारकी यह टीका यथार्थ स्वरूपको प्रकट करने वाली होनेसे भव्य जीवो को परम आनन्द देने वाली है।

प्रसगविवरण—पूर्व छदमे अनेकान्तमय तेजका वस्तुस्वरूपको प्रकाशनेका तथ्य बता कर जयवाद किया था। अब उसी अनेकान्तविधिसे तत्त्वको प्रकट करने वाली प्रवचनसारकी टीका रची जानेका लक्ष्य बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) स्वस्वद्रव्यगुणपर्यायमय वस्तुका परिज्ञान होनेसे पर वस्तुके प्रति आकर्षण नही रहता है। (२) परवस्तुके प्रति आकर्षण नष्ट हो जानेपर आत्मवस्तुकी अभिमुखता होती है। (३) आत्मतत्त्वके अभिमुख जीवको आत्मतत्त्वके आश्रयसे परम आनन्द प्रकट होता है। (४) परमानन्दसुधारसके प्यासे भव्य जीवोके हितके लिये यह टीका रची जा रही है।

सिद्धान्त—(१) किसोकी रचनासे अन्य कोई लाभ उठाये तो वहाँ उसके लिये रचना की जानेका व्यवहार होता है।

दृष्टि—१— परसप्रदानत्व असद्भूत व्यवहार (१३२)।

प्रयोग—प्रवचनसार ग्रन्थ व उसकी टीकाका स्वाध्याय अपनेपर तथ्यको घटित करते हुए करना और आत्मीय आनन्दसे तृप्त होनेकी वृत्ति बनाना।

अथ इत्यादि। अर्थ—अब निकट है ससारसमुद्रका किनारा जिसका, प्रकट हो गई है सातिशय विवेक ज्योति जिसकी, नष्ट हो गया है समस्त एकान्तवादविद्याका आग्रह जिसके ऐसा कोई महापुरुष (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) परमेश्वर जिनेन्द्रदेवकी अनेकान्तवादविद्याको

अथ सूत्रावतार —

एस सुरासुरमणुसिदवंदिद धोदघाइकम्ममल ।
पणमामि वड्ढमाण तित्थ धम्मस्स कत्तार ॥१॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे गिसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदसणचरित्ततववीरियायारे ॥२॥
ते ते सव्वे समग समग पत्तेगमेव पत्तेग ।
वदामि य वट्टत अरहते माणुसे खेत्ते ॥३॥
किच्चा अरहताण सिद्धाण तह णमो गणहराण ।
अज्झावयवग्गाण साहूण चेदि सव्वेसि ॥ ४ ॥
तेसि विसुद्धदसणणाणपहाणासम समासेज्ज ।
उवसपयामि सम्म जत्तो णिव्वाणसपत्ती ॥५॥

यह मैं इन्द्रो द्वारा, वदित रिपुघातिकममलव्यपगत ।
तोर्थमय धमकर्ता वद्धमान देवको प्रणमू ॥ १ ॥
शेष तोर्थेश व सकल, विशुद्धसद्भावमय सुसिद्धोको ।
दशन ज्ञान चरित तप, वीर्याचारेश श्रमणोको ॥ २ ॥

नामसज्ञ—एत सुरासुरमणुसिदवदिद, धोदघाइकम्ममल वड्ढमाण तित्थ, धम्म, कत्तार, सस, पुण, तित्थयर ससव्वसिद्ध विसुद्धसब्भाव, समण य णाणदसणचरित्ततववीरियायार, त, त सव्व,

---

वदना करता हू । [इति] इस प्रकार [अर्हद्भ्य] अर्हंतोको [सिद्धेभ्य] सिद्धोको [तथा गण धरेभ्य] आचार्योंको [अध्यापकवर्गेभ्य] उपाध्यायवर्गको [च] और [सर्वेभ्य साधुभ्य] सब साधुओंको [नम कृत्वा] नमस्कार करके [तेषा] उनके [विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रम] विशुद्ध दर्शनज्ञानप्रधान आश्रमको [समासाद्य] प्राप्त करके [साम्य उपसपद्ये] मैं समभावको प्राप्त करता हू [यत] जिससे [निर्वाणसप्राप्ति] निर्वाणकी प्राप्ति होती है ।

टीकार्थ—यह स्वसवेदनप्रत्यक्षदर्शनज्ञानसामान्यात्मक मैं प्रवर्तमान तीर्थनायकताके कारण प्रथम ही सुरेन्द्रो, असुरेन्द्रो और नरेन्द्रोंके द्वारा वदित होनेसे तीन लोकके एक मात्र गुरु घातिकममलके धो डालनेसे जगतपर अनुग्रह करनेमे समर्थ अनतशक्तिरूप परमेश्वरतासे युक्त तीर्थताके कारण योगियोको तारनेमे समर्थ, धर्मके कर्ता होनेसे शुद्ध स्वरूपपरिणतिके विधाता परम भट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर, परमपूज्य, सुगृहीतनाम श्रीवर्द्धमानदेवको

धिदेवपरमेश्वरपरमपूज्यसुगृहीतनामश्रीवर्धमानदेवं प्रणमामि ॥१॥ तदनु विशुद्धसद्भावत्वादुपात्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावान् शेषानतीततीर्थनायकान् सर्वान् सिद्धांश्च, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात्संभावितपरमशुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणांश्च प्रणमामि ॥ २ ॥ तदेतानेव पंचपरमेष्ठिनस्तत्तद्व्यक्तिव्यापिनः सर्वानेव सांप्रतमेतत्क्षेत्रसंभवतीर्थकरासंभवान्महाविदेहभूमिसंभवत्वे सति मनुष्यक्षेत्रप्रवर्तिभिस्तीर्थनायकैः सह वर्तमानकालं गोचरीकृत्य युगपद्युगपत्प्रत्येकं प्रत्येकं च मोक्षलक्ष्मीस्वयंवरायमाणपरमनैर्ग्रन्थ्यदीक्षाक्षणोचितमंगलाचारभूतकृतिकर्मशास्त्रोपदिष्टवंदनाभिधानेन संभावयामि । ३ ।

नाम—वद स्तुतौ तृतीयगणी, प नम नम्रीभाव प्रथमगणी, सम् आ साय प्राप्त्यर्थे उव स पय गनौ । प्रातिपदिक—एतत् सुरासुरमनुष्येन्द्रवंदित धौतघातिकर्ममल वर्द्धमान तीर्थ धर्म कर्तृ शेष पुन तीर्थङ्कर, ससर्वसिद्ध, विशुद्धसद्भाव श्रमण, ज्ञानदर्शनचरित्रतपोवीर्याचार तत् सर्व समक समक प्रत्येक एव प्रत्येक च, वर्तमान अर्हत्, मानुष, क्षेत्र, अर्हत् सिद्ध तथा नम, गणधर अध्यापकवर्ग साधु च इति, सर्व तत् विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रम साम्य यत, निर्वाणसम्प्राप्ति । उभयपदविवरण—एस एस–प्रथमा एकवचन । सुरासुरमणुसिंदवंदिदं सुरासुरमनुष्येन्द्रवंदित–द्वितीया एकवचन । धोदघाइकम्ममलं धौतघातिकर्ममल–द्वि० ए० । पणमामि प्रणमामि–वर्तमान लट उत्तम पुरुष एकवचन । वड्ढमाण वर्द्धमान तित्थ तीर्थ–द्वि० ए० । धम्मस्स धर्मस्य–षष्ठी ए० । कत्तार कर्तार–द्वि० ए० । सेसे शेषान् तित्थयरे तीर्थकरान् ससव्वसिद्धे ससर्वसिद्धान्, विसुद्धसब्भावे विशुद्धसद्भावान्–द्वितीया बहुवचन । समणे श्रमणान् णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ज्ञानदर्शनचरित्रतपोवीर्याचारान् ते त, तान् तान् सव्वे सर्वान्–द्वि० बहु० । समगं समग, समकं समक–अव्यय । पत्तेगं प्रत्येक–द्वि० एक० । वंदामि वन्दामि–वर्तमान लट उत्तम पुरुष एक० ।

ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकत्वस्वरूप एकाग्रताको मैं प्राप्त हुआ हूं यह इस प्रतिज्ञाका अर्थ है । इस प्रकार यह (श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य देव) साक्षात् मोक्षमार्गको प्राप्त हुआ ।

तात्पर्य—आराध्यकी आराधना कर परम अभेद आराधनाका प्रतिज्ञापन हुआ है ।

प्रसंगविवरण—आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव प्रवचनसार गाथाग्रंथकी रचना करने वाले हैं सो उससे पहिले सर्वप्रथम तीर्थनायक महावीर भगवानको प्रणाम करके फिर समस्त आराध्य देव गुरुवोंको प्रणाम करके ग्रंथरचनाके प्रयोजनभूत समताभावकी प्रतिपन्नताकी भावना कर रहे हैं ।

तथ्यप्रकाश—(१) आराध्यके आराधकको स्वयं अपना आत्मा स्वसंवेदनप्रत्यक्षगम्य है सो अपने आपको देखता हुआ कह रहा है कि यह मैं वर्द्धमान देवको प्रणाम करता हूं । (२) वर्द्धमान प्रभुकी त्रिलोकगुरुताकी सर्वजनविदित प्रमाण यह है कि प्रभु तीनों लोकके इन्द्रों द्वारा वंदित हैं । (३) घातिया कर्मोंके दूर होनेसे वर्द्धमान प्रभुके संसारी प्राणियोंका अनुग्रह करनेमें समर्थ अनंत शक्तिरूप पारमैश्वर्य प्रकट हुआ है । (४) चौबीसवें तीर्थंकर श्री वर्द्धमान स्वामीका तीर्थ इस समय चल रहा है इस कारण ये यागिवार तीर्थ हैं धर्मका है

अथैवमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां प्रणतिवन्दनाभिधानप्रवृत्तद्वैतद्वारेण भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलविलीननिखिलस्वपरविभागतया प्रवृत्ताद्वैत नमस्कारं कृत्वा ।४। तेषामेवार्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूना विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधानत्वेन सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावात्मतत्त्वश्रद्धानावबोधलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानसपादकमाश्रम समासाद्य सम्यग्दर्शनज्ञानसपन्नो भूत्वा, जीवत्कषायकणतया पुण्यबन्धसप्राप्तिहेतुभूतं सरागचारित्रं क्रमापतितमपि दूरमुत्क्रम्य सकलकषायकलिकलङ्कविविक्ततया निर्वाणसप्राप्तिहेतुभूत वीतरागचारित्राख्य साम्यमुपसंपद्ये । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैक्यात्मकैकाग्र्य गतोऽस्मीति प्रतिज्ञार्थ । एवं तावदयं साक्षान्मोक्षमार्गं संप्रतिपन्न ॥५॥

ते तान्, सव्वे सर्वान्, तह तथा, जत्तो यत –अव्यय । वट्ट ते वर्तमानान्, अरहते अर्हत –द्वि० एक० । माणुसे मानुषे, खेत्ते क्षेत्रे–सप्तमी ए० । किच्चा कृत्वा–असमाप्तिकी क्रिया । अरहताण अर्हद्भ्य , सिद्धाणा सिद्धेभ्य , गणहराण गणधरेभ्य , अज्झावयगाण अध्यापकवर्गेभ्य , साहूण साधुभ्य , सव्वेसिं सर्वेभ्य –चतुर्थी बहु० । णमो नम –अव्यय । तेसिं तेषा–षष्ठी बहु० । विसुद्धदसणणाणपहाणासम विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रम–द्वि० एक० । समासेज्ज समासाद्य–असमाप्तिकी क्रिया । उपसपयामि उपसपद्ये–वर्तमान लट् उत्तम पुरुष एक० । सम्म साम्य–द्वि० एक० । णिव्वाणसपत्ती निर्वाणसप्राप्ति –प्रथमा एक० । **निरुक्तिसमास**— तीर्थं करोतीति तीर्थंकर तान्, सर्वे च सिद्धाश्चेति सर्वसिद्धा तै सहिता ससर्वसिद्धा तान्, विशुद्ध सद्भावा येषा ते विशुद्धसद्भावास्तान्, ज्ञान च दर्शन च चारित्र च तपश्च वीर्यं च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याणि तान्येव आचारा येषा ते तान्, एक एक प्रति इति प्रत्येक ॥ १-५ ॥

अथायमेव वीतरागसरागचारित्रयोरिष्टानिष्टफलत्वेनोपादेयहेयत्व विवेचयति—

सपज्जदि णिव्वाण देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दसणणाणप्पहाणादो ॥६॥

नृसुरासुरेन्द्रवभव पूवक निर्वाण प्राप्त होता है।
दशनज्ञानप्रधानी चारित सेये हि जीवोको ॥ ६ ॥

सपद्यते निवाण देवासुरमनुजराजविभव । जीवस्य चरित्राद्दशनज्ञानप्रधानात् ॥ ६ ॥

सपद्यते हि दशनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्ष । तत एव च सरागाद्देवासुरमनु

नामसज्ञ—णिव्वाण देवासुरमणुयरायविहव जीव चरित्त दसणणाणप्पहाण। धातुसज्ञ—स पज्ज गतौ प्रथमगणी, निर वा वायुसचरणयो। प्रातिपदिक—निर्वाण देवासुरमनुजराजविभव जीव चारित्र दशनज्ञानप्रधान। मूलधातु—स पद गतौ दिवादि निस वा गतिगन्धनयो अदादि। पदविवरण—सपज्जदि सपद्यते—वतमान लट अन्य पुरुष एकवचन। णिव्वाण निवाण–प्र० ए०। देवासुरमणुयरायविहवहि देवा-

सिद्धान्त—(१) अद्वैतनमस्कारमे ध्याता ध्येयका विकल्प न रहकर मात्र आत्मस्वरूप का आदर है।

दृष्टि— १– अविकल्पनय, ज्ञानज्ञेयाद्वैतनय (१६२, १७६)।

प्रयोग—समतापुञ्ज आराध्य परमेष्ठियोकी द्वैत आराधनासे आगे बढकर स्वरूपदृष्टि मात्र अद्वैत आराधनामे अविकार स्वरूपका अनुभव करना ॥ १–५ ॥

अब ये ही (कुन्दकुन्दाचार्यदेव) वीतरागचारित्रकी इष्टफल रूपमे और सरागचारित्र की अनिष्टफल रूपसे उपादेयता व हेयताका विवेचन करते हैं—[जीवस्य] जीवको [दशनज्ञानप्रधानात्] दर्शनज्ञानप्रधान [चारित्रात्] चारित्रसे [देवासुरमनुजराजविभव] देवेन्द्र, असुरेन्द्र और नरेन्द्रके वैभवके साथ [निर्वाण] निर्वाण [सपद्यते] प्राप्त होता है।

तात्पर्य—दशनज्ञानप्रधान चारित्रमे अनेक वैभवोसे गुजरकर निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

टीकार्थ—दशनज्ञानप्रधान वीतराग चारित्रसे, मोक्ष प्राप्त होता है, और दर्शनज्ञान-प्रधान सरागचारित्रसे देवेन्द्र असुरेन्द्र, नरेन्द्रके वैभवक्लेशरूप बधकी प्राप्ति होती है। इसलिये मुमुक्षुओको इष्ट फल वाला होनेसे वीतरागचारित्र उपादेय है, और अनिष्ट फल वाला होनेसे सरागचारित्र हेय है।

प्रसगविवरण—पूर्व गाथामे बताया था कि मैं समताको प्राप्त होता हूँ, जिससे कि निर्वाणकी प्राप्ति होती है। अब इस गाथामे निर्वाणप्राप्तिका साधन बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) शुद्धचित्स्वरूपमे रमना चारित्र है। (२) भावसंसारमें दुख हुए

[illegible]राजविभवक्लेशरूपो बन्ध । अतो मुमुक्षुरिष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफलत्वात्सराग-चारित्र हेयम् ॥६॥

[illegible]राजविभवै –तृतीया बहु० । जीवस्स जीवस्य–प० ए० । चरित्तादो चारित्रात्–पंचमी ए० । दसण-[illegible] दर्शनज्ञानप्रधानात्–प० ए० । निरुक्ति—नि शेषेण वान निर्वाण, दीव्यति देव , सुरति सुर , [illegible] मनुज , विशेषेण भवन विभव , जीवति जीव , चरण चारित्र । समास–देवाश्च असुराश्च मनु-[illegible] तेषा राजानः देवा०, तेषा विभवा तै , दर्शनज्ञाने प्रधाने यत्र तत् तस्मात् ॥६॥

[illegible] उद्धार कर निर्विकार शुद्ध चैतन्यमे धारण करने वाला चारित्र है, अतः चारित्र धर्म है । (३) मोह और क्षोभका शामक होनेसे चारित्र शम है । (४) राग द्वेष परिणतिसे निवृत्ति करने वाला होनेसे चारित्र साम्यभाव है । (५) शुद्धात्मश्रद्धानरूप सम्यक्त्वका विनाशक दर्श-नमोह मोह कहलाता है । (६) निर्विकार निश्चल ज्ञानवृत्तिरूप चारित्रका विनाशक चारित्र-मोह क्षोभ कहलाता है । (७) जिसके सम्यग्दर्शन ज्ञान हुआ है उसीके चारित्र होता है । (८) जिस साधुके [illegible] जीवित है उसका चारित्र सरागचारित्र है । (९) जिस साधुके रागका अभाव हो गया उसका चारित्र वीतरागचारित्र है । (१०) वीतरागचारित्रसे मोक्ष होता है । (११) सरागचारित्रसे देवेन्द्र असुरेन्द्र नरेन्द्रके वैभवक्लेशरूप बध होता है । (१२) सरागचा-रित्रमे होने वाले बन्धका कारण रागांश है, चारित्राश बन्धका कारण नही । (१३) सराग-चारित्रमे [illegible] वैभव प्राप्त होते, फिर भी वह ज्ञानी निर्ग्रन्थ पुरुष हो जाता है । (१४) [illegible] मरण करने वाला असुरोमे व असुरेन्द्रोमे उत्पन्न नही होता, किन्तु सम्यग्दृष्टि जीव [illegible] सम्यक्त्वकी विराधना करके असुरोमे उत्पन्न होता है । (१५) निश्चयसे वीत-रागचारित्र उपादेय है व सरागचारित्र हेय है ।

सिद्धान्त—(१) वीतरागचारित्रसे मोक्ष होता है ।

दृष्टि— १– [illegible] शुद्ध द्रव्यार्थिकनय, शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [illegible] ।

प्रयोग—[illegible] होकर ज्ञाता द्रष्टा रहनेका पौरुष करना और प्रारभमे [illegible] विकल्पकी उपेक्षा कर वीतरागचारित्रमय होनेका ध्यान [illegible]

[illegible] है—[चारित्रं] चारित्र [खलु] वास्तवमे [धर्मः] [illegible] [यः] वह साम्य है, [इति निर्दिष्टम्] ऐसा कहा [illegible] [मोहक्षोभविहीनः] मोहक्षोभरहित [आत्मनः परिणामः] आ-

अथ चारित्रस्वरूप विभावयति—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

चारित्र धर्म धर्म भि, साम्य बताया व साम्य भी क्या है ।
मोह क्षोभमे विरहित, अविकृत परिणाम आत्माका ॥७॥

चारित्रं खलु धर्मो धर्मो यस्तत्साम्यमिति निर्दिष्टम् । मोहक्षोभविहीन परिणाम आत्मनो हि साम्यम् ॥७॥

स्वरूपे चरण चारित्रं । स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थ । तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्म । शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थ तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम् । साम्य तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणाम ॥७॥

नामसंज्ञ—चारित्त, खलु, धम्म, ज, त सम, इत्ति णिद्दिट्ठ, मोहक्खोहविहीण परिणाम अप्प हु सम । धातुसंज्ञ—णि दिस प्रेक्षणे । प्रातिपदिक—चारित्र, खलु धर्म यत् तत् साम्य इति निर्दिष्ट, मोहक्षोभविहीन, परिणाम, आत्मन् खलु साम्य । मूलधातु—निर दिश दर्शन । पदविवरण—चारित्त चारित्र—प्र० ए० । खलु खलु—अव्यय । धम्मो धर्म –प्र० एक० । जो सो य स समो सम –प्र० एक० । इत्ति इति—अव्यय । णिद्दिट्ठो निर्दिष्ट –प्र० एक० कृदन्त क्रिया । मोहक्खोहविहीणो मोहक्षोभविहीन परिणामो परिणाम समो सम –प्र० ए० । अप्पणो आत्मन –षष्ठी एक० । निरुक्तिसमास—चरण चारित्र, मोहक्षोभश्च मोहक्षोभो ताभ्या विहीन मोहक्षोभविहीन ॥ ७ ॥

तात्पर्य—सहजात्मस्वरूपमे रमना सम्यक्चारित्र है, यही धर्म है ।

टीकार्थ—स्वरूपमे चरण करना (रमना) चारित्र है । स्वसमयमे प्रवृत्ति करना (अपने स्वभावमे प्रवृत्ति करना) ऐसा इसका अर्थ है । वही वस्तुका स्वभाव होनेसे धर्म है । शुद्ध चैतन्यका प्रकाश करना ऐसा इसका अर्थ है । वही यथावस्थित आत्मगुण होनेसे साम्य है । और साम्य दर्शनमोहनीय तथा चारित्रमोहनीयके उदयसे उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभके अभावके कारण जीवका अत्यन्त निर्विकार परिणाम है ।

प्रसगविवरण—पूर्व गाथामे बताया था कि निर्वाणकी प्राप्ति चारित्रसे होती है । अब उसी चारित्रका स्वरूप इस गाथामे बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) चारित्रके फलको बताकर उत्थानिकामे कहा है कि अब चारित्रके स्वरूपको विशेष रूपसे दूबाते है इसमे अपना भाव व उद्यम बताया गया है । (२) अपने आत्मस्वरूपमे रमण चारित्र है । (३) अपने आत्मस्वरूपमे रमना स्वसमयवृत्ति है । (४) अपने आत्मस्वरूपमे रमण धर्मधारण है । (५) अपने आत्मस्वरूपमे रमनेके मायने शुद्ध चैतन्यका प्रकाशन है । (६) अपने आत्मस्वरूपमे रमण साम्यभाव है । (७) अपने आत्मस्वरूपमे रमण

अथ जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वं निश्चिनोति--

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥ ९ ॥

जब परिणामस्वभावी, जीव शुभ अशुभ शुद्ध भावसे यह।
परिणमता तब होता, जीव हि शुभ अशुभ शुद्ध तथा ॥९॥

जीव परिणमति यदा शुभेनाशुभेन वा शुभो शुभ। शुद्धेन तथा शुद्धो भवति हि परिणामस्वभाव ॥ ९ ॥

यदाऽयमात्मा शुभेनाशुभेन वा रागभावेन परिणमति तदा जपातापिच्छरागपरिणत

नामसंज्ञ—जीव जदा सुह असुह वा सुद्ध तदा हि परिणामसब्भाव। धातुसंज्ञ—हव सत्ताया परि णम

द्रव्य उस समय उष्णता रूपसे परिणमित लोहेके गोलेकी भाँति उस मय है, इसलिये यह आत्मा धमरूप परिणमित होनेसे धम ही है। इस प्रकार आत्माका चारित्रपना सिद्ध हुआ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि निश्चयत चरित्र ही धम है। अब इसीके सम्बन्धमे इस गाथामे कहा गया है कि चारित्र धमसे परिणत आत्मा ही स्वयं धम है।

तथ्यप्रकाश—(१) चारित्रभावसे परिणमा आत्मा स्वयं चारित्रमय है। (२) आत्मा और चारित्र अलग अलग नही है। (३) जिस कालमे जो द्रव्य जिसरूप परिणमता है उस कालमे वह द्रव्य उस मय है। (४) उदाहरणमे स्पष्ट है कि उष्णतामे परिणत लोहगोला उष्णतामय है।

सिद्धान्त—(१) अशुद्धपर्यायके कालमे द्रव्य अशुद्धपर्यायमय है। (२) शुद्धपर्याय-परिणत आत्मा शुद्धपर्यायमय है।

दृष्टि—१- अशुद्धनिश्चयनय [४७]। २- शुद्धनिश्चयनय [४६]।

प्रयोग—मैं अपने आप केवल रह कर किस रूप हो सकता हूँ ऐसे चिन्तनसे मात्र ज्ञाता द्रष्टा रूप मनन करके पर्यायध्यान छोडकर पर्यायकी स्रोतभूमि सहजसिद्ध चिन्मात्र अपनेको अनुभवनेका पौरुष करना ॥८॥

अब जीवका शुभपना, अशुभपना और शुद्धपना निश्चित करते है—[परिणामस्वभाव] परिणामस्वभाव [जीव] जीव [यदा] जब [शुभेन वा अशुभेन] शुभ या अशुभ भावरूपसे [परिणमति] परिणमता है [शुभ अशुभ] तब शुभ या अशुभ ही होता है, [शुद्धेन] और जब शुद्धभावरूपसे परिणमता है [तदा शुद्ध हि भवति] तब शुद्ध स्वयं ही होता है।

स्फटिकवत् परिणामस्वभाव: सन् शुभोऽशुभश्च भवति । यदा पुनः शुद्धेनारागभावेन परिण-

---

प्रह्वत्वे । प्रातिपदिक—जीव यदा, शुभ, अशुभ, वा, शुद्ध, तदा, हि, परिणामस्वभाव । मूलधातु—परि णम प्रह्वत्वे, भू सत्तायां । उभयपदविवरण—जीवो जीव –प्रथमा एकवचन । परिणमदि परिणमति–वर्त-मान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जदा यदा तदा वा हि–अव्यय । सुहेण शुभेन असुहेण अशुभेन

तात्पर्य—शुभ अशुभ शुद्ध परिणमनके समय जीव शुभ अशुभ तथा शुद्ध ही है ।

टीकार्थ—जब यह आत्मा शुभ या अशुभ रागभावसे परिणमता है तब जपा कुसुम या तमाल पुष्पके लाल या काले रंगरूप परिणमित स्फटिककी भाँति, परिणामस्वभाव यह जीव शुभ या अशुभ होता है और जब वह शुद्ध अरागभावसे परिणमित होता है तब शुद्ध अरागपरिणत (रंगरहित) स्फटिककी भाँति, परिणामस्वभाव होनेसे शुद्ध होता है याने उस समय आत्मा स्वयं ही शुद्ध है । इस प्रकार जीवका शुभत्व अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध हुआ ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि जो द्रव्य जिस कालमे जिस रूपसे परिणमता है वह द्रव्य उस कालमे उस मय होता है । अब आत्माके विषयमे उसीका स्पष्टीकरण इस गाथामे किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जीव परिणमता है इस कथनसे स्पष्ट है कि जीव नित्य है, किन्तु अपरिणामी कूटस्थ नित्य नही है । (२) जीव परिणमता है इस कथनसे स्पष्ट है कि जीव पूर्वपर्यायको छोडकर नवीन पर्यायमें आता रहता है । (३) जीव परिणमता है इस कथनसे स्पष्ट है कि जीव जिस पर्यायरूप परिणमता है उस समय वह उस पर्यायमय है । (४) जीव जब शुभभावसे परिणमता है तब जीव शुभ है । (५) जब जीव अशुभभावसे परि-णमता है तब वह अशुभ है । (६) जब जीव शुद्धभावसे परिणमता है तब जीव शुद्ध है । (७) जब जीव शुभ, अशुभ या शुद्धभावसे परिणमता है तब यह जीव स्वयं शुभ, अशुभ या शुद्ध है, इसे किसीने शुभ, अशुभ या शुद्ध नही किया । (८) जीवका शुभ अशुभ होना कर्म-दशाके निमित्त [illegible] होता है, क्योंकि शुभ अशुभ भाव जीवका स्वभावानुरूप परिणमन [illegible] । (९) जीवका शुद्ध परिणमन होना उपाधिके अभावमे अर्थात् जीवकी केवलतामे [illegible] है क्योंकि शुद्धभाव जीवका स्वभावानुरूप परिणमन है । (१०) लाल पीला उपा-[illegible] स्फटिकमणि लाल पीला रूप परिणमता है ऐसे ही उपाधिकर्मदशाके [illegible] शुभ अशुभ भावरूप परिणमता है । (११) लाल पीला उपाधिके न रहनेपर [illegible], स्फटिक मणि स्वभावानुरूप स्वच्छ परिणमता है, ऐसे ही कर्मउपाधिके न रहने [illegible] शुद्ध स्वच्छ ज्ञानादिरूप परिणमता है । (१२) प्रथम, द्वितीय, तृतीय [illegible] हुआ अशुभोपयोग है । (१३) चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ गुणस्थानमे

मति तदा शुद्धारागपरिणतस्फटिकवत्परिणामस्वभाव सन् शुद्धो भवतीति सिद्ध जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वम् ॥ ६ ॥

सुहेण शुभेन–तृतीया एक० । सुहो शुभ असुहो अशुभ सुद्धो शुद्ध –प्रथमा एक० । हवदि भवति–वर्तमान लट अन्य पुरुष एक० । परिणामसब्भावो परिणामस्वभाव –प्रथमा एक० । निरुक्ति—जीवति इति जीव, शोभते इति शुभ, शुद्ध्यति इति शुद्ध । समास—परिणाम स्वभाव यस्य स परिणामस्वभाव ॥ ६ ॥

उत्तरोत्तर स्वच्छताके लिये बढ़ता हुआ शुभोपयोग है । (१४) सप्तम गुणस्थानसे बारहवें गुणस्थान तक स्वच्छता व स्थिरतामे बढ़ता हुआ शुद्धोपयोग है । (१५) केवली भगवानके शुद्धोपयोगका फल आत्मोत्थ, ज्ञान व आनन्दका परिपूर्ण परिणाम है ।

सिद्धान्त—(१) परिणामस्वभाव द्रव्य परिणमता रहता है । (२) कर्मोपाधिके सान्निध्यमे जीव शुभ अशुभभावरूप परिणमता है । (३) उपाधिक अभावमे जीव शुद्ध भावमय होता है ।

दृष्टि—१– उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्धद्रव्यार्थिकनय (२५) । २– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) । ३– उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ अ) ।

प्रयोग—शुभ अशुभ भावोको औपाधिक व क्षोभमय जानकर उनसे उपेक्षा करके सहजसिद्ध सहजशुद्ध सहजबुद्ध एकस्वभाव चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वकी ओर उपयोग रखनेका पौरुष करना ॥ ६ ॥

अब परिणामको वस्तुके स्वभावरूपसे निश्चित करते हैं—[इह] इस लोकमे [परिणाम विना] परिणामके बिना [अर्थ नास्ति] पदार्थ नही है, [अर्थ विना] पदार्थके बिना [परिणाम] परिणाम नही है, [अर्थ] वास्तवमे पदार्थ [द्रव्यगुणपर्ययस्थ] द्रव्य गुण पर्याय मे रहने वाला और [अस्तित्वनिर्वृत्त] उत्पादव्ययध्रौव्यमय अस्तित्वसे बना हुआ है ।

तात्पर्य—द्रव्य गुण पर्यायात्मक पदार्थ सत् है ।

टीकार्थ—वास्तवमे परिणामके बिना वस्तु सत्ताको धारण नही करती, क्योंकि वस्तु की द्रव्यादिके द्वारा परिणामसे भिन्न उपलब्धि नही है । परिणामरहित वस्तु गधेके सींगके समान है तथा परिणामरहित वस्तुको दिखाई देने वाले गोरस दूध, दही वगैरहके परिणामोंके साथ विरोध आता है । वस्तुके बिना परिणाम भी अस्तित्वको धारण नही करता, क्योंकि स्वाश्रयभूत वस्तुके अभावमे निराश्रय परिणामको शून्यताका प्रसङ्ग आता है । वस्तु तो ऊर्ध्वतासामान्यस्वरूप द्रव्यमें, सहभावी विशेषस्वरूप गुणोंमे तथा क्रमभावी विशेषस्वरूप पर्यायोंमे अवस्थित उत्पादव्ययध्रौव्यमय अस्तित्वसे बनी हुई है, इसलिये वस्तु परिणामस्वभाव वाली ही है ।

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कसम्भववतोः शुद्धशुभपरिणामयोरुपादानहानाय फलमालोचयति—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥११॥

धर्मपरिणतस्वभावी, है यदि शुद्धोपयोगयुत आत्मा ।
निर्वाणानन्द लहे, शुभोपयोगी लहे सुरसुख ॥ ११ ॥

धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसंप्रयोगयुतः । प्राप्नोति निर्वाणसुखं शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम् ॥११॥

यदायमात्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोगपरिणतिमुद्वहति तदा निःप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणसमर्थचारित्रः साक्षान्मोक्षमवाप्नोति । यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोग-

---

नामसंज्ञ- धम्म परिणदप्प अप्प जदि सुद्धसंपओगजुद णिव्वाणसुह सुहोवजुत्त व सग्गसुह । धातुसंज्ञ- [illegible] प्राप्तौ [illegible] । प्रातिपदिक—धर्म परिणतात्मन् आत्मन् यदि शुद्धसंप्रयोगयुत निर्वाणसुख शुभोपयुक्त स्वर्गसुख । मूलधातु—प्र आप्लृ व्याप्तौ स्वादि । निरुक्ति— धरति इति धर्मः, निःशेषेण

होकर भी शुभोपयोग परिणतिके साथ युक्त होता है तब विरोधी शक्तिसे सहितपना होनेसे स्वकार्य करनेमें असमर्थ और कथंचित् विरुद्ध कार्य करने वाले चारित्रसे युक्त जीव, जैसे अग्निसे गर्म किया हुआ घी किसी मनुष्यपर डाल दिया जावे तो वह उसकी जलनसे दुःखी होता है, उसी प्रकार वह स्वर्गसुखके बन्धको प्राप्त होता है, इस कारण शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें आत्मरमणरूप चारित्रप्राप्तिके प्रयोजनसे वस्तुका [illegible] परिणामस्वभावका वर्णन किया था । अब इस गाथामें चारित्रमार्गके सम्पर्कमें आये [illegible] शुभ परिणामके भी त्यागके लिये व शुद्ध परिणामके पानेके लिये शुद्धोपयोग व शुभोपयोगके फलकी आलोचना की है ।

परिणत्या सगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थ कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्र शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदु खमिव स्वर्गसुखब धमवाप्नोति । अत शुद्धोपयोग उपादेय शुभोपयोगो हेय ॥ ११ ॥

वान गमन निर्वाण । समास—परिणत्त्नासौ आत्मा चेति परिणतात्मा शुद्धश्चासौ सप्रयोग इति शुद्धसप्रयोग, तेन युत निर्वाणस्य सुख निर्वाणसुख शुभेन उपयुक्त शुभोपयुक्त, स्वर्गस्य सुख स्वर्गसुख। उभयपदविवरण—धम्मेण धर्मेण-तृतीया एक०। परिणदप्पा परिणतात्मा अप्पा आत्मा सुद्धसपओगजुदो शुद्धसप्रयोगयुत सुहोवजुत्ता शुभोपयुक्त–प्रथमा एक०। पावदि प्राप्नोति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया। णिव्वाणसुह निर्वाणसुख सग्गसुह स्वर्गसुख–द्वितीया एकवचन ॥ ११ ॥

सिद्धान्त—(१) शुद्धोपयोगका फल स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धिका लाभ है। (२) शुभोपयोगका फल काल्पनिक सुखका बन्धन है।

दृष्टि— १- शुद्धनिश्चयनय (४६)। २- अशुद्धनिश्चयनय (४७)।

प्रयोग—अविकारस्वभाव सहज चैतन्यस्वरूपकी प्रतीति रुचि अनुभूतिके मार्गमे प्रवर्तकर शुद्धोपयोगवृत्तिके लाभके लिये आत्मविश्राम करना ॥ ११ ॥

अब चारित्रपरिणामके साथ सम्पर्कका अभाव होनेसे अत्यन्त हेयभूत अशुभ परिणामका फल विचारते हैं—[अशुभोदयेन] अशुभ उदयसे [आत्मा] आत्मा [कुनर] कुमनुष्य [तिर्यग] तिर्यंच [नरयिक] और नारकी [भूत्वा] होकर [दु खसहस्रै] हजारो दु खोंसे [सदा अभिद्रुत] सदा पीडित हुआ [अत्यत भ्रमति] ससारमे अत्यन्त भ्रमण करता है।

तात्पर्य—अशुभ परिणामके फलमे पापके उदयसे जीव दुर्गतियोमे दु खी होता हुआ भ्रमण करता है।

टीकार्थ— जब यह आत्मा किंचित् मात्र भी धर्मपरिणतिको प्राप्त न करता हुआ अशुभोपयोग परिणतिका अवलम्बन करता है, तब यह कुमनुष्य, तिर्यंच और नारकीके रूपमें परिभ्रमण करता हुआ, तद्रूप हजारो दु खोके बन्धनका अनुभव करता है, इसलिये चारित्रके लेशमात्रका भी अभाव होनेसे यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय ही है।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे *चारित्रपरिणाम सम्पर्क वाले शुद्ध परिणामके* ग्रहणके लिये और चारित्रपरिणामसभव वाले शुभ परिणामके त्यागके लिये उन दोनों परिणामोंके फलकी आलोचना की थी। अब इस गाथामे अत्यन्त हेय अशुभोपयोगके फलकी आलोचना की गई है।

तथ्यप्रकाश—(१) जिनके रच भी धर्म परिणति नहीं और अशुभोपयोगका परिणमन है वे खोटे मनुष्य, तिर्यंच व नारकोंमे भ्रमण कर महान् दु ख भोगते हैं। (२) जहाँ

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कासंभवादत्यन्तहेयस्याशुभपरिणामस्य फलमालोचयति—

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो ।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं ॥१२॥

अशुभोदयसे आत्मा, कुनर व तिर्यंच नारकी होकर ।
पीडित भ्रमता अशुभो-पयोग अत्यन्त हेय अतः ॥१२॥

[illegible]नात्मा कुनरस्तिर्यग्भूत्वा नैरयिकः । दुःखसहस्रैः सदा अभिद्रुतो भ्रमत्यत्यन्तम् ॥ १२ ॥

यदायमात्मा मनागपि धर्मपरिणतिमनासादयन्नशुभोपयोगपरिणतिमालम्बते तदा कुमनुष्यतिर्यग्नारकभ्रमणरूपं दुःखसहस्रबन्धमनुभवति । ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यंतहेय एवायमशुभोपयोग इति ॥ १२ ॥

एवमयमपास्तसमस्तशुभाशुभोपयोगवृत्तिः शुद्धोपयोगाधिकारमारभते ।

नामसंज्ञ—असुहोदय, अत्त, कुणर, तिरिय णेरइय, दुक्खसहस्स, सदा, अभिंधुद, अच्चत । धातुसंज्ञ—भव सत्तायां प्रथमगणी, भम भ्रमणे प्रथमगणी । प्रातिपदिक—अशुभोदय, आत्मन्, कुनर, तिरश्च्, नैरयिक, दुःखसहस्र, सदा, अभिद्रुतः, अत्यन्त । मूलधातु—भू सत्तायां, भ्रमु चलने भ्वादि, भ्रमु अनवस्थाने दिवादि । उभयपदविवरण—असुहोदयेण अशुभोदयेन—तृ० एक० । आदा आत्मा कुणरो कुनरः तिरियो [illegible] । दुक्खसहस्सेहि दुःखसहस्रैः—तृ० बहु० । भवीय [illegible] णेरइयो नैरयिकः अभिंधुदो अभिद्रुत—प्रथमा एक० । भमदि भ्रमति भ्राम्यति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन । अच्चंत अत्यन्त—[illegible] क्रिया । [illegible] नरति नृणाति इति वा नरः, उत्कर्षेण अयनं उदयः । समास—अशुभस्य उदयः अशुभोदयः, [illegible] दुःखानां सहस्राणि दुःखसहस्राणि तैः ॥१२॥

[illegible] रंच भी अंश नहीं वहां अशुभोपयोग होता है । (३) अशुभोपयोगमे पंच इन्द्रियोंकी [illegible] सम्बंधित तीव्र सक्लेश होता है या विषयोके बाधकोपर द्वेष जगता है । (४) [illegible] अत्यन्त हेय है, इसका तो रंच भी संपर्क न होना चाहिये । (५) जहाँ चारित्र [illegible] वहां चारित्रके भावको व साधनोंसे अनुराग है वह शुभोपयोग है । (६) [illegible] अनुराग होना बंधन है सो यह शुभोपयोग हेय है । (७) निःप्रत्ययनीक शक्ति [illegible] स्थितिमे ज्ञानीके शुभोपयोग आता है उससे उपेक्षा कर ज्ञानी अविकार[illegible] आत्मरूप अनुभवनेकी धुन रखता है । (८) जहाँ समस्त शुभ [illegible] हो गई वहां ही शुद्धोपयोगकी वृत्तिपर अधिकार बनता है ।

[illegible]—(१) अशुभोपयोगका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणावोमे अशुभ प्रकृतियोंका [illegible] । (२) [illegible] प्रकृतियोंके उदयका निमित्त पाकर आहारवर्गणावोंमें [illegible] है । (३) घातिया प्रकृतियोंके उदयका व असातावेदनीयके उदयका [illegible] दुःखोंकी वेदना होती है ।

गुरुवर्य श्री सहजानन्द वर्णी

तत्र शुद्धोपयोगफलमात्मनः प्रोत्साहनायाभिष्टौति—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥१३॥

अतिशय आत्मसमुद्भव अतीतविषयी अनन्त व अनुपम।
अव्यय आनन्द मिले, प्रसिद्ध शुद्धोपयोगको ॥ १३ ॥

अतिशयमात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तम्। अव्युच्छिन्नं च सुखं शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥ १३ ॥

आसंसारापूर्वपरमाद्भुताह्लादरूपत्वादात्मानमेवाश्रित्य प्रवृत्तत्वात्पराश्रयनिरपेक्षत्वाद त्यन्तविलक्षणत्वात्समस्तायतिनिरपायित्वान्नैरन्तर्यप्रवर्तमानत्वाच्चातिशयवदात्मसमुत्थं विष

नामसंज्ञ—अइसय आदसमुत्थ विसयातीद अणोवम अणंत अव्वुच्छिण्ण च सुह सुद्धुवओगप्पसिद्ध। धातुसंज्ञ—अ वि उत् च्छिद छेदने तृतीयगणो, प सिज्झ निष्पत्तौ। प्रातिपदिक—अतिशय आत्मसमुत्थ विषयातीत अनौपम्य अनन्त अव्युच्छिन्न च सुख शुद्धोपयोगप्रसिद्ध। मूलधातु—अ वि उत् छिदिर् द्वैधीकरणे रुधादि, प्र षिध गत्यां भ्वादि षिधु संराद्धौ दिवादि। उभयपदविवरण—अइसयं अतिशयं आ समु

दृष्टि— १ २, ३– निमित्तदृष्टि (५३ अ)।

प्रयोग—अशुभोपयोगको दूर कर अविकारस्वभाव अोघ कारणसमयसारके अभिमुख होना ॥ १२ ॥

इस प्रकार पूज्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्य समस्त शुभाशुभोपयोग वृत्तिको जिनने एसे हाते हुए शुद्धोपयोगवृत्तिको आत्मरूप करते हुए शुद्धोपयोग अधिकार प्रारम्भ करते हैं। उसमें पहले शुद्धोपयोगके फलका आत्माके प्रोत्साहनके लिये अभिस्तवन करते हैं—[शुद्धोपयोगप्रसिद्धानां] शुद्धोपयोगमें निष्पन्न हुए आत्माओंका अर्थात् अरहंत और सिद्धोंका [सुखं] सुख [अतिशयं] अतिशय [आत्मसमुत्थं] आत्मोत्पन्न [विषयातीतं] विषयातीत [अनौपम्यं] अनुपम [अनन्तं] अनन्त व अविनाशी [अव्युच्छिन्नं च] और अटूट है।

तात्पर्य—शुद्धोपयोगके फलमें यह आत्मा आत्मीय अनन्त आनन्द प्राप्त करता है।

टीकार्थ—अनादि संसारसे अपूर्व परम अद्भुत आह्लादरूप होनेसे, आत्माका ही आश्रय लेकर प्रवर्तमान होनेसे, पराश्रयसे निरपेक्ष होनेसे, अत्यन्त विलक्षण होनेसे समस्त आगामी कालमें कभी भी नाशको प्राप्त न होनेसे, और निरन्तर प्रवर्तमान होनेसे शुद्धोपयोग निष्पन्न हुए आत्माओंके अतिशयवान, आत्मसमुत्पन्न, अतीन्द्रिय, अनुपम अनन्त व अटूट सुख अर्थात् आनन्द होता है, इस कारण वह सुख सर्वथा वाञ्छनीय है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें चारित्रपरिणामका सम्पर्क सम्भव होनेसे च्युत हुये अशुभपरिणामसे हटना बताया गया था अब अशुभोपयोगसे हटकर शुभोपयोगसे गुजरकर

अथ शुद्धोपयोगपरिणतात्मस्वरूप निरूपयति—

सुविदिदपयत्थसुत्तो सजमतवसजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥

यह अथ सूत्र ज्ञाता, सयम तप युक्त रागसे विरहित।
सुख दुखमे समहि श्रमण, होता शुद्धोपयोगी है ॥१४॥

सुविदितपदार्थसूत्र सयमतप सयुतो विगतराग । श्रमण समसुखदु खो भणित शुद्धोपयोग इति ॥ १४ ॥

सूत्रार्थज्ञानबलेन स्वपरद्रव्यविभागपरिज्ञानश्रद्धानविधानसमर्थत्वात्सुविदितपदार्थसूत्र,

---

नामसज्ञ—सुविदिदपयत्थसुत्त सजमतवसजुद विगदराग समण समसुहदुक्ख भणिद सुद्धवओग त्ति। धातुसज्ञ—सु विद ज्ञान प्रथमगणो भण कथन प्रथमगणो। प्रातिपदिक—सुविदितपदार्थसूत्र सयम तप सयुत विगतराग श्रमण समसुखदु ख भणित शुद्धोपयोग इति। मूलधातु—विद्लृ ज्ञान भण शब्दार्थ।

तात्पर्य—ज्ञानी, सयमी विराग सुख दु खमे समान श्रमणात्मा शुद्धोपयोग है।

टीकार्थ—सूत्राके अर्थके ज्ञानबलसे स्वद्रव्य और परद्रव्यके विभागके परिज्ञानमे श्रद्धान और आचरणमे समर्थपना होनेसे पदार्थोंको और उनके वाचक सूत्रोंको जिन्होने भलीभाति जान लिया है, समस्त छह जीवनिकायके हननके विकल्पसे और पचेन्द्रिय सम्बधी अभिलाषाके विकल्पसे आत्माको हटा करके आत्माके शुद्ध स्वरूपमे सयमन करनेसे और स्वरूपविश्रान्त निस्तरग चैतन्यप्रतपन होनेसे जो सयम और तपसे युक्त हैं, सकल मोहनीयके विपाकसे विवेककी भावनाकी स्वच्छतासे निर्विकार आत्मस्वरूपको प्रगट किया होनेसे जो वीतराग हैं और परमकलाके अवलोकनके कारण साता वेदनीय तथा असाता वेदनीयके विपाकसे उत्पन्न होने वाले सुख दु खजनित परिणामोकी विषमता अनुभव नही होनेसे जो समसुखदु ख हैं, ऐसे श्रमण "शुद्धोपयोग" ऐसा कहे जाते हैं।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि शुद्धोपयोग जिनके प्रसिद्ध हो गया है उन उत्तम आत्मावोको स्वाधीन अविनाशी आत्मोत्पन्न परम आनन्द प्राप्त होता है। अब इस गाथामे निरूपित किया है कि शुद्धोपयोगपरिणत आत्माका स्वरूप कैसा होता है।

तथ्यप्रकाश—(१) निरूपित सूत्रार्थके ज्ञानके बलसे आत्मा स्वद्रव्य व परद्रव्यका विभाग जाननेमे समर्थ होता है। (२) स्वद्रव्य व परद्रव्यका अलग अलग स्वतन्त्र स्वतन्त्र सद्भाव जानने वाला आत्मा स्वपरविभागका श्रद्धान करता है। (३) स्वद्रव्यका यथार्थ श्रद्धान होते ही आत्मा सम्यग्ज्ञानी होता है। (४) स्वद्रव्यका यथार्थ श्रद्धानी ज्ञानीका स्वभावके अनुरूप

सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात्पचेन्द्रियाभिलापविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मनः शुद्धस्वरूपे सयमनात् स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनाच्च सयमतपःसयुत:, सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृतनिर्विकारात्मस्वरूपत्वाद्विगतरागः, परमकलावलोकनाननुभूयमानसातासातवेदनीयविपाकनिर्वर्तितसुखदुःखजनितपरिणामवैषम्यत्वात्समसुखदु.खः श्रमणः शुद्धोपयोग इत्यभिधीयते ॥ १४ ॥

शब्दपदविवरण — सुविदिदपयत्थसुत्तो सुविदितपदार्थसूत्र सजमतवसजुदो सयमतप सयुत विगदरागो विगतराग समणो श्रमण समसुहदुक्खो समसुखदु ख सुद्धवओगो शुद्धोपयोग –प्र० एक० भणिदो भणित – प्र० एक० कृदन्त क्रिया। निरुक्ति—सूचयति इति सूत्र, रज्यते इति राग, श्राम्यति इति श्रमण । समास— सुष्ठु विदिता पदार्था सूत्राणि च येन स, सयमः तप चेति सयमतपसी ताभ्या सयुत, समे सुख दुखे यस्य स, शुद्धश्चासौ उपयोग शुद्धोपयोग ॥१४॥

अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरभाविशुद्धात्मस्वभावलाभमभिनन्दति--

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि परं णेयभूदाणं ॥१५॥

उपयोगशुद्ध आत्मा, विगतावरणान्तरायमोह स्वयं।
ज्ञेयभूत सकलार्थों के पूरे पारको पाता ॥ १५ ॥

उपयोगविशुद्धो यो विगतावरणान्तरायमोहरजाः। भूतः स्वयमेवात्मा याति पारं ज्ञेयभूतानाम् ॥ १५ ॥

यो हि नाम चैतन्यपरिणामलक्षणेनोपयोगेन यथाशक्ति विशुद्धो भूत्वा वर्तते स खलु प्रतिपदमुद्भिद्यमानविशिष्टविशुद्धिशक्तिरुद्ग्रन्थितासंसारबद्धदृढतरमोहग्रन्थितयात्यन्तनिर्विकारचैत

नामसंज्ञ—उवओगविसुद्ध ज विगदावरणंतरायमोहरअ भूद सय एव अप्प पर णेयभूय। धातुसंज्ञ—भव सत्तायां जा गतौ। प्रातिपदिक—उपयोगविशुद्ध यत्, विगतावरणान्तरायमोहरजस् भूत स्वयं एव आत्मन्, पार ज्ञेय भूत। मूलधातु—भू सत्तायां या प्रापणे। उभयपदविवरण—उवओगविसुद्धो उपयोगविशुद्धः जो यः विगदावरणंतरायमोहरओ विगतावरणान्तरायमोहरजाः—प्रथमा ए०। भूदो भूतः—प्र० ए०

रहित [स्वयमेव भूतः] स्वयमेव होता हुआ [ज्ञेयभूतानां] ज्ञेयभूत पदार्थोंके [पारं याति] पार को प्राप्त होता है।

तात्पर्य—शुद्धोपयोगके फलमें आत्मा निर्मल और सर्वज्ञ हो जाता है।

टीकार्थ—जो चैतन्य परिणामस्वरूप उपयोगके द्वारा यथाशक्ति विशुद्ध होकर वर्तता है, वह आत्मा पद पदपर अर्थात् प्रत्येक पर्यायमें जिसके विशिष्ट विशुद्धि शक्ति प्रगट होती जाती है ऐसा होता हुआ अनादि संसारसे बंधी हुई दृढतर मोहग्रन्थि छूट जानेसे अत्यन्त निर्विकार चैतन्य वाला और समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तरायके नष्ट हो जानेसे निर्विघ्न विकसित आत्मशक्तिवान स्वयमेव होता हुआ ज्ञेयताको प्राप्त पदार्थोंके अन्तको पा लेता है। यहाँ यह लक्ष्यभूत आत्मा ज्ञानस्वभाव है, और ज्ञान ज्ञेय प्रमाण है इसलिये समस्त ज्ञेयोंके भीतर रहने वाला ज्ञान जिसका स्वभाव है उस आत्माको आत्मा शुद्धोपयोगके प्रसादसे ही प्राप्त करता है।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुद्धोपयोगके स्वरूपके विषयमें कहा गया था। अब इस गाथामें शुद्धोपयोगके लाभ और अनन्तर होने वाले शुद्ध आत्मस्वभावका अभिनन्दन किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) इस गाथाकी उत्थानिकामें 'अभिनन्दति' क्रियासे यह ध्वनित हुआ है कि आचार्यदेव विशुद्धात्मस्वभावके प्रति ही पूर्ण अनुराग होनेसे उसकी इस उल्लासमें कहते हैं कि उसका अभिनन्दन हो रहा है अपनेमें सब प्रकारसे आह्लादित हो रहे हैं। (२)

न्यो निरस्तसमस्तज्ञानदर्शनावरणान्तरायतया निःप्रतिघविजृम्भितात्मशक्तिश्च स्वयमेव भूतो ज्ञेयत्वमापन्नानामन्तमवाप्नोति । इह किलात्मा ज्ञानस्वभावो ज्ञानं तु ज्ञेयमात्रं ततः समस्तज्ञेयान्तर्वर्तिज्ञानस्वभावमात्मानमात्मा शुद्धोपयोगप्रसादादेवासादयति ॥ १५ ॥

कृदन्त क्रिया । सयमेव स्वयमेव–अव्यय । आदा आत्मा–प्र० एक० । जादि याति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । पारं पारम्–द्वितीया एक० । णेयभूदाण ज्ञेयभूताना–षष्ठी बहु० । निरुक्ति—विशेषेण शुध्यति इति विशुद्ध ज्ञातुं योग्य ज्ञेय । समास– उपयोगेन विशुद्ध उपयोगविशुद्ध विगत आवरण अन्तराय मोहरज यस्येति विगतावरणान्तरायमोहरजा ॥ १५ ॥

जिसको शुद्धोपयोगके स्वरूपकी खबर है और शुद्धोपयोगके फलकी रुचि है वही भव्य पुरुष शुद्धोपयोगके लाभके अनन्तर प्रगट हुए निर्मल आत्मस्वभावका अभिनन्दन कर सकता है । (३) निर्मोह शुद्धात्मतत्त्वका परिणमन शुद्धोपयोग है । (४) मोहका निःशेषतया विनाश पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक प्रथम शुक्लध्यान रूप शुद्धोपयोगसे हो जाता है । (५) शेष घातिया कर्मोंका निःशेषतया विनाश एकत्ववितर्क अवीचार नामक शुक्लध्यान रूप शुद्धोपयोगसे हो जाता है । (६) शुद्धोपयोगसे निःशेष घातिया कर्मोंका क्षय होनेपर केवलज्ञान होता है । (७) शुद्धोपयोगसे अनाकुलता प्रगट हो जाती है । (८) शुद्धोपयोगसे ही शुद्धात्मस्वभावका लाभ होता है, अतः शुद्धात्मस्वभावका लाभ शुद्धोपयोगका फल है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धोपयोगसे निःशेषतया घातिया कर्मोंका क्षय होता है । (२) शुद्धोपयोगसे शुद्धात्मस्वभावका लाभ होता है ।

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य कारकान्तरनिरपेक्षतयाऽत्यन्तमात्मायत्तत्वं द्योतयति—

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो ।
भूदो सयमेवादा हवदि सयंभु त्ति णिद्दिट्ठो ॥१६॥

शुद्ध चिद्भावदर्शी सर्वज्ञ समस्त लोकपतिपूजित ।
हुआ स्वयं यह आत्मा, अत स्वयम्भू कहा इसको ॥१६॥

तथा स लब्धस्वभावः सर्वज्ञः सर्वलोकपतिमहितः । भूतः स्वयमेवात्मा भवति स्वयम्भूरिति निर्दिष्टः ॥१६॥

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगभावनानुभावप्रत्यस्तमितसमस्तघातिकर्मतया समुपलब्धशुद्धानन्तशक्तिचित्स्वभावः, शुद्धानन्तशक्तिनायकस्वभावेन स्वतन्त्रत्वाद्गृहीतकर्तृत्वाधिकारः शुद्धा

नामसंज्ञ—तह त लद्धसहाव सव्वण्हु सव्वलोगपदिमहिदो भूद सय अत्त सयंभु त्ति णिद्दिट्ठ । धातुसंज्ञ—भव सत्तायां मह पूजायां । प्रातिपदिक—तथा तत् लब्धस्वभाव सर्वज्ञ सर्वलोकपतिमहित भूत स्वयं

को जिसने ऐसा । (२) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही प्राप्यपना होनेसे याने स्वयं ही प्राप्त होनेसे कर्मत्वका अनुभव करता हुआ । (३) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावसे स्वयं ही साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधन होनेसे करणपनाको धारण करता हुआ । (४) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होनेसे अर्थात् निजपरिणमन स्वयंको ही देनेमें आता होनेसे सम्प्रदानपनेको धारण करता हुआ । (५) शुद्ध अनन्तशक्तिमय ज्ञानरूपमें परिणमित होनेके समय पूर्वमें प्रवर्तमान विकलज्ञानस्वभावका नाश होनेपर भी सहज ज्ञानस्वभावसे स्वयं ही ध्रुवताका अवलम्बन करनेसे अपादानपनेको धारण करता हुआ और (६) शुद्ध अनन्तशक्तियुक्त ज्ञानरूपसे परिणमित होनेके स्वभावका स्वयं ही आधार होनेसे अधिकरणपनेको आत्मसात् करता हुआ स्वयमेव छहों कारकरूप होनेसे अथवा उत्पत्ति अपेक्षासे द्रव्य भावभेदसे भिन्न घातिकर्मोंको दूर करके स्वयमेव आविर्भूत होनेसे 'स्वयंभू' कहलाता है । अतः निश्चयसे परके साथ आत्माका कारकताका सम्बन्ध नहीं है जिससे कि शुद्धात्मस्वभावलाभके लिये सामग्री खोजनेकी व्यग्रतासे परतन्त्र होना पड़े, फिर क्या शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्तिके लिये बाह्य साधन ढूंढनेकी व्यग्रतासे जीव व्यर्थ ही परतन्त्र हुए जा रहे हैं ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुद्धोपयोगके लाभके अनन्तर इस शुद्धात्मस्वभावलाभका अभिनन्दन किया गया था । अब इस गाथामें उसी शुद्धोपयोगजन्य शुद्धात्मस्वभावलाभकी पूर्ण निरपेक्षता व आत्माधीनताका वर्णन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) शुद्धात्मस्वभावलाभ अर्थात् परमात्मत्वविकासका ध्येय यहाँ कर

न्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन प्राप्यत्वात् कर्मत्व कलयन्, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन साधकतमत्वात् करणत्वमनुबिभ्राण, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावेन कर्मणा समाश्रियमाणत्वात् सप्रदानत्व दधान, शुद्धानतशक्तिज्ञानविपरिणमनसमये पूर्वप्रवृत्तविकलज्ञानस्वभावापगमेऽपि सहजज्ञानस्वभावेन ध्रुवत्वालम्बनादपादानत्वमुपाददानः, शुद्धानन्तशक्तिज्ञानविपरिणमनस्वभावस्याधारभूतत्वादधिकरणत्वमात्मसात्कुर्वाणः, स्वयमेव षट्कारकीरूपेणोपजायमान, उत्पत्तिव्यपेक्षया द्रव्यभावभेदभिन्नघातिकर्माण्यपास्य स्वयमेवाविर्भूतत्वाद्वा स्वयभूरिति निर्दिश्यते। अतो न निश्चयत परेण सहात्मन. कारकत्वसम्बन्धोऽस्ति, यत. शुद्धात्मस्वभावलाभाय सामग्रीमार्गणव्यग्रतया परतन्त्रैर्भूयते ॥ १६ ॥

अथ स्वायम्भुवस्यास्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्यात्यन्तमनपायित्वं कथंचिदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वं चालोचयति--

भंगविहीणो य भवो संभवपरिवज्जिदो विणासो हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो ॥१७॥

भंगरहित है संभव संभववर्जित विनाश होकर भी।
शुद्धके ध्रौव्य संभव, व्ययका समवाय रहता है ॥१७॥

भङ्गविहीनश्च भवः सम्भवपरिवर्जितो विनाशो हि। विद्यते तस्यैव पुनः स्थितिसम्भवनाशसमवायः ॥१७॥

अस्य खल्वात्मनः शुद्धोपयोगप्रसादात् शुद्धात्मस्वभावेन यो भवः स पुनस्तेन रूपेण प्रलयाभावाद्भङ्गविहीनः। यस्त्वशुद्धात्मस्वभावेन विनाशः स पुनरुत्पादाभावात्सम्भवपरिवर्जितः।

नामसंज्ञ—भंगविहीण य भव संभवपरिवज्जिद विणास हि त एव पुणो ठिदिसंभवणाससमवाय। धातुसंज्ञ—वज्ज वर्जने विज्ज सत्तायां। प्रातिपदिक—भङ्गविहीन च भव संभवपरिवर्जित विनाश हि तत् एव पुनर् स्थितिसंभवनाशसमवाय। मूलधातु—विद सत्तायां दिवादि वृजी वर्जने। उभयपदविवरण—भंगविहीणो भंगविहीनः भवो भवः संभवपरिवज्जिदो सम्भवपरिवर्जितः विणासो विनाशः ठिदिसंभवणाससमवाओ स्थितिसम्भवनाशसमवायः-प्रथमा एक०। य च हि एव पुणो पुनः-अव्यय। तस्स तस्य-षष्ठी

ढूंढने वाला परतन्त्र है। १२- परतन्त्र जीव शुद्धोपयोगको प्राप्त नहीं कर सकते, फिर शुद्धोपयोगका फल परतन्त्रको मिलना कैसे संभव हो सकता है?

सिद्धान्त—१- परमात्मत्वविकास सहज चैतन्यस्वभावकी अभेदोपासनासे प्रकट होता है।

दृष्टि—१- शुद्धनिश्चयनय, शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय, ज्ञाननय [४६, २४ब, १९४]।

प्रयोग-सहजपरमात्मतत्त्वके सहजानन्दमय स्वभावरूप विकासके लिये चित्मात्र सहज परमात्मतत्त्वकी ज्ञप्ति, दृष्टि, प्रतीति, रुचि व आराधना करना ॥१६॥

अब इस स्वयंभूके शुद्धात्मस्वभावकी प्राप्तिके अत्यन्त अविनाशीपना और कथंचित् अर्थात् कोई प्रकारसे उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तताका विचार करते हैं—[भंगविहीन च भव] शुद्धात्मस्वभावको प्राप्त आत्माके विनाशरहित उत्पाद है, और [संभवपरिवर्जित विनाश हि] उत्पादरहित विनाश है [तस्य एव पुन] उसके ही फिर [स्थितिसंभवनाशसमवाय विद्यते] ध्रौव्य, उत्पाद और विनाशका समवाय अर्थात् एकत्रित समूह विद्यमान है।

तात्पर्य—शुद्धात्माके शुद्धत्व नष्ट नहीं होता, अशुद्धत्व आ नहीं सकता, आत्मत्व सदैव है।

अतोऽस्य सिद्धत्वेनानपायित्वम् । एवमपि स्थितिसंभवनाशसमवायोऽस्य न विप्रतिपिध्यते, भङ्ग-रहितोत्पादेन संभववर्जितविनाशेन तद्द्वयाधारभूतद्रव्येण च समवेतत्वात् ॥१७॥

एक० । विज्जदि विद्यते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । निरुक्ति––भजन भङ्ग , भवन भव , विनशन विनाश । समास––भंगेन विहीन भंगविहीन , सम्भवेन परिवर्जित सम्भवपरिवर्जित , स्थिति सम्भव नाश इति स्थितिसम्भवनाशा तेषां समवाय स्थितिसम्भवनाशसमवाय ॥ १७ ॥

टीकार्थ—वास्तवमें इस शुद्धात्मस्वभावको प्राप्त आत्माके शुद्धोपयोगके प्रसादसे शुद्धात्मस्वभावरूपसे जो उत्पाद है, वह पुन. उस रूपसे प्रलयका अभाव होनेसे विनाशरहित है; और जो उत्पाद है, वह पुनः उस रूपसे प्रलयका अभाव होनेसे विनाशरहित है और जो अशुद्धात्मस्वभावरूपसे विनाश है वह पुन उत्पत्तिका अभाव होनेसे उत्पादरहित है । इस कारण उस आत्माके सिद्धरूपसे अविनाशीपन है । ऐसा होनेपर भी उस आत्माके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका समवाय अर्थात् एकत्र होना विरोधको प्राप्त नही होता, क्योंकि वह विनाशरहित उत्पादके साथ, उत्पादरहित विनाशके साथ और उन दोनोके आधारभूत द्रव्यके साथ समवेत है अर्थात् तन्मयतासे युक्त एकमेक है ।

प्रसंगविवरण––अनन्तर पूर्व गाथामे शुद्धात्मस्वभावके लाभको स्वायभुव सिद्ध किया था । अब इस गाथामें 'स्वायभुव शुद्धात्मलाभका कभी भी विनाश न होगा" इस समर्थनके साथ साथ उसीकी अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकताका भी विचार किया गया है ।

अथोत्पादादित्रयं सर्वद्रव्यसाधारणत्वेन शुद्धात्मनोऽप्यवश्यंभावीति विभावयति—

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स ।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो ॥१८॥

संभव व्यय दोनो भी, रहते हैं सकल अर्थ सार्थोमे ।
पर्यायविवक्षासे, वे ही सद्भूत निश्चयसे ॥ १८ ॥

उत्पादश्च विनाशो विद्यते सर्वस्यार्थजातस्य । पर्यायेण तु केनाप्यर्थः खलु भवति सद्भूतः ॥ १८ ॥

यथाहि जात्यजाम्बूनदस्याङ्गदपर्यायेणोत्पत्तिर्दृष्टा । पूर्वव्यवस्थिताङ्गुलीयकादिपर्यायेण च विनाशः । पीततादिपर्यायेण तूभयत्राप्युत्पत्तिविनाशावनासादयतः ध्रुवत्वम् । एवमखिल

नामसंज्ञ—उप्पाद य विणास सव्व अट्ठजाद पज्जाय दु क वि अट्ठ खलु सब्भूद । धातुसंज्ञ – विज्ज सत्तायां । प्रातिपदिक—उत्पाद च विनाश सर्व अर्थजात पर्याय किम् अपि अर्थ खलु सद्भूत । मूलधातु—विद सत्तायां, भू सत्तायां । उभयपदविवरण—उप्पादो उत्पादः विणासो विनाशः—प्रथमा एकवचन । विज्जदि विद्यते होदि भवति—वर्तमान अन्य पुरुष एक० क्रिया । सव्वस्स सर्वस्य अट्ठजादस्स अर्थजातस्य—

अब उत्पाद आदि तीनों (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) सब द्रव्यके साधारण है इस लिये शुद्ध आत्मा केवली भगवान और सिद्ध भगवानके भी अवश्यम्भावी है, यह विशेष रूपसे बतलाते हैं, व्यक्त करते है—[सर्वस्य] सब [अर्थजातस्य] सर्वपदार्थका [उत्पाद] किसी पर्याय से उत्पाद [विनाश च] और किसी पर्यायसे विनाश [विद्यते] होता है, [केन अपि पर्यायेण तु] और किसी पर्यायसे [अर्थ] पदार्थ [खलु सद्भूत भवति] वास्तवमे ध्रुव है ।

तात्पर्य—प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है ।

टीकार्थ—जैसे कि उत्तम स्वर्णकी बाजूबन्दरूप पर्यायसे उत्पत्ति दिखाई देती है, पूर्व अवस्थारूपसे वर्तने वाली अगूठी इत्यादिक पर्यायसे विनाश देखा जाता है, और पीलापन इत्यादि पर्यायसे दोनोंमे याने बाजूबन्द और अगूठीमे उत्पत्ति विनाशको प्राप्त न होनेसे ध्रौव्यत्व दिखाई देता है । इस प्रकार सब द्रव्योंमें किसी पर्यायसे उत्पाद, किसी पर्यायसे विनाश और किसी पर्यायसे ध्रौव्य होता है, ऐसा जानना चाहिये । इस कारण शुद्ध आत्माके भी द्रव्यका लक्षणभूत उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप अस्तित्व अवश्यम्भावी है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे शुद्धात्मस्वभावलाभको अविनाशिता व कथंचित् उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तता बताई गई थी । अब इस गाथामे 'उत्पादादित्रय सर्वद्रव्योंमे पाया जाता है सो शुद्धात्माके भी अवश्य होते हैं" यह वर्णन किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१– सभी द्रव्योंमे अपेक्षावश उत्पाद व्यय ध्रौव्य एक साथ रहते हैं । २– जैसे—पुद्गलपिण्डका स्वर्णरूपसे उत्पाद, स्वर्णमिट्टी रूपसे नाश व पुद्गलपिण्डरूपसे

स्वयमेव स्वपरप्रकाशकत्वलक्षणं ज्ञानमनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं च भूत्वा परिणमते। एवमा-त्मनो ज्ञानानन्दौ स्वभाव एव। स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वादिन्द्रियैर्विनाप्यात्मनो ज्ञानानन्दौ सम्भवतः ॥१९॥

[illegible]—प्र० ए०। परिणमदि परिणमति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। निरुक्ति—क्रियते कर्म। समास—प्रक्षीणानि घातिकर्माणि यस्य स प्रक्षीणघातिकर्मा, अनन्त वरवीर्य यस्य स अनतवर-वीर्यः, अधिक तेज यस्य स अधिकतेजा, इन्द्रिय अतिक्रान्त. अतीन्द्रिय ॥ १९ ॥

स्वभाव निज सहज ज्ञानदर्शनात्मक आत्मस्वरूपका अनुभव कर लेता है। (७) अविकार [illegible]स्वभावका अनुभव कर लेने वाले ज्ञानी आत्माकी धुन स्वरूपरमणकी हो जाती है। (८) स्वरूपरमणकी धुन वाला ज्ञानी एतदर्थ सर्व परिग्रहका व आत्मस्वभावका प्रसग छोड देता है। (९) निर्ग्रन्थ दिगम्बर श्रमणके निर्विकल्पसमाधि अर्थात् शुद्धोपयोगके प्रतापसे कर्म-प्रकृतियोंका क्षय हो जाता है। (१०) समस्त घातिया कर्मोका क्षय हो चुकते ही आत्मा केवलज्ञानी हो जाता है। (११) केवलज्ञान केवल आत्माके द्वारा ही जानता है, इन्द्रियो द्वारा नही। (१२) आत्माको ज्ञानरूप व आनन्दरूप परिणमनेमे इन्द्रियादिक पर निमित्तोकी अपेक्षा नहीं होती है। (१३) ज्ञानका स्वरूप स्वपरप्रकाशकता है और आनन्दका स्वरूप निराकुलता है। (१४) स्वाभाविक ज्ञान और आनन्द परिपूर्ण और अनन्त होता है, क्योकि स्वभावको परकी अपेक्षा नही होती। (१५) केवलज्ञानी परमात्मा परिपूर्ण ज्ञानरूप व परिपूर्ण आनद-रूप [illegible] ही परिणमते रहते है। (१६) स्वयभु परमात्मामे इन्द्रियोके विना ही असीम ज्ञान और असीम आनन्द होता रहता है। (१७) स्वभावपरिणमनमे परकी अपेक्षा रंचमात्र भी नहीं होती।

अथातीन्द्रियत्वादेव शुद्धात्मनः शारीरं सुखं दुःखं नास्तीति विभावयति—

मोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं ।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ॥ २० ॥

केवलज्ञानी प्रभुके हुआ अतीन्द्रियपना है इस कारण ।
शारीरिक सुख अथवा, दुःख भी नहिं केवली प्रभुके ॥२०॥

सौख्यं वा पुनर्दुःखं केवलज्ञानिनो नास्ति देहगतम् । यस्मादतीन्द्रियत्वं जातं तस्मात्तु तज्ज्ञेयम् ॥ २० ॥

यत एव शुद्धात्मनो जातवेदस इव कालायसगोलोत्कूलितपुद्गलाशेषविलासकल्पो नास्तीन्द्रियग्रामस्तत एव घोरघनघाताभिघातपरम्परास्थानीयं शरीरगतं सुखदुःखं न स्यात् ॥२०॥

नामसंज्ञ—मोक्ख वा पुण दुक्ख केवलणाणि ण देहगद ज अदिन्दियत्त जाद त दु त णेय । धातुसंज्ञ—अस सत्तायां जा प्रादुर्भावे । प्रातिपदिक—सौख्य वा पुनर् दुःख केवलज्ञानिन् न देहगत यत् अतीन्द्रियत्व जात तत् तु ज्ञेय । मूलधातु—अस भुवि, जनि प्रादुर्भावे । उभयपदविवरण—सोक्खं सौख्य दुक्खं दुःखं देहगदं देहगत–प्रथमा एकवचन । केवलणाणिस्स केवलज्ञानिन –षष्ठी एक० । जम्हा यस्मात् तम्हा तस्मात्–पंचमी एक० । वा ण न दु तु–अव्यय । अत्थि अस्ति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । तं तत्–प्रथमा एक० । णेयं ज्ञेय–प्र० ए० कृदन्त क्रिया । निरुक्ति—दिह्यते इति देहः । समास—देहं गतं देहगतं ॥२०॥

तात्पर्य—अतीन्द्रियपना होनेसे प्रभुके सुख और दुःख नहीं है, किन्तु अतीन्द्रिय ही अनन्त ज्ञान व आनन्द है ।

टीकार्थ—जैसे अग्निको लोहके गोलेके तप्त पुद्गलोंका समस्त विलास नहीं है उसी प्रकार शुद्ध आत्माके अर्थात् केवलज्ञानी भगवानके इन्द्रियसमूह नहीं है, इस कारण जैसे अग्निको घनके घोर आघातोंकी परम्परा नहीं है, इसी प्रकार शुद्ध आत्माके शरीर सम्बन्धी सुख दुःख नहीं है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि परमात्मा इन्द्रियोंके बिना ही अनन्तशक्ति अनन्त परिपूर्ण ज्ञानानन्दको अनुभवता है । अब इस गाथामें बताया गया है कि अतीन्द्रिय होनेसे परमात्माके शारीरिक सुख दुःख नहीं हैं ।

तथ्यप्रकाश—(१) परमात्माका ज्ञान और आनन्द स्वाभाविक है, अतीन्द्रिय है, परिपूर्ण है । (२) जैसे लोहके सम्बन्धका अभाव होनेसे अग्निका घनघातसे पिटना नहीं होता ऐसे ही इन्द्रियग्राम न होनेसे भगवानके शारीरिक सुख दुःखरूप आपदा नहीं रहती । (३) सिद्ध भगवानके तो शरीर नहीं है वहाँ तो शारीरिक सुख दुःखका व इन्द्रियज ज्ञान आनन्दका संदेह भी किसीको नहीं हो सकता । (४) अरहंत भगवानके शरीरका सम्बन्ध तो है, किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान दर्शन न होनेसे प्रभु अतीन्द्रिय हैं, ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंका

परि प्रविशत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते, ततोऽस्याक्रममसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया समक्षसंवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति ॥ २१ ॥

या सर्वद्रव्यपर्यायाः–प्रथमा बहु० । सः न–प्र० एक० । ते तान्–द्वितीया बहु० । विजाणादि विजानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं अवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभिः–तृतीया बहु० । निरुक्ति—जानाति इति वा जानाति अनेन इति ज्ञानं क्रियते या सा क्रिया । समास–द्रव्याणि च पर्यायाः द्रव्यपर्यायाः सर्वे च ते सर्वद्रव्यपर्यायाः अवग्रहः पूर्वः यासां ताः अवग्रहपूर्वाः ॥ २१ ॥

क्रियाओंसे [नव विजानाति] नहीं जानता ।

तात्पर्य—केवलीके ज्ञानमें सब सत् प्रत्यक्ष ज्ञेय हैं, वहाँ परोक्षविधि वाला ज्ञान होता ही नहीं है ।

टीकार्थ—केवली भगवान इन्द्रियोंका आलम्बन कर अवग्रह ईहा अवाय पूर्वक क्रमसे नहीं जानता, किन्तु स्वयमेव समस्त आवरणके क्षयके क्षणमें ही अनादि अनन्त अहेतुक और असाधारण ज्ञानस्वभावको ही कारणरूपसे उपादान करके उसके ऊपर प्रवेश करने वाले केवल ज्ञानोपयोगरूप होकर परिणमते हैं, इस कारण उनके समस्त द्रव्य क्षेत्र, काल और भावका अक्रम ग्रहण होनेसे प्रत्यक्ष ज्ञानके आलम्बनभूत समस्त द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि अतीन्द्रियपना होनेसे शुद्धात्मा के शारीरिक सुख दुःख नहीं है । अब इस गाथामें बताया गया है कि अतीन्द्रिय ज्ञानपरिणत होनेसे शुद्धात्माके ज्ञानमें सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतिभासित होते हैं ।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रभुके ज्ञानमें सर्व ज्ञात होनेका कारण इन्द्रियोंका आलम्बन न लेकर स्वयं सहज जानना है । (२) प्रभुका ज्ञान केवल अनादि अनन्त अहेतुक निज सहज ज्ञानस्वभावरूप आत्मा उपादान कारणका व्यक्तरूप है । (३) सहजज्ञानस्वभावपर केवल ज्ञानोपयोगका प्रवेश होकर शुद्धात्माके अनंतकाल तक निरन्तर केवलज्ञान नामक स्वभावगुण व्यञ्जन पर्याय होता ही रहता है । (४) शुद्धात्माके परिपूर्ण स्वच्छ केवलज्ञानमें समस्त पदार्थ प्रमेयत्वगुणमय होनेसे एक ही साथ प्रतिबिम्बित (प्रतिभासित) होते हैं । (५) शुद्धात्माके निरुपाधि केवलज्ञानमें अपनी सहज कलाके कारण आत्मप्रदेशोंमें सर्वज्ञेयाकारविस्तित होनेसे सर्वद्रव्यपर्याय प्रत्यक्ष ही ज्ञात होते हैं । (६) केवलज्ञान होनेका बीज अविकार स्वसंवेदन ज्ञान अर्थात् शुद्धोपयोग है । (७) पदार्थोंकी एक साथ जानकारी न होकर क्रमसे कुछ जानकारी होनेका कारण ज्ञानकी क्षायोपशमिकता थी वह कमजोरी भगवानके नहीं रही । (८) ज्ञानावरण कर्मके निःशेष क्षय हो जानेके निमित्तसे उत्पन्न हुए केवलज्ञानकी रश्मि केरो कटोक सर्वपनामें विलास करती है ।

अथास्य भगवतोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वादेव न किंचित्परोक्षं भवतीत्यभिप्रैति—

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥ २२ ॥

कुछ भी परोक्ष नहिं है, समन्त सर्वाक्ष गुणसमृद्धोके ।
ज्ञायक अतीन्द्रियोंके, स्वय सहज ज्ञानशीलोंके ।।२२।।

नास्ति परोक्षं किंचिदपि समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य । अक्षातीतस्य सदा स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य ।।२२।।

अस्य खलु भगवतः समस्तावरणक्षयक्षण एव सांसारिकपरिच्छित्तिनिष्पत्तिबलाधान-हेतुभूतानि प्रतिनियतविषयग्राहीण्यक्षाणि तैरतीतस्य, स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छेदरूपैः सम-

नामसंज्ञ—ण परोक्ख किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्ध अक्खातीत सदा सय एव हि णाण जाद । धातुसंज्ञ—अस सत्तायां । प्रातिपदिक—न परोक्ष किंचित् अपि समन्तत सर्वाक्षगुणसमृद्ध अक्षातीत सदा स्वयं एव हि ज्ञानजात । मूलधातु—अस भुवि अक्ष् व्याप्तौ ऋद्ध वृद्धौ । उभयपदविवरण—ण न किंचि

सिद्धान्त—(१) केवलज्ञान सहजज्ञानस्वरूप उपादानकारण से ही प्रकट होता है । (२) भगवान सर्व पदार्थोंको जानता है । (३) केवलज्ञान समस्त ज्ञानावरणके क्षयसे प्रकट होता है ।

दृष्टि—१- शुद्धनिश्चयनय [४६] । २- स्वाभाविक उपचरित स्वभावव्यवहार [१०५] । ३- निमित्तदृष्टि, उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [५३अ, २४अ] ।

प्रयोग—अपने आपको सहज विकसित रखनेके लिये सहज ज्ञानस्वभावमे आत्मत्वका अनुभव करना ।।२२।।

रसतया समन्तत सर्वैरेवेन्द्रियगुणैः समृद्धस्य, स्वयमेव सामस्त्येन स्वपरप्रकाशनक्षमानश्वर-लोकोत्तरज्ञानजातस्य, अक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया न किंचनापि परोक्षमेव स्यात् ॥ २२ ॥

किंचित् किं अपि समत समन्तत सदा सय स्वय एव हि–अव्यय । अत्थि अस्ति–वर्तमान लट अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । परोक्खं परोक्ष–प्रथमा एक० । सव्वक्खगुणसमिद्धस्स सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य अक्खातीदस्स अक्षातीतस्य णाणजादस्स ज्ञानजातस्य–षष्ठी एक० । निरुक्ति—अश्नोति व्याप्नोति जानाति इति अक्ष , आधत् इति ऋद्ध । समास—सर्वे अक्षा सर्वाक्षास्तेषा गुणा सर्वाक्षगुणा तै समद्ध तस्य, अक्ष अतिक्रान्त अक्षातीत तस्य ॥ २२ ॥

परोक्ष ही नही है ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि केवली भगवानके अतीन्द्रिय ज्ञान होनेसे सब पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं । अब इस गाथामे बताया गया है कि केवली भगवानके अतीन्द्रियज्ञान होनेसे ही कुछ भी परोक्ष नही है ।

तथ्यप्रकाश—(१) क्रमसे कुछ कुछ पदार्थोंका कुछ कुछ जानना अर्थात् परोक्ष ज्ञान इन्द्रियोके आश्रयके कारण होता है किन्तु इन्द्रियोसे अतीत भगवानके अतीन्द्रिय ज्ञानमे कुछ भी परोक्ष नही होता । (२) ज्ञानका कार्य जानना है, जाननेकी स्वय कोई सीमा नही होती, ज्ञप्ति सीमाके निमित्त और सबधकोका केवली प्रभुके अभाव है, अत केवलीके ज्ञानमे सब स्पष्ट प्रत्यक्ष है । (३) प्रभुका ज्ञान त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको स्पष्ट जाननेसे तथा अविनश्वर होनेसे लोकोत्तर है ।

सिद्धान्त—(१) ज्ञानावरणादि उपाधिरहित केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है ।

दृष्टि—१- उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२४अ] ।

प्रयोग—सहजज्ञानस्वभावके अनुरूप विकास पानेके लिय सहज ज्ञानस्वभावकी अभेद आराधना करना ॥ २२ ॥

अब आत्माके ज्ञानप्रमाणपनेको और ज्ञानके सर्वगतपनेको उद्योतते हैं— [आत्मा] आत्मा [ज्ञानप्रमाण] ज्ञान प्रमाण है [ज्ञान] ज्ञान [ज्ञेयप्रमाण] ज्ञेय प्रमाण [उद्दिष्ट] कहा गया है [ज्ञेय लोकालोक] ज्ञेय लोकालोक है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञान तु] ज्ञान [सर्वगत] सर्वगत याने सब व्यापक है ।

तात्पर्य—ज्ञान अथवा आत्मा ज्ञानरूपसे समस्त लोकालोकमे व्यापक है ।

टीकार्थ—'समगुणपर्याय द्रव्य' इस वचनके अनुसार आत्मा ज्ञानसे हीनाधिकतारहित रूपसे परिणमित है, इसलिये ज्ञानप्रमाण है, और ज्ञान ज्ञेयनिष्ठ होनेसे, दाह्यनिष्ठ दहनकी

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वानभ्युपगमे द्वौ पक्षावुपन्यस्य दूषयति—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा ।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि ।
अहियो वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥२५॥ (जुगलं)

ज्ञानप्रमाण हि आत्मा, जो नहिं माने उसके यह आत्मा ।
अधिक ज्ञानसे होगा या होगा हीन क्या मानो ॥ २४ ॥
यदि हीन कहोगे तो ज्ञान अचेतन हुआ न कुछ जाने ।
यदि अधिक कहोगे तो, ज्ञान बिना जानना कैसे ॥२४॥

ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्येह तस्य स आत्मा । हीनो वा अधिको वा ज्ञानाद्भवति ध्रुवमेव ॥ २४ ॥
हीनो यदि स आत्मा तत् ज्ञानमचेतनं न जानाति । अधिको वा ज्ञानात् ज्ञानेन विना कथं जानाति ॥२५॥

यदि खल्वयमात्मा हीनो ज्ञानादित्यभ्युपगम्यते तदात्मनोऽतिरिच्यमानं ज्ञानं स्वाश्रय

नामसंज्ञ—णाणप्पमाण अत्त ण ज इह त त अत्त हीण वा अहिअ वा णाण धुव एव हीण जदि त अत्त त णाण अचेदण ण अहिअ वा णाण विणा कहं । धातुसंज्ञ—हव सत्तायां जाण अवबोधने णा अ...

समस्त लोकालोक है अर्थात् ज्ञेय समस्त सत् है छहों प्रकारके सब द्रव्य हैं । (५) ज्ञानका स्वभाव जो भी सत् हो सबको जाननेका है । (६) जहाँ समस्त ज्ञानावरणका क्षय हो चुका वहाँ ज्ञान पूर्ण विकसित हो जाता है । (७) ज्ञानका पूर्ण विकास हए बाद ज्ञान सदैव पूर्ण विकसित रहेगा ।

अब आत्माका ज्ञानप्रमाणपना न माननेमें दो पक्षोंको उपस्थित करके दोष बतलाते हैं—[इह] इस जगतमें [यस्य] जिसके मतमें [आत्मा] आत्मा [ज्ञानप्रमाणं] ज्ञानप्रमाण [न भवति] नहीं होता है [तस्य] उसके मतमें [स आत्मा] वह आत्मा [ध्रुवम् एव] निश्चित ही [ज्ञानात् हीन वा] ज्ञानसे हीन [अधिक वा भवति] अथवा अधिक होना चाहिये । [यदि] यदि [स आत्मा] वह आत्मा [हीन] ज्ञानसे हीन हो [तत्] तो वह [ज्ञान] ज्ञान [अचेतन] अचेतन हुआ [न जानाति] कुछ नहीं जानेगा, [ज्ञानात् अधिक वा] और यदि आत्मा ज्ञानसे अधिक हो तो यह आत्मा [ज्ञानेन विना] ज्ञानके बिना [कथं जानाति] कैसे जानेगा ?

तात्पर्य—आत्मा ज्ञानप्रमाण है ज्ञानसे हीन या अधिक नहीं है ।

टीकार्थ—यदि यह आत्मा ज्ञानसे हीन माना जाता है तो आत्मासे आगे बढ़ा ज्ञान

भूतचेतनद्रव्यसमवायाभावादचेतनं भवद्रूपादिगुणकल्पतामापन्नं न जानाति । यदि पुनर्ज्ञानाद-धिक इति पक्षः कक्षीक्रियते तदावश्यं ज्ञानादतिरिक्तत्वात् पृथग्भूतो भवन् घटपटादिस्थानीयता-मापन्नो ज्ञानमन्तरेण न जानाति । ततो ज्ञानप्रमाण एवायमात्माभ्युपगन्तव्यः ।।२४-२५।।

बोधने । प्रातिपदिक—ज्ञानप्रमाण आत्मन् न यत् इह तत् तत् आत्मन् हीन वा अधिक वा ज्ञान ध्रुव एव हीन यदि तत् आत्मन् तत् ज्ञान अचेतन न अधिक वा ज्ञान विना कथं । **मूलधातु**—भू सत्तायां, ज्ञा अवबोधने, चिती संज्ञाने । **उभयपदविवरण**—णाणप्पमाण ज्ञानप्रमाण–प्र० ए० । ण न इह वा जदि यदि कह कथं विणा विना–अव्यय । जस्स यस्य तस्स तस्य–षष्ठी एक० । सो स –प्र० एक० । हीणो हीन अहिओ अधिक –प्र० ए० । णाणादो ज्ञानात्–पञ्चमी ए० । हवदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । धुवं ध्रुवं–अव्यय । तण्णाणं अचेतनं तद्ज्ञानं अचेतन–प्र० एक० । जाणादि जानाति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । णाणेण ज्ञानेन–तृतीया एक० । जाणादि जानाति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया ।।२४-२५।।

आत्मा ज्ञान अपने आश्रयभूत चेतन द्रव्यका सम्बन्ध न रहनेसे रूपादि गुणकी समानताको प्राप्त अचेतन होता हुआ नही जानेगा, और यदि यह आत्मा ज्ञानसे अधिक है ऐसा पक्ष रखा जाता है तो अवश्य ही (आत्मा) ज्ञानसे आगे बढ जानेसे ज्ञानसे पृथक् होता हुआ घटपटादि [illegible] प्राप्त हुआ ज्ञानके बिना नही जानेगा । इसलिये यह आत्मा ज्ञानप्रमाण ही मानना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे युक्तिपूर्वक बताया गया था कि ज्ञान सर्वगत है । अब इस गाथामें आत्माको ज्ञानप्रमाण न माननेपर क्या दोष होते है उनका वर्णन किया गया है ।

प्रकाशकीय

भव्यजन समूह के बड़े सौभाग्य की बात है कि अध्यात्मयोगी पूज्यश्री गुरुवर्य मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराज कृत समयसार सप्तदशांगी टीका के प्रकाशन के अनन्तर उन्हीं महाराज श्री द्वारा रचित प्रवचनसार-सप्तदशाङ्गी टीका का यह प्रकाशन हस्तगत हो रहा है।

अब से कुछ अधिक २५०० वर्ष पूर्व चौबीसवें तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी के दिव्योपदेश से समाज धर्म लाभ पाकर शान्ति का अनुभव करता था। तत्पश्चात ३०० वर्ष बाद अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के समय द्वादशाङ्ग का पारायण होता रहा। तत्पश्चात अङ्ग पूर्वोंके परिज्ञान का विच्छेद होने लगा।

उनकी परिपाटी मे दो समर्थ आचार्य हुए—(१) धरसेनाचार्य (२) गुणधराचार्य। धरसेनाचार्य को अग्रायणीपूर्व के पञ्चम वस्तु अधिकार के चतुर्थ प्राभृत महाकर्म प्रकृति का परिज्ञान था। उन्होंने शिष्यो को अध्ययन कराया और शिष्यों ने छक्खंडागम की रचना की।

गुणधराचार्य को ज्ञानप्रवादपूर्व के दशम वस्तु के तीसरे प्राभृत का परिज्ञान था। उन्होंने शिष्यो को अध्ययन कराया। उस परिपाटी में समयप्राभृत आदि ग्रन्थो की रचना हुई, जिसमें समयसार प्रवचनसार नियमसार पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थों की रचना पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य ने की।

प्रवचनसार ग्रन्थ की रचना अब से करीब दो हजार वर्ष पूर्व हुई थी। तत्पश्चात करीब एक हजार वर्ष बाद प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका पूज्य श्री अमृतचन्द्र जी सूरि द्वारा हुई थी। तत्पश्चात करीब एक हजार वर्ष बाद सप्तदशाङ्गी टीका अध्यात्मयोगी श्री सहजानन्द जी द्वारा हुई।

प्रवचनसार-सप्तदशाङ्गी टीका मे प्रत्येक गाथा के इन विषयो पर वर्णन है—(१) हिन्दी गाथा पद्य (२) संस्कृतच्छाया, (३) नामसंज्ञ, (४) धातुसंज्ञ, (५) प्रातिपदिक, (६) मूलधातु (७) प्राकृतपद विवरण (८) संस्कृतपद विवरण, (९) निरुक्ति (१०) समास (११) गाथान्वय (१२) गाथार्थ, (१३) गाथातात्पर्य, (१४) टीकार्थ, (१५) प्रसंगविवरण, (१६) तथ्यप्रकाश (१७) सिद्धान्त, (१८) दृष्टि (१९) प्रयोग।

सिद्धान्त और दृष्टि इन दो अङ्गों को सुगमतया समझने के लिए भूमिका में दृष्टिसूची दी है जिसमे २१७ दृष्टियाँ व २६ अन्तर्गत दृष्टियाँ कुल २४३ दृष्टियों के नाम दिये गये हैं और दृष्टिअंग मे दृष्टि नाम देकर उसके आगे कोष्ठक मे उसका नम्बर दिया गया है जिस नम्बर पर दृष्टिसूची में वह नाम मिलेगा।

अथात्मनोऽपि ज्ञानवत् सर्वगतत्वं न्यायायातमभिनन्दति—

मव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया ॥२६॥

सर्वगत जिनवृषभ है क्योंकि सकल अर्थ ज्ञानमें गत है।
जिन ज्ञानमय है अतः, वे सब विषय कहे उसके ॥२६॥

सर्वगतो जिनवृषभः सर्वेऽपि च तद्गता जगत्यर्थाः। ज्ञानमयत्वाच्च जिनो विषयत्वात्तस्य ते भणिताः ॥२६॥

ज्ञानं हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्यपर्यायरूपव्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगत-मुक्तं तथाभूतज्ञानमयीभूय व्यवस्थितत्वाद्भगवानपि सर्वगत एव। एवं सर्वगतज्ञानविषयत्वा

नामसंज्ञ—सव्वगअ जिणवसह सव्व वि य तग्गय जगद अट्ठ णाणमय जिण विसय त त भणिद। धातुसंज्ञ—भण कथने। प्रातिपदिक—सर्वगत जिनवृषभ सर्व अपि च जगत् अर्थ ज्ञानमयत्व जिन विषयत्व तत् भणित। मूलधातु—भण शब्दार्थ। उभयपदविवरण—सव्वगओ जिणवसहो सर्वगतः जिनवृषभः—

अब ज्ञानकी भाँति आत्माका भी सर्वगतपना न्यायसे प्राप्त हुआ यह बतलाते हैं—[जिनवृषभः] जिनवर [सर्वगतः] सर्वगत है [च] और [जगति] जगतके [सर्वे अपि अर्थाः] सब ही पदार्थ [तद्गताः] जिनवरगत हैं, [जिनः ज्ञानमयत्वात्] जिन ज्ञानमय हैं अतः [च] और [ते] वे याने सब पदार्थ [विषयत्वात्] ज्ञानके विषय हैं इस कारण सब पदार्थ [तस्य] जिनवरके विषय [भणिताः] कहे गये हैं।

तात्पर्य—ज्ञानकी व्यापकता होनेसे ज्ञानमय आत्माको भी व्यापक कहा गया है।

टीकार्थ—ज्ञान त्रिकालके सर्वद्रव्य पर्यायरूप प्रवर्तमान समस्त ज्ञेयाकारोंको आक्रमता हुआ अर्थात् जानता हुआ सर्वगत कहा गया है और ऐसे सर्वगत ज्ञानके विषय होनेसे सर्वगत ज्ञानसे अभिन्न उन भगवानके वे विषय हैं, ऐसा शास्त्रमें कहा होनेसे सब पदार्थ भगवानगत ही हैं अर्थात् भगवानमें प्राप्त है। वहाँ निश्चयनयसे अनाकुलतालक्षण सुखके संवेदनका अधिष्ठानपनेसे सहित आत्माके बराबर ही ज्ञान स्वतत्त्वको छोड़े बिना समस्त ज्ञेयाकारोंके निकट गये बिना, भगवान सब पदार्थोंको जानते हुए भी व्यवहारनयसे भगवान सर्वगत हैं ऐसा कहा जाता है तथा नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकारोंको आत्मस्थ देखकर सब पदार्थ आत्मगत हैं ऐसा उपचार किया जाता है, परन्तु परमार्थतः उनका एक दूसरेमें गमन नहीं होता, क्योंकि सब द्रव्योंको स्वरूपनिष्ठता है। यही क्रम ज्ञानमें भी निश्चित किया जाना चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथाद्वयमें युक्तिपूर्वक आत्माके ज्ञानप्रमाण होनेका समर्थन किया गया था। अब इस गाथामें ज्ञान द्वारा आत्माके सर्वव्यापकपनेका कथन किया गया है।

सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानाव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विपया इति भणितत्वात्तद्गता एव भवन्ति । तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यसंवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्व-तत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकारानुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते । तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणां स्वरूपनिप्ठत्वात् । अयं क्रमो ज्ञानेऽपि नि-श्चेयः ॥ २६ ॥

अथात्मज्ञानयोरेकत्वान्यत्वं चिन्तयति—

णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥२७॥

कहा ज्ञान आत्मा है, क्योंकि न है ज्ञान बिना आत्माके।
इससे ज्ञान है आत्मा, आत्मा ज्ञान व अन्य भी है ॥२७॥

ज्ञानमात्मेति मतं वर्तते ज्ञानं विना नात्मानम्। तस्मात् ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञानं वा अन्यद्वा ॥ २७ ॥

यतः शेषसमस्तचेतनाचेतनवस्तुसमवायसम्बन्धनिरुत्सुकतयाऽनाद्यनन्तस्वभावसिद्धसमवायसम्बन्धमेकमात्मानमाभिमुख्येनावलम्ब्य प्रवृत्तत्वात् तं विना आत्मानं ज्ञानं न धारयति, ततो ज्ञानमात्मैव स्यात्। आत्मा त्वनन्तधर्माधिष्ठानत्वात् ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानमन्यधर्मद्वारेणान्य

नामसंज्ञ—णाण अप्प त्ति मद णाण विणा ण अप्प त णाण अप्प अण्ण। धातुसंज्ञ—मन्न अवबोधन, वत्त वर्तन। प्रातिपदिक—ज्ञान आत्मन् इति मत ज्ञान विना न आत्मन् त णाण अप्प णाण अण्ण। मूल धातु—वृतु वर्तन, ज्ञा अवबोधन। उभयपदविवरण—णाणं ज्ञान-प्र० ए०। अप्पा आत्मा-प्र० ए०। त्ति

रूप भी है।

टीकार्थ—चूंकि शेष समस्त चेतन तथा अचेतन वस्तुओंके साथ समवायसम्बन्ध न होनेसे तथा अनादि अनंत स्वभावसिद्ध समवायसम्बन्धमय एक आत्माका अति निकटतया (अभिन्न प्रदेशरूपसे) अवलम्बन करके प्रवर्तमान होनेसे आत्मके विना ज्ञान अपना अस्तित्व नहीं रख सकता, इसलिये ज्ञान आत्मा ही है। परन्तु आत्मा अनंत धर्मोंका आधार होनेसे ज्ञानधर्मके द्वारा ज्ञान है और अन्य धर्मके द्वारा अन्य भी है। और फिर यहाँ अनेकान्त बलवान है। यदि एकान्तसे ज्ञान आत्मा है यह माना जाय तो ज्ञानगुण आत्मद्रव्य हो जानेसे ज्ञानका अभाव हो जायेगा, और ऐसा होनेसे आत्माके अचेतनता आ जायगी अथवा विशेष गुणका अभाव होनेसे आत्माका अभाव हो जायगा। यदि सर्वथा आत्मा ज्ञान है यह माना जाय तो निराश्रयताके कारण ज्ञानका अभाव हो जायगा अथवा आत्माकी शेष पर्यायोंका अभाव हो जायगा, और उनके साथ ही अविनाभावी सम्बन्ध वाले आत्माका भी अभाव हो जायगा।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें ज्ञानमुखेन आत्माको सर्वगत बताया गया था। अब आत्मा और ज्ञानके एकत्व व अन्यत्वका इस गाथामें वर्णन किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मपदार्थके बिना ज्ञान अपना स्वरूप नहीं पाता, अतः ज्ञान आत्मा ही है। (२) आत्मा अनंतधर्मात्मक है, उन अनन्त धर्मोंमें एक ज्ञान भी धर्म है। (३) आत्मा अनंत धर्मोंका आश्रय होनेसे जैसे ज्ञान आत्मा है वैसे ही दर्शन सुख आदि भी आत्मा

अथ ज्ञानज्ञेययो परस्परगमनं प्रतिहन्ति—

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं णेवण्णोण्णेसु वट्टंति ॥२८॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावी, ज्ञानीके ज्ञेयरूप अर्थ रहे ।
चक्षुमे रूपकी ज्यों वे नहिं अन्योन्यमे रहते ॥२८॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावोऽर्था ज्ञेयात्मका हि ज्ञानिनः । रूपाणीव चक्षुषो नैवान्योन्येषु वर्तन्ते ॥ २८ ॥

ज्ञानी चार्थाश्च स्वलक्षणभूतपृथक्त्वतो न मिथो वृत्तिमासादयन्ति किंतु तेषां ज्ञानज्ञेयस्वभावसंबन्धसाधितमन्योन्यवृत्तिमात्रमस्ति चक्षूरूपवत् । यथा हि चक्षूंषि तद्विषयभूतरूपिद्रव्याणि च परस्परप्रवेशमन्तरेणापि ज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणान्येवमात्माऽर्थाश्चान्योन्यवृत्तिमन्तरेणापि विश्वज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणाः ॥२८॥

नामसंज्ञ—णाणि णाणसहाव अट्ठ णेयप्पग हि णाणि रूव व चक्खु ण एव अण्णोण्ण । धातुसंज्ञ—वत्त वर्तने । प्रातिपदिक—ज्ञानिन् ज्ञानस्वभाव अर्थ ज्ञेयात्मक हि ज्ञानिन् रूप इव चक्षुष् न एव अन्योन्य । मूलधातु—वृतु वर्तने । उभयपदविवरण—णाणी ज्ञानी णाणसहावो ज्ञानस्वभावः–प्र० ए० । अट्ठा अर्थाः णेयप्पगा ज्ञेयात्मकाः–प्रथमा बहु० । णाणिस्स ज्ञानिनः–षष्ठी एक० । रूवाणि रूपाणि–प्रथमा बहु० । व इव ण न एव हि–अव्यय । चक्खूणं–षष्ठी बहु०, चक्षुषाः–षष्ठी द्विवचन । अण्णोण्णेसु अन्योन्येषु–सप्तमी बहु० । वट्टंति वर्तन्ते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । निरुक्ति—ज्ञातुं योग्यः ज्ञेयः रूप्यते इति रूपं, चष्टे इति चक्षुः । समास—ज्ञानं स्वभावः यस्य सः ज्ञानस्वभावः ॥२८॥

आत्मा और पदार्थ एक दूसरेमे प्रविष्ट हुए बिना ही समस्त ज्ञेयाकारोंके ग्रहण और समर्पण करनेके स्वभाव वाले हैं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें आत्मा और ज्ञानका एकमात्र व अन्यपना बताया गया था । अब इस गाथामें बताया गया है कि ज्ञानी ज्ञेयोंको अपनी स्वभावकलासे जान लेता है, लेकिन न ज्ञानी ज्ञेयके प्रदेशोंमें जाता है, न ज्ञेय ज्ञानीके याने आत्माके प्रदेशोंमें जाता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रत्येक द्रव्य अन्य द्रव्योंसे भिन्न है । (२) आत्माका स्वभाव ही ऐसा है कि जो ज्ञेय हो उसके विषयमें आत्मा जान लेता है । (३) जो सत् है वही ज्ञेय होता है, असत् ज्ञेय हो ही नहीं सकता सो यह सत्का स्वभाव है कि वह ज्ञेय हो जाता है । (४) आत्मा और सब सत् पदार्थोंमें ज्ञान ज्ञेय होनेरूप ही सम्बन्ध समझमें आया । (५) आत्मा व पदार्थोंका ज्ञान ज्ञेय सम्बन्ध होनेपर भी वे एक दूसरेके प्रदेशोंमें प्रवेश नहीं करते । (६) चक्षु चक्षुकी जगह ही रहता, दृश्य पदार्थ अपनी ही जगह रहते, फिर भी चक्षु द्वारा पदार्थ दिख जाते है, इस उदाहरण द्वारा ज्ञाता व ज्ञेयमें अन्योन्यप्रवेशका अभाव बिल्कुल स्पष्ट है ।

सिद्धान्त—(१) प्रत्येक द्रव्य आत्मद्रव्यसे भिन्न ही है । (२) प्रत्येक [illegible] पदार्थ अपने

...ग्रासपन्नानि समस्तवस्तूनि स्वप्रदेशैरस्पृशन् न प्रविष्टः शक्तिवैचित्र्यवशतो वस्तुवर्तिनः समस्ताकारानुन्मूल्य इव कवलयन् चाप्रविष्टो जानाति पश्यति च। एवमस्य विचित्रशक्तियोगिनो ज्ञानिनोऽर्थेष्वप्रवेश इव प्रवेशोऽपि सिद्धिमवतरति ॥ २९ ॥

...–अव्यय। पविट्ठो प्रविष्ट अविट्ठो अविष्ट–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया। णाणी ज्ञानी–प्र० एक०। ...सु ...षु–सप्तमी बहु०। रूव रूप–द्वि० ए०। चक्खू चक्षु–प्र० ए०। जाणदि जानाति पस्सदि पश्यति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। णियद नियत–अव्यय क्रियाविशेषण। अक्खातीदो अक्षातीत–प्र० ए०। जगद् जगत् असम अशेष–द्वि० एक०। निरुवित–प्रकर्षेण विष्ट प्रविष्ट न निष्ट अविष्ट। समास–अक्ष अतिक्रान्त अक्षातीत ॥ २९ ॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि ज्ञानी व ज्ञेयका परस्पर प्रवेश नहीं है। अब इस गाथामें बताया गया है कि ज्ञानी अर्थोंमें अप्रविष्ट होकर भी प्रविष्ट हुआ पदार्थोंको जानता है।

तथ्यप्रकाश—(१) बहिर्ज्ञेयाकार तो ज्ञेयपदार्थोंमें ही है, ज्ञातासे बाहर ही है। (२) अन्तर्ज्ञेयाकार ज्ञाताकी ज्ञेयोंके विषयमें जाननेरूप खुदकी परिणति है। (३) ज्ञाता अन्तर्ज्ञेयाकारोंमें प्रविष्ट है, अन्तर्ज्ञेयाकार ज्ञातामें प्रविष्ट है। (४) बहिर्ज्ञेयाकार ज्ञातामें प्रविष्ट नहीं, ज्ञाता बहिर्ज्ञेयाकारोंमें प्रविष्ट नहीं। (५) ज्ञानकी स्वाभाविक कला ही है ऐसी कि ज्ञानमें ज्ञेयों का झलकना पड़ता ही है। (६) ज्ञेय पदार्थका अस्तित्व उसी पदार्थमें है। (७) ज्ञेयपदार्थ-विषयक झलक ज्ञातामें है। (८) समक्ष स्थित पदार्थके अनुरूप प्रतिबिम्ब दर्पणमें है, समक्ष स्थित पदार्थ पदार्थमें ही है। (९) दर्पणकी प्रकृति ही ऐसी है कि दर्पणमें सन्निधिस्थ पदार्थों का झलकना ही पड़ता है।

अथ केवलज्ञानिश्रुतज्ञानिनोरविशेषदर्शनेन विशेषाकाङ्क्षाक्षोभं क्षपयति —

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥३३॥

जो हि जानता श्रुतसे, आत्माको है स्वभावसे ज्ञायक।
लोक प्रदीपक ऋषिगण, उसको श्रुतकेवली कहते ॥३३॥

यो हि श्रुतेन विजानात्यात्मानं ज्ञायकं स्वभावेन। तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकराः ॥ ३३ ॥

यथा भगवान् युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यविशेषशालिना केवलज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंवेद्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मना-

नामसंज्ञ—ज हि सुद अप्प जाणग त सुयकेवलि रिसि लोयप्पदीवयर। धातुसंज्ञ—वि जाण अवबोधने, भण कथने। प्रातिपदिक—यत् हि श्रुत आत्मन् ज्ञायक स्वभाव तत् श्रुतकेवलिन् ऋषि लोकप्रदीपक। मूलधातु—वि ज्ञा अवबोधने भण शब्दार्थः। उभयपदविवरण—जो य-प्रथमा एक०। हि—अव्यय।

सिद्धान्त—(१) प्रत्येक आत्मा अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे सत् होनेके कारण अपनेमें ही अपने रूपसे परिणमते रहते हैं, जानते रहते हैं। (२) प्रत्येक आत्मा समस्त परद्रव्यों रूपसे सत् न होनेसे सब परसे अत्यन्त भिन्न है।

दृष्टि—१- स्वद्रव्यादिग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२८]। २- परद्रव्यादिग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय [२९]।

प्रयोग—पदार्थोंको जानना, अपना स्वभाव निरखकर किसी परके प्रति संबंध न माननेका आग्रह न करना व सब परपदार्थोंसे निराला स्वयंको सहजात्मस्वरूप निरखना ॥३४॥

अब केवलज्ञानीका और श्रुतज्ञानीका अविशेषरूप दिखनेके द्वारा विशेष आकांक्षाके क्षोभको नष्ट करते हैं—[यः हि] जो वास्तवमें [श्रुतेन] श्रुतज्ञानके द्वारा [स्वभावेन ज्ञायकं] स्वभावसे ज्ञायकस्वभाव [आत्मानं] आत्माको [विजानाति] जानता है [तं] उसे [लोकप्रदीपकराः] लोकके प्रकाशक [ऋषयः] ऋषिगण [श्रुतकेवलिनं भणन्ति] श्रुतकेवली कहते हैं।

तात्पर्य—केवली व श्रुतकेवलीकी मूल महिमा अनाद्यनंत अहेतुक सहज चैतन्यस्वरूप मय केवल अपने आपको अपने आपमें अनुभवनेमें है।

टीकार्थ—जैसे भगवान युगपत् परिणत समस्त चैतन्यविशेषयुक्त केवलज्ञानके द्वारा अनाद्यनंत अहेतुक असाधारण स्वसंवेद्यमान चैतन्यसामान्य महिमा वाले तथा चेतक स्वभावसे एकत्व होनेसे केवल शुद्ध, अखंड आत्माको आत्मासे आत्मामें अनुभवनेके कारण केवली हैं, उसी

अथ ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदमुदस्यति—

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४॥

पुद्गलमय वचनोंसे, जो जिन उपदेश उसे सूत्र कहा।
ज्ञान है ज्ञप्ति उसकी, उसको ही सूत्र ज्ञान कहा ॥३४॥

सूत्रं जिनोपदिष्टं पुद्गलद्रव्यात्मकैर्वचनैः। तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानं सूत्रस्य च ज्ञप्तिर्भणिता ॥ ३४॥

श्रुतं हि तावत्सूत्रम्। तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञं स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्म। तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानम्। श्रुतं तु तत्कारणत्वात् ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव। एवं सति सूत्रस्य ज्ञप्ति

नामसंज्ञ—सुत्त जिणोवदिट्ठ पोग्गलदव्वप्पग वयण तजाणणा हि णाण सुत्त य भणिया। धातु॰संज्ञ—भण कथन, उव दिस प्रेक्षणे ज्ञान च। प्रातिपदिक—सूत्र जिनोपदिष्ट पुद्गलद्रव्यात्मक वचन

ज्ञानके द्वारा अपनेको अनुभवते हैं। (३) अन्तरात्मा श्रुतज्ञानके द्वारा अपनेको अनुभवते हैं। (४) बहिरात्मा दर्शनमोहमिश्रित ज्ञानके द्वारा विकारपर्यायरूपमें अपनेको अनुभवते हैं।

दृष्टि—१- उपादानदृष्टि [४६ब]। २- शुद्धनिश्चयनय [८६]। ३- अपूर्ण शुद्ध निश्चयनय [४६ब]। ४- अशुद्ध निश्चयनय [४७]।

प्रयोग—परपदार्थको तो मैं अनुभवता ही नहीं तब बाहरमें कुछ जानने व प्रवृत्तिकी इच्छा छोड़कर अपनेको निरपेक्ष सहजसिद्ध चैतन्यस्वभावमात्र निरखना॥ ३३॥

अब ज्ञानके श्रुत उपाधिकृत भेदको दूर करते हैं—[पुद्गलद्रव्यात्मकैः वचनैः] पुद्गल द्रव्यात्मक वचनोंके द्वारा [जिनोपदिष्टं] जिनेन्द्र भगवानके द्वारा उपदिष्ट [सूत्रं] सूत्र है [तज्ज्ञप्तिः हि] उसकी जानकारी [ज्ञानं] ज्ञान है [च] और वही [सूत्रस्य ज्ञप्तिः] सूत्रकी ज्ञप्ति (श्रुतज्ञान) [भणिता] कही गयी है।

तात्पर्य—ज्ञानका स्वरूप मात्र जानना ही है।

टीकार्थ—पहले तो श्रुत ही सूत्र है, और वह सूत्र भगवान अर्हंत-सर्वज्ञके द्वारा उपदिष्ट, स्यात्कारचिह्नयुक्त, पौद्गलिक शब्दब्रह्म है। उसकी ज्ञप्ति याने जानकारी सो ज्ञान है। सूत्र तो ज्ञानका कारण होनेसे ज्ञानके रूपसे उपचरित किया जाता है ऐसा होनेपर सूत्रकी ज्ञप्ति सो श्रुतज्ञान है यह फलित होता है। अब सूत्र तो उपाधि होनेसे आदर नहीं किया जाता, तब ज्ञप्ति ही शेष रह जाती है, और वह ज्ञप्ति केवली और श्रुतकेवलीके आत्माके सचेतनमें समान ही है। इस प्रकार ज्ञानमें श्रुत उपाधिकृत भेद नहीं है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि जब आत्मा अपनेको ही

अथात्मज्ञानयोः कर्तृकरणताकृतं भेदमपनुदति—

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा ।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥ ३५ ॥

जो जाने सो ज्ञान हि ज्ञानसे बनता न आत्मा ज्ञायक ।
स्वयं ज्ञानमय होता, ज्ञानस्थित सब अर्थ वहां ॥ ३५ ॥

यो जानाति स ज्ञानं न भवति ज्ञानेन ज्ञायक आत्मा । ज्ञानं परिणमते स्वयमर्था ज्ञानस्थिताः सर्वे ॥ ३५ ॥

अपृथग्भूतकर्तृकरणत्वशक्तिपारमैश्वर्ययोगित्वादात्मनो य एव स्वयमेव जानाति स एव ज्ञानमन्तर्लीनसाधकतमोष्णत्वशक्तेः स्वतन्त्रस्य जातवेदसो दहनक्रियाप्रसिद्धेरुष्णव्यपदेशवत् । न तु यथा पृथग्वर्तिना दात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा ज्ञानेन ज्ञायको भवत्यात्मा । तथा सत्युभयोरचेतनत्वमचेतनयोः संयोगेऽपि न परिच्छित्तिनिष्पत्तिः । पृथक्त्ववर्तिनोरपि परिच्छेदा

नामसंज्ञ—ज त णाण ण णाण जाणग अप्प णाण सय णाणट्ठिय सव्व । धातुसंज्ञ—जाण अवबोधने, हव सत्तायां, परि णम प्रह्वत्वे । प्रातिपदिक—यत् तत् ज्ञान न ज्ञायक आत्मन् स्वयं अर्थ ज्ञानस्थित सर्व । मूलधातु—ज्ञा अवबोधने, भू सत्तायां परि णम प्रह्वत्वे । उभयपदविवरण—जो यः सो सः जाणगो ज्ञायकः

भिन्न नहीं है ।

टीकार्थ—अपृथग्भूत कर्तृत्व और करणत्वकी शक्तिरूप पारमैश्वर्यसे युक्त होनेसे जो स्वयमेव जानता है याने ज्ञायक है वही ज्ञान है जैसे कि साधकतम उष्णत्वशक्ति जिसमें अन्तर्लीन है ऐसी स्वतंत्र अग्निके दहनक्रियाकी प्रसिद्धि होनेसे उष्णता कही जाती है । परन्तु, जैसे पृथग्वर्ती दातलीसे देवदत्त काटने वाला कहलाता है उसी प्रकार पृथग्वर्ती ज्ञानसे आत्मा जानने वाला याने ज्ञायक है ऐसा नहीं है । यदि ऐसा हो तो दोनोंके अचेतनता आ जायगी और दो अचेतनोंका संयोग होनेपर भी ज्ञप्ति उत्पन्न नहीं होगी । आत्मा और ज्ञानके पृथग्वर्ती होनेपर भी यदि आत्माके ज्ञप्ति होना माना जाय तो परज्ञानके द्वारा परको ज्ञप्ति हो जायगी और इस प्रकार राख इत्यादिके भी ज्ञप्तिकी निष्पत्ति निरंकुश हो जायगी । और क्या, कि अपनेसे अभिन्न समस्त ज्ञेयाकाररूप परिणत ज्ञान उसरूप स्वयं परिणमित होने वाले, कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारोंके कारणभूत समस्त पदार्थ ज्ञानवर्ती ही कथंचित् होते हैं । सो अब ज्ञाता और ज्ञानके विभागकी क्लिष्ट कल्पनासे क्या प्रयोजन है ?

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें आत्ममननके प्रयोजनसे ज्ञानकी श्रुत उपाधिको दूर किया था । अब इस गाथामें आत्मा और ज्ञानमें कर्तृकरणपनेका भेद दूर कराया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा कर्ता है, ज्ञान करण है ऐसा व्यवहार होनेपर भी आत्मा

अथ किं ज्ञानं किं ज्ञेयमिति व्यनक्ति—

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥३६॥

जीव ज्ञान है इससे त्रिकालगत द्रव्य ज्ञेय बतलाये।
परिणामबद्ध आत्मा, तथा इतर द्रव्य यों मानो ॥३६॥

तस्माज्ज्ञानं जीवो ज्ञेयं द्रव्यं त्रिधा समाख्यातम्। द्रव्यमिति पुनरात्मा परश्च परिणामसंबद्धः ॥ ३६ ॥

यतः परिच्छेदरूपेण स्वयं विपरिणम्य स्वतंत्र एव परिच्छिनत्ति ततो जीव एव ज्ञानं अन्यद्रव्याणां तथा परिणन्तुं परिच्छेत्तुं चाशक्तेः। ज्ञेयं तु वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाणविचित्रपर्याय परम्पराप्रकारेण त्रिधाकालकोटिस्पर्शित्वादनाद्यनन्तं द्रव्यं, तत्तु ज्ञेयतामापद्यमानं द्वेधात्मपरवि-कल्पात्। इष्यते हि स्वपरपरिच्छेदकत्वादवबोधस्य बोध्यस्यैवंविधं द्वैविध्यम्। ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात् कथं नामात्मपरिच्छेदकत्वम्। का हि नाम क्रिया कीदृशश्च विरोधः ? क्रिया

नामसंज्ञ—त णाण जीव णेय दव्व तिहा समक्खाद ति पुणो आदा पर य परिणामसम्बद्ध। धातुसंज्ञ—ज्ञा अवबोधने, स बध बन्धने। प्रातिपदिक—तत् ज्ञान जीव ज्ञेय द्रव्य त्रिधा समाख्यात इति पुनर् आत्मन् पर च परिणामसम्बद्ध। मूलधातु—ज्ञा अवबोधने। उभयपदविवरण—तम्हा तस्मात्-पञ्चमी ए०।

स्पर्श करता हुआ होनेसे अनादि अनन्त द्रव्य है। यह ज्ञेयको प्राप्त स्व और पर ऐसे दो भेद से दो प्रकारका है। ज्ञान स्वपरज्ञायक है, इसलिये ज्ञेयकी ऐसी द्विविधता मानी जाती है। प्रश्न—अपनेमें क्रियाके हो सकनेका विरोध होनेसे आत्माके स्वज्ञायकता कैसे घटित होती है ? उत्तर—कौनसी क्रिया है, और किस प्रकारका विरोध है ? जो यहाँ प्रश्नमें विरोधी क्रिया कही गई है वह या तो उत्पत्तिरूप होगी या ज्ञप्तिरूप होगी। उत्पत्तिरूप क्रिया 'कोई स्वयं अपनेमें से उत्पन्न नहीं हो सकता' इस आगम कथनसे विरुद्ध ही है परन्तु ज्ञप्तिरूप क्रिया का प्रकाशन क्रियासे ही प्रत्यवस्थितपना होनेसे ज्ञप्तिक्रियामें विरोध नहीं आ सकता। जैसे कि प्रकाश्यताको प्राप्त परको प्रकाशित करते हुए प्रकाशक दीपको स्व प्रकाश्यको प्रकाशित करनेके सम्बन्धमें अन्य प्रकाशककी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसके स्वयमेव प्रकाशन क्रियाकी प्राप्ति है, इसी प्रकार ज्ञेयपनेको प्राप्त परको जानते हुए ज्ञायक आत्माको स्वज्ञेयके जाननेके सम्बन्धमें अन्य ज्ञायककी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि स्वयमेव ज्ञान क्रियाकी वहाँ प्राप्ति है। प्रश्न—आत्माके द्रव्यज्ञानरूपता और सब द्रव्योंके आत्मज्ञेयरूपता, कैसे बन जाती है ? उत्तर—परिणाम वाले होनेसे आत्माके द्रव्यज्ञानरूपता और द्रव्योंके आत्म ज्ञेयरूपपना सही है। चूंकि आत्मा और द्रव्य परिणामोंसे सबद्ध है इस कारण आत्माके

[illegible]असद्भूतपर्यायाणां कथंचित्सद्भूतत्वं विदधाति—

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥ ३८ ॥

जो उत्पन्न हुये नहिं, जो होकर नष्ट हो गये वे सब ;
असद्भूत पर्यायें, ज्ञान माहि प्रत्यक्ष है ये ॥ ३८ ॥

[illegible] नष्टा भूत्वा पर्यायाः । ते भवन्ति असद्भूता पर्याया ज्ञानप्रत्यक्षाः ॥ ३८ ॥

[illegible] नाद्यापि संभूतिमनुभवन्ति, ये चात्मलाभमनुभूय विलयमुपगतास्ते किलासद्-
[illegible] निखातत्वात् ज्ञानप्रत्यक्षतामनुभवन्तः शिलास्तम्भोत्कीर्णभूतभाविदेव-
[illegible] सद्भूता एव भवन्ति ॥ ३८ ॥

अथैतदेवासद्भूतानां ज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढयति--

जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥३९॥

यदि अजात प्रलयित पर्यायें प्रत्यक्ष ज्ञानमें नहिं हों ।
तो वह ज्ञान दिव्य है, कौन प्ररूपण करे ऐसा ॥३९॥

यदि प्रत्यक्षोऽजातः पर्यायः प्रलयितश्च ज्ञानस्य । न भवति वा तत् ज्ञानं दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति ॥३९॥

यदि खल्वसंभावितभावं संभावितभावं च पर्यायजातमप्रतिघविजृम्भिताखण्डितप्रताप-प्रभुशक्तितया प्रसभेनैव नितान्तमाक्रम्याक्रमसमर्पितस्वरूपसर्वस्वमात्मानं प्रतिनियतं ज्ञानं न करोति, तदा तस्य कुतस्तनी दिव्यता स्यात् । अतः काष्ठाप्राप्तस्य परिच्छेदस्य सर्वमेतदुपपन्नम् ॥ ३९ ॥

नामसंज्ञ—जदि पच्चक्ख अजाय पज्जाय पलइय णाण दिव्व क जदि त ण वा ति हि यदि च न वा इति हि । धातुसंज्ञ—जा प्रादुर्भावे हव सत्तायां परूव घटनायां । प्रातिपदिक—यत् न एव हि अजात पर्याय प्रलयित ज्ञान ज्ञान दिव्य इति हि किम् । मूलधातु—जनी प्रादुर्भावे, भू सत्तायां, प्र रूप रूपक्रियायां । उभयपदविवरण—जदि यदि च ण न वा ति इति हि—अव्यय । पच्चक्खं प्रत्यक्ष अजायं अजातः पज्जायं पर्यायः पलइयं प्रलयितः—प्रथमा एक० । णाणस्स ज्ञानस्य—षष्ठी ए० । णाणं ज्ञानं—द्वि० ए० । दिव्वं दिव्य—प्र० एक० । के के—प्र० बहु० । परूवेंति प्ररूपयन्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । निरुक्ति—न जातः अजातः । समास—अक्षं प्रति इति प्रत्यक्षम् ॥ ३९ ॥

[अजातः पर्यायः] अनुत्पन्न पर्याय [च] और [प्रलयितः] नष्ट पर्याय [ज्ञानस्य] केवलज्ञानके [प्रत्यक्षः न भवति] प्रत्यक्ष न हो तो [तत् ज्ञानं] उस ज्ञानको [दिव्यं इति हि] दिव्य है ऐसा [के प्ररूपयंति] कौन प्ररूपण कर सकते हैं ?

तात्पर्य—दिव्य केवलज्ञानमें भूत भविष्यत् पर्यायें भी स्पष्ट ज्ञात हैं ।

टीकार्थ—जिसने अस्तित्वका अनुभव नहीं किया, और जिसने अस्तित्वका अनुभव कर लिया है ऐसे अनुत्पन्न और नष्ट पर्याय समूहको यदि ज्ञान अपनी निर्विघ्न विकसित, अखंडित प्रतापयुक्त प्रभुशक्तिके द्वारा बलात् अत्यन्त आक्रमित कर याने जाने तथा वे पर्यायें अपने स्वरूपसर्वस्वको अक्रमसे अर्पित करें अर्थात् एक ही साथ ज्ञानमें ज्ञात हों, इस प्रकार यदि उन्हें अपने प्रति नियत न करे अर्थात् प्रत्यक्ष न जाने, तो उस ज्ञानकी दिव्यता किस प्रकार हो ? इस कारण पराकाष्ठाको प्राप्त ज्ञानके लिये यह सब ठीक बनता है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया था कि प्रभुज्ञानमें असद्भूत पर्यायें भी सद्भूत हो जाते हैं । अब इस गाथामें असद्भूत पर्यायोंकी ज्ञानप्रत्यक्षताको दृढ़ किया है ।

दो शब्द

प्रिय पाठक वृन्द !

बडे ही सौभाग्य का विषय है कि पूज्यपाद श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत 'प्रवचनसार ग्रन्थराज की श्रीमदमृतचन्द्र जी सूरि द्वारा तत्वप्रदीपिका संस्कृत टीका पर अध्यात्मयोगी पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी सहजानद महाराज द्वारा लिखित सप्तदशाङ्गी टीका आपके सम्मुख प्रस्तुत है। ग्रन्थराज की इस टीका मे पूज्य वर्णी जी ने प्रत्येक विषय को बडे ही सुगम एव सुलभ ढग से समझाने का पूर्ण प्रयत्न किया है।

इस टीका से पूर्व ग्रन्थराज समयसार पर भी पूज्य महाराज श्री ने सप्तदशाङ्गी टीका की रचना की थी जिसका विमोचन दिल्ली विश्वविद्यालय के विवेकानन्द हाल मे १८ फरवरी १९७८ शनिवार को भारत के तत्कालीन उपराष्ट्रपति महामहिम श्री बी डी जत्ती महोदय ने किया था। उसी टीका के अनुरूप यह टीका भी है।

सहजानन्द जी महाराज ने लगभग ५४५ ग्रन्थो की रचना की जिनमे से लगभग ३०० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

ग्रन्थराज प्रवचनसार की प्रस्तुत टीका का प्रूफरीडिंग आदरणीय डा० लालक चन्द जी जैन मेरठ शहर ने पूज्य महाराज श्री के स्वर्गारोहण के पश्चात बडे ही परिश्रम एव लगन के साथ किया है जिसके लिए श्री सहजानद शास्त्रमाला उनकी परम आभारी है एव उनसे भविष्य मे भी अपेक्षित सहयोग की आशा रखती है।

मेरी कामना है कि इस सहजानन्द सप्तदशाङ्गी टीका का अध्ययन करके मुमुक्षुजन सदा के लिये जन्म मरण के सकटो से छूट जावें एव अपने इस मानव जीवन को अवश्य ही सफल बनावें।

निवेदक—
पवन कुमार जैन ज्वलर्स
सदर मेरठ।

नत्ति विषयविषयिसन्निपातसद्भावः न तु वृत्तं वर्त्स्यच्च । यत्तु पुनरनावरणमनिन्द्रियं ज्ञानं तस्य समिद्धधूमध्वजस्येवानेकप्रकारतालिङ्गितं दाह्यं दाह्यतानतिक्रमाद्दाह्यमेव यथा तथात्मनः अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तमजातमतिवाहितं च पर्यायजातं ज्ञेयतानतिक्रमात्परिच्छेद्यमेव भवतीति ॥४१॥

तत् ज्ञान अतीन्द्रिय भणित । मूलधातु—ज्ञा अवबोधने, भण शब्दार्थे । उभयपदविवरण—अपदेशं अप्रदेशं सपदेसं सप्रदेशं मुत्तं मूर्तं अमुत्तं अमूर्तं पज्जयं पर्यायं अजादं अजातं पजयं प्रनयं गयं गतं–द्वितीया एक० । जाणदि जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । तं तत् णाणं ज्ञानं अदिंदियं अतीन्द्रियं–प्र० एक० । भणियं भणितं–प्र० एक० कृदन्त क्रिया । निरुक्ति—प्रकर्षेण लयनं प्रलयः तं । समास—न प्रदेशः यत्र सः अप्रदेशः अबहुप्रदेशः इत्यर्थः इन्द्रियं अतिक्रान्तम् अतीन्द्रियं ॥ ४१ ॥

तथ्यप्रकाश—(१) इन्द्रियज्ञान उपदेश, मन, इन्द्रियोंको कारणरूप इत्यादि बाह्य अर्थका आश्रय पाकर होता है अतः वह पराधीन है । (२) इन्द्रियज्ञान तत्तदिन्द्रियज्ञानावरण का क्षयोपशम, संस्कार आदिको कारणरूपसे उपादान करके प्रवृत्त होता है अतः वह प्रति सीमित है । (३) इन्द्रियज्ञान अति स्थूलका ग्रहण करने वाला है, अतः अनन्तप्रदेशी स्कन्ध को ही जान सकता है अप्रदेशको नहीं । (४) इन्द्रियज्ञान मूर्त पदार्थको ही विषय करके जान सकता है, अतः वह मूर्तको ही जान सकता है अमूर्तको नहीं । (५) इन्द्रिय ज्ञान विषय विषयी की समक्षतामें ही जान सकता है अतः वह वर्तमानको ही जान सकता है । (६) अतीन्द्रिय ज्ञान किसी भी परपदार्थके कारण बिना ही होता है अतः वह स्वाधीन है । (७) अतीन्द्रिय ज्ञान क्षायिक, निरावरण होनेसे वह पूर्ण विकसित ज्ञान है । (८) अतीन्द्रिय ज्ञान सबका परिच्छेदक होनेसे वह स्थूलको भी जानता, सूक्ष्मको भी जानता, सप्रदेशको भी जानता, अप्रदेशको भी जानता । (९) अतीन्द्रियज्ञान सब सत्का जानने वाला होनेसे वह मूर्त पदार्थको भी जानता अमूर्तको भी जानता । (१०) अतीन्द्रिय ज्ञान समस्त प्रदेशोंसे जानता, इसी लिये सब भूत वर्तमान भविष्य पर्यायोंका उल्लंघन न करनेसे समक्ष है, अतः वह ज्ञान भूत भविष्य वर्तमान सबको जानता है । (११) अतीन्द्रिय ज्ञान निष्कलंक, परमोत्कृष्ट व उपादेय है ।

सिद्धान्त—(१) परमात्मा निरावरण अतीन्द्रिय ज्ञान द्वारा स्वाधीनतया सब पर्यायोंको जानता रहता है ।

दृष्टि—१– स्वभावनय (१७६) ।

प्रयोग—स्वाभाविक ज्ञानपरिणमनके अविनाभावी सहज ज्ञानकी उपलब्धिके लिये सहज ज्ञानस्वभावको आत्मरूपसे उपासित करना ॥४१॥

अब ज्ञेय पदार्थरूप परिणमन जिसका लक्षण है ऐसी ज्ञेयार्थपरिणमनस्वरूप क्रिया ज्ञानमें से नहीं होती यह श्रद्धान करते हैं ऐसी श्रद्धा व्यक्त करते हैं—[ज्ञाता] ज्ञाता [यदि]

प्रकारके ज्ञानावरणका क्षयोपशम विलयको प्राप्त होनेसे
र्थोंको भी प्रकाशित करता है। असमानजातीयज्ञानाव-
ावरणका क्षयोपशम नष्ट हो जानेसे वह विषम अर्थात्
ा करता है। अथवा अतिविस्तारसे कुछ लाभ नहीं,
कारमान होनेसे क्षायिक ज्ञान अवश्यमेव, सर्वदा, सर्वत्र,

थामें बताया गया था कि केवली भगवानकी तरह सभी
न हो ऐसा नहीं है। अब इस गाथामें केवली भगवानके
ज्ञानको सर्वज्ञपनेके रूपसे अभिनंदित किया है।
[illegible]र्मका पूर्ण क्षय हो जानेसे क्षायिक ज्ञान तीनों काल
[illegible] है। (२) ज्ञानावरणकर्मका क्षय होनेसे ज्ञानावरण
[illegible] पुनः क्षायिक ज्ञान क्रम क्रमसे पदार्थोंको नहीं
[illegible]। (३) पूर्ण निर्विकार होनेके कारण द्रव्य-
[illegible] ज्ञान समस्त आत्मप्रदेशोंमें जानता
[illegible] ही जानता है। (५) सर्व प्रकार
[illegible]ोंको अर्थात् विचित्र विभिन्न भी सर्व
[illegible] जातिके पदार्थोंके ज्ञानके आव-
[illegible] जातिके पदार्थोंको जानता है।

प्रलमथवानिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात् ॥४७॥

प्रथमा एकवचन। भणिय भणित-प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। निरुक्ति—जयन इति जय न, क्षये भव क्षायिक। समास—विचित्र च विषम च विचित्रविषम तयो समाहार विचित्रविषम ॥४७॥

---

(७) पूर्ण निरावरण हो जानेसे ज्ञानका अनिवार्य असीम फैलाव हो जाता है, अत क्षायिक ज्ञान सब समय, सब जगह सब प्रकार सबको जानता ही रहता है। (८) परमात्माका ज्ञान अर्थात् क्षायिक ज्ञान त्रिलोकत्रिकालवर्ती सब पदार्थको जानता रहता है सो यह ज्ञानस्वभाव का प्रताप है इस कारण वहाँ व्याकुलता नही प्रत्युत अनत आनद है। (९) घातिया कर्मों का क्षय हो जानेसे जैसे ज्ञानस्वभाव असीम विकसित हो जाता है ऐसे ही आनन्दस्वभाव भी असीम विकसित हो जाता है। (१०) ज्ञान आनन्द आदि समस्त गुणोका असीम विकास निश्चयत आत्मप्रदेशोमे ही है।

सिद्धान्त—(१) घातियाकर्मोपाधिरहित परमात्मा त्रिलोकत्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेया कारकरम्बित निर्विकार आत्माको जानते रहते हैं।

दृष्टि—१- स्वभावगुणव्यञ्जनपर्यायदृष्टि [२१२]।

प्रयोग—नियत आत्मप्रदेशोसे किसी किसीको ही क्रमपूर्वक जाननेको स्वभावप्रतिकूल कार्य जानकर ऐसे जाननसे विरक्त होकर निज सहज ज्ञानस्वभावमे उपयुक्त होकर सहज सत्य विश्राम करना ॥ ४७ ॥

अब जो सबको नही जानता वह एकको भी नही जानता, यह निश्चित करते हैं—[य] जो [युगपद्] एक ही साथ [त्रकालिकान् त्रिभुवनस्थान्] तीनो कालके और तीनो लोकके [अर्थान्] पदार्थोंको [न विजानाति] नही जानता, [तस्य] उसे [सपर्यय] पर्याय सहित [एक द्रव्य वा] एक द्रव्य भी [ज्ञातु न शक्य] जानना शक्य नही है।

तात्पर्य—जो सबको नही जानता वह एक पदार्थको भी पूरा नहीं जान सकता।

टीकार्थ—इस विश्वमे एक आकाशद्रव्य एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, असख्य काल द्रव्य और अनत जीवद्रव्य है तथा उनसे भी अनतगुणे पुद्गलद्रव्य है और उन्हीके प्रत्येकके अतीत अनागत और वर्तमान ऐसे तीन प्रकारोसे भेद वाली निरवधि वृत्तिप्रवाहके भीतर पडने वाली अनत पर्यायें है। इस प्रकार यह समस्त द्रव्यो और पर्यायोका समुदाय ज्ञेय है इनमे ही एक कोई भी जीवद्रव्य ज्ञाता है। अब यहाँ जैसे [illegible] दाह्य [illegible] [illegible] हुई अग्नि समस्त दाह्य जिसका निमित्त है ऐसे समस्त दाह्याकार [illegible] [illegible] समस्त

अथ सर्वमजानन्नेकमपि न जानातीति निश्चिनोति—

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥ ४८ ॥

जो जानता न युगपत्, त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ अर्थोंको ।
वह जान नहीं सकता, एक सपर्यय द्रव्यको भी ॥ ४८ ॥

एव किल द्रव्यस्वभाव । यस्तु समस्त ज्ञेय न जानाति स समस्त दाह्यमदहन् समस्तदाह्यहेतुक-समस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलकदहनाकारमात्मान दहन इव समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलकज्ञानाकारमात्मान चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षत्वेऽपि न परिणमति । एवमेतदायाति य सर्वं न जानाति स आत्मान न जानाति ॥ ४८ ॥

एक० कृदन्त । सपज्जय सपर्यय द व द्रव्य एग एक-द्वि० एक० । निरुक्ति—गच्छति योग्य द्रव्य त्रिभुवन स्थिता त्रिभुवनस्था तान् । समास—पर्ययेण सहित सपर्यय ॥ ४८ ॥

बताया गया है कि जो त्रिलोकत्रिकालवर्ती सब पदार्थोंको युगपत् नही जानता है वह एक द्रव्यको नही जान सकता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्य छह जातिके होते है—आकाशद्रव्य धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, जीवद्रव्य व पुद्गलद्रव्य । (२) आकाशद्रव्य एक ही है व असीम व्यापक है, इसके सब द्रव्योसे व्याप्त व अव्याप्त क्षेत्रकी दृष्टिमे लोकाकाश व अलोकाकाश ऐसे दो विभाग माने जाते है । (३) धर्मद्रव्य एक ही है व लोकाकाशप्रमाण है, यह जीव पुद्गलोकी गतिका निमित्तभूत है । (४) अधर्मद्रव्य एक है व लोकाकाशप्रमाण है, यह जीव पुद्गलोकी स्थितिका निमित्तभूत है । (५) कालद्रव्य असख्यात है और वे एक एक कालद्रव्य लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर ही अवस्थित है, ये सब द्रव्योके परिणमनके निमित्तभूत हैं । (६) जीवद्रव्य अनतानत हैं और वे सब लोकाकाशमे ही हैं । (७) पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्योसे भी अनतानन्त गुणे हैं और वे सब लोकाकाशमे ही है । (८) सभी द्रव्योमे अनन्त पर्यायें अतीत हो चुकीं, अनन्त पर्यायें भविष्यमे होगी और वर्तमान पर्याय एक एक होती जाती है । (९) उक्त समस्त द्रव्य पर्यायोका समूह सब ज्ञेय है । (१०) सब ज्ञेयोमे केवल जीवद्रव्य ही ज्ञाता है । (११) शुद्ध बुद्ध ज्ञेयोको जाननेका स्वभाव ज्ञानका नही, ज्ञानका स्वभाव त्रैकालिक पर्यायोसहित समस्त ज्ञेयोके जाननरूप आकारसे परिणमनेका है । (१२) जो ज्ञाता समस्त ज्ञेयोके जाननरूप आकारसे नही परिणम रहा वह अपने ही पूर्ण विकासरूप नही परिणम रहा । (१३) जो समस्त ज्ञेयोको नही जानता वह एक अपनेको भी पूर्ण रीत्या नहीं जानता । (१४) जो ज्ञाता अतीतानागत वर्तमान पर्याय प्रतिबिम्बित स्व आत्मद्रव्यको नहीं जानता है वह अतीतानागतवर्तमानपर्याय सहित समस्त द्रव्योको नहीं जानता वह किसी भी एक द्रव्यको पूर्ण रीत्या नहीं जानता ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा स्वभावत सर्वज्ञेयाकाराक्रान्त निजको निश्चयत जानता है ।

दृष्टि—१- सर्वगतनय (१७१) ।

अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणादि ॥४९॥

अनंत पर्यायसहित, एक स्वयं द्रव्यको न जाने जो ।
सब अनंत द्रव्योंको, वह युगपत् जान नहिं सकता ॥४९॥

सर्वद्रव्यपर्यायान् प्रत्यक्षीकुर्वन्ति । एवमेतदायाति य आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानाति । अथ सर्वज्ञानादात्मज्ञानमात्मज्ञानात्सर्वज्ञानमित्यवतिष्ठते । एवं च सति ज्ञानमयत्वेन स्वसंचेतकत्वादात्मनो ज्ञातृज्ञेययोर्वस्तुत्वेनान्यत्वे सत्यपि प्रतिभासप्रतिभासमानयो स्वस्यामवस्थायामन्योन्यसंवलनेनात्यन्तमशक्यविवेचनत्वात्सर्वमात्मनि निखातमिव प्रतिभाति । यद्येवं न स्यात् तदा ज्ञानस्य परिपूर्णात्मसंचेतनाभावात् परिपूर्णस्यैकस्यात्मनोऽपि ज्ञानं न सिद्ध्येत् ॥ ४९ ॥

तानि दव्वजादाणि अनन्तानि द्रव्यजातानि–द्वितीया बहु० । ण न जदि यदि विध कथं जुगवं युगपत्–अव्यय । विजाणदि विजानाति जानाति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । सो स–प्र० एक० । सव्वाणि सर्वाणि–द्वितीया बहु० । निरुक्ति द्रवति पर्यायान् इति द्रव्य । समास—न अन्त यस्य तत् अनन्तम् द्रव्याणा जातानि द्रव्यजातानि ॥४९॥

जानता । अब यह निश्चित हुआ कि सबके ज्ञानसे आत्माका ज्ञान और आत्माके ज्ञानसे सब का ज्ञान होता है और ऐसा होनेपर आत्मा ज्ञानमयताके कारण स्वसंचेतक होनेसे, ज्ञाता और ज्ञेयका वस्तुरूपसे अन्यत्व होनेपर भी प्रतिभास और प्रतिभासमान इन दोनोंका स्व अवस्था में अन्योन्य मिलन होनेके कारण उनका भेद करना अत्यन्त अशक्य होनेसे सब पदार्थसमूह आत्मामें प्रविष्ट हो गयेकी तरह प्रतिभासित होता है यदि ऐसा न हो तो, अर्थात् यदि आत्मा सबको न जानता हो तो ज्ञानके परिपूर्ण आत्मसंचेतनका अभाव होनेसे परिपूर्ण एक आत्माका भी ज्ञान सिद्ध न होगा ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि सबको न जानने वाला आत्मा एकको भी पूर्णरीत्या नहीं जानता है । अब इस गाथामें बताया गया है कि एकको पूर्णरीत्या न जानने वाला आत्मा सबको नहीं जानता ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्मा स्वयं ज्ञानमय है ज्ञाता है, ज्ञान ही है । (२) वह ज्ञान सामान्यदृष्टिसे आत्मगत प्रतिभासमय महासामान्यरूप है । (३) वह ज्ञान विशेषदृष्टिसे अनन्त विशेषोंमें (अर्थोंमें) व्यापने वाला अर्थात् अनन्त पदार्थोंको जानने वाला प्रतिभासमय है । (४) अनन्त उन पदार्थोंके जानने वाले ज्ञानके विषयरूप निमित्त सब द्रव्य पर्याय हैं । (५) सब द्रव्य पर्यायोंके निमित्तक अनन्तविशेषोंमें व्यापने वाले प्रतिभासमय महासामान्यरूप अपने आत्माको स्वानुभव प्रत्यक्ष करनेके मायने सबको जानना कहते हैं । (६) जो सर्वव्यापी प्रतिभासमय महासामान्यरूप एक निज आत्माको नहीं जान पाता वह सब अर्थोंको कैसे जान सकता है ? (७) सबके ज्ञानसे आत्माका ज्ञान होता आत्माके ज्ञानसे सबका ज्ञान होता । (८) प्रतिभासप्रतिभासमानपनेके नातेसे सब पदार्थ आत्मामें गड़े हुएकी तरह विदित होते हैं । (९) अपना ज्ञान और सबका ज्ञान एक साथ ही होता है । (१०) दरिद्रता स्वदशा ज्ञात न हो

अथ ज्ञानादभिन्नस्य सौख्यस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन् ज्ञानसौख्ययोः हेयोपादेयत्वं चिन्तयति—

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु ।
णाणं च तहा मोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ॥५३॥

अर्थोंका ज्ञान व सुख, मूर्त अमूर्त इन्द्रियज अतीन्द्रिय ।
है जो इनमें उत्तम, वही उपादेय है मानो ॥ ५३ ॥

शक्तिभिस्तथाविधेभ्य इन्द्रियेभ्य समुत्पद्यमानं परायत्तत्वात् कादाचित्कं, क्रमकृतप्रवृत्ति सप्रतिपक्षं सहानिवृद्धि च गौणमिति कृत्वा ज्ञानं च सौख्यं च हेयम्। इतरत्पुनरमूर्ताभिश्चैतन्यानुविधायिनीभिरेकाकिनीभिरेवात्मपरिणामशक्तिभिस्तथाविधेभ्य स्वाभाविकचिदाकारपरिणामेभ्य समुत्पद्यमानमत्यन्तमात्मायत्तत्वान्नित्यं युगपत्कृतप्रवृत्ति निःप्रतिपक्षमहानिवृद्धि च मुख्यमिति कृत्वा ज्ञानं सौख्यं चोपादेयम्॥ ५३॥

अतीन्द्रिय इति इन्द्रियं ज्ञान ज्ञान सौख्य सौख्य ज वत् न नत्-प्रथमा एक०। ण्त इय-प्र० ए० कृदन्त क्रिया। निरुक्ति—न मूर्तं अमूर्तं गुणयन गुण सम्य भाव सौख्य। समास—इन्द्रिय अतिक्रान्त अतीन्द्रिय॥ ५३॥

गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) ज्ञान दो प्रकारका होता है—१- मूर्त इन्द्रियज ज्ञान, २- अमूर्त अतीन्द्रिय ज्ञान। (२) सौख्य भी दो प्रकारका है— १- मूर्त इन्द्रियज सौख्य, २- अमूर्त अतीन्द्रियज सौख्य। (३) उपादानदृष्टिसे मूर्त क्षायोपशमिक उपयोगशक्तियों द्वारा व निमित्त दृष्टिसे मूर्त इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान व सौख्य मूर्त इन्द्रियज कहलाता है। (४) अमूर्त अकेली चैतन्यपरिणमन शक्तियोंके द्वारा उत्पन्न हुआ इन्द्रियातीत ज्ञान व सौख्य अमूर्त अतीन्द्रिय कहलाता है। (५) मूर्त इन्द्रियज ज्ञान व सौख्य पराधीन होनेसे अनित्य है। (६) मूर्त इन्द्रियज ज्ञान व सौख्य पराधीन होनेसे क्रमसे अपनी प्रवृत्ति कर पाता है। (७) मूर्त इन्द्रियज ज्ञान व सौख्य अज्ञानसे व दुःखसे सहित है। (८) मूर्त इन्द्रियज ज्ञान व सौख्य हानि व वृद्धिसे सहित है। (९) विनश्वर क्रमवर्ती अज्ञानरूप दुःखरूप विषम ज्ञान एवं सौख्य हेय है। (१०) अमूर्त अतीन्द्रिय ज्ञान व सौख्य पूर्ण आत्माधीन होनेसे नित्य है एवं साथ परिपूर्ण प्रवर्तने वाला है, अज्ञान व दुःखसे बिल्कुल रहित है एवं हानि वृद्धिसे रहित असीम परिपूर्ण होनेसे उपादेय है।

सिद्धान्त—(१) प्रभुका ज्ञान व सौख्य आत्मोत्थ व स्वाभाविक है। (२) मोही प्राणियोंका ज्ञान व सौख्य निमित्तापेक्ष एवं विकृत है।

दृष्टि—१- शुद्धनिश्चयनय [४५]। २- अशुद्धनिश्चयनय [४७]।

प्रयोग—हेयभूत मूर्त इन्द्रियज ज्ञान व सौख्यसे उपेक्षा करके उपादेयभूत अमूर्त व अतीन्द्रिय ज्ञान एवं सौख्यके लाभके लिये अमूर्त सहज चैतन्यस्वरूपका अवलम्बन करना॥५३॥

अब अतीन्द्रिय सुखका साधनीभूत अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है ऐसा अभिस्तवन करते हैं अर्थात् उसकी प्रशंसाके साथ गुणानुवाद करते हैं—[प्रेक्षमाणस्य यत्] देखने वालेका जो

अथातीन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमभिष्टौति—

जं पेच्छदो अमुत्तं मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं ।
सयलं सगं च इदरं तं णाणं हवदि पच्चक्खं ॥५४॥

ज्ञान प्रत्यक्ष वह जो, द्रष्टाका ज्ञान जानता होवे ।
मूर्त अमूर्त अतीन्द्रिय, प्रच्छन्न स्व पर समस्तोंको ॥५४॥

प्रत्यक्षत्वात् । प्रत्यक्षं हि ज्ञानमुद्भिन्नानन्तशुद्धिसन्निधानमनादिसिद्धचैतन्यसामान्यसम्बन्धमेव सवाक्षनामानमात्मानं प्रतिनियतमितरां सामग्रीममृगयमाणमनन्तशक्तिसद्भावतोऽनन्ततामुपगतं दहनस्येव दाह्याकाराणां ज्ञानस्य ज्ञेयाकाराणामनतिक्रमाद्यथोदितानुभावमनुभवत्तत् केन नाम निवार्येत । अतस्तदुपादेयम् ॥ ५४ ॥

इदर इनर त तत् णाण नान पच्चक्ख प्रत्यक्ष–प्रथमा एक० । हवदि भवति–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया । निरुक्ति—प्रकर्षेण ज्ञान इति प्रक्षमाण नस्य । समास—इन्द्रिय अतिक्रान्त अतीन्द्रिय ॥ ५४ ॥

के कारण अनन्तताको प्राप्त है एसा तथा दहनके दाह्याकारोकी तरह ज्ञानके ज्ञेयाकारोका उल्लघन न होनेसे यथोक्त प्रभावका अनुभव करता हुआ वह प्रत्यक्ष ज्ञान किसके द्वारा रोका जा सकता है ? अत अतीन्द्रिय ज्ञान उपादेय है ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि इन्द्रियज ज्ञान व सुख हेय है तथा अतीन्द्रिय ज्ञान व सुख उपादेय है । अब इस गाथामे उपादेयभूत अतीन्द्रिय सुख को व उसके साधनीभूत अतीन्द्रिय ज्ञानको उपादेय बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश— (१) अतीन्द्रिय ज्ञान अमूर्तको, इन्द्रियागम्य मूर्तको, द्रव्यप्रच्छन्नको, क्षेत्रप्रच्छन्नको, कालप्रच्छन्नको, भावप्रच्छन्नको सभी स्व पर पदार्थोंको जानता है । (२) धर्म, अधर्म, आकाश, काल व जीव पदार्थ अमूर्त है । (३) परमाणु व अति सूक्ष्मस्कन्ध इन्द्रियागम्य मूर्त है । (४) काल आदिक पदार्थ द्रव्यप्रच्छन्न हैं । (५) अलोकाकाशके प्रदेश आदिक क्षेत्रप्रच्छन्न है । (६) भूत भविष्यत् पर्यायें कालप्रच्छन्न हैं । (७) स्थूल पर्यायोंमे अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायें भावप्रच्छन्न हैं । (८) समस्त पदार्थ स्व व परकी व्यवस्थामे व्यवस्थित हैं । (९) प्रभुका *अतीन्द्रियज्ञान सकलप्रत्यक्ष है । (१०) सकलप्रत्यक्षमे अनन्त ज्ञेय ज्ञात होते ही* हैं एसा ही ज्ञानस्वभावके कारण व ज्ञेयस्वभावके कारण अनिवारित नियम है ।

सिद्धान्त—(१) निरुपाधि शुद्ध ज्ञान सदैव सर्वज्ञेयाक्रान्त रहता ही है ।

दृष्टि—१– अनुपचरित शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय [१७४] ।

प्रयोग—ज्ञानस्वभावके कारण ज्ञानको अपना विलास करते देख एतदर्थ अपने वर्तमान उपयोगको अखण्ड एक प्रतिभासमात्र अन्तस्तत्त्वमे उपयुक्त करना ॥५४॥

अब इन्द्रियसुखका साधनीभूत इन्द्रियज्ञान हेय है, ऐसा उसको प्रकटरूपसे निन्दते हैं अर्थात् इन्द्रियज ज्ञानके प्रति हेयबुद्धि रखकर उसका अवगुण कहते है—[स्वयं अमूर्तः] स्वयं अमूर्त [जीव] जीव [मूर्तिगतः] मूर्त शरीरको प्राप्त होता हुआ [तेन मूर्तेन] उस मूर्त शरीरके द्वारा [योग्यं मूर्तं] योग्य मूर्त पदार्थको [अवगृह्य] अवग्रह करके [तत्] उसे [जा

अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति—

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं ।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ॥५५॥

आत्मा स्वयं अमूर्तिक, मूर्तिग मूर्तसे योग्य मूर्तोंको ।
अवग्रह कि जाने या, नहिं जाने ज्ञान वह क्या है ॥५५॥

जीवः स्वयममूर्तो मूर्तिगतस्तेन मूर्तिना मूर्तम् । अवगृह्य योग्यं जानाति वा तन्न जानाति ॥ ५५ ॥

इन्द्रियज्ञानं हि मूर्तोपलम्भकं मूर्तोपलभ्यं च तद्वान् जीवः स्वयममूर्तोऽपि पञ्चेन्द्रियात्मकं शरीरं मूर्तमुपागतस्तेन ज्ञप्तिनिष्पत्तौ बलाधाननिमित्ततयोपलम्भकेन मूर्तेन मूर्तं स्पर्शादिप्रधानं वस्तु परिच्छेद्यतामुपागतं योग्यमवगृह्य कदाचित्तदुपर्युपरि शुद्धिसंभवादवगच्छति, कदाचित्तदसंभवान्नावगच्छति । परोक्षत्वात् । परोक्षं हि ज्ञानमतिदृढतराज्ञानतमोग्रन्थिगुण्ठनान्निमीलि-

—ज्ञ्या शक्ते तरङ्गाया काकाक्षितारकवत् क्रमप्रवृत्तिवशादनेकत प्रकाशयितुमसमर्थत्वा
- दपि द्रव्यन्द्रियद्वारेषु न योगपद्येन निखिलेन्द्रियार्थावबोध सिद्धयेत्, परोक्षत्वात् ॥५६॥

बहु० । ते तानि अक्षा अक्षाणि–प्र० बहु० । त तानि–द्वितीया बहु० । हाति भवन्ति गेण्हति गृह्णन्ति–
न लट अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । निरुक्ति—स्पर्शन स्पर्श रसन रस, गन्धन गन्ध, वर्णन वर्ण,
न शब्द, अश्नोति इति अक्ष ॥ ५६ ॥

नाइन्द्रियके द्वारा ग्रहणयोग्य है रसप्रधान पुद्गल । (३) घ्राणेन्द्रियके द्वारा ग्रहण योग्य हैं
धप्रधान पुद्गल । (४) चक्षुरिन्द्रियके द्वारा ग्रहणयोग्य हैं वर्णप्रधान पुद्गल । (५) कर्ण
न्द्रियके द्वारा ग्रहणयोग्य हैं शब्दपरिणत पुद्गल । (६) इन्द्रियाँ मात्र अपने विषयको ग्रहण
रती हैं सो वे अपने विषयमे भी युगपत् प्रवृत्ति नहीं कर सकती, क्योंकि युगपत् ग्रहण कराने
ली क्षयोपशमन शक्ति होती ही नही है । (७) जसे कौवाकी आँखकी पुतलीका उपयोग
ानो आँखोसे हो रहा जचता है, ऐसे ही स्थूलदृष्टिसे क्षयोपशमनशक्तिजन्य ज्ञानका उपयोग
ीघ्र बदलनेसे इन्द्रियोके विषय एक साथ ज्ञात हो रहे जचते हैं परन्तु वस्तुत व क्रमसे ही
ात होते हैं । (८) इन्द्रियज्ञान हीन एव क्षोभहेतु होनेसे हेय है ।

सिद्धान्त—(१) इन्द्रियज्ञान हीन व पराधीन होनेसे अशुद्ध है ।

दृष्टि—१– अशुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार [८६] । विभावगुण व्यञ्जन
पर्यायदृष्टि [२१३] ।

प्रयोग—इन्द्रियज्ञानको अपूर्ण व हेय जानकर उससे उपेक्षा करके सहज ज्ञानकी
दृष्टिके बलसे ज्ञानका सहज परिणमन होने देना ॥ ५६ ॥

अब इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता, यह निश्चित करते हैं—[तानि अक्षाणि] वे
इन्द्रियां [परद्रव्य] परद्रव्य हैं [आत्मन स्वभाव इति] वे आत्मस्वभावरूप [न एव भणि
तानि] नहीं कहे गये हैं । [तै] उनके द्वारा [आत्मन] आत्माका [उपलब्ध] उपलब्ध
ज्ञान [प्रत्यक्षं] प्रत्यक्ष [कथ भवति] कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य—आत्मस्वभाव न होनेसे परद्रव्यरूप इन्द्रिया द्वारा प्राप्त हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष
नहीं हो सकता ।

टीकार्थ—केवल आत्माके प्रति ही नियत ज्ञान वास्तवमे प्रत्यक्ष है । परन्तु भिन्न
अस्तित्व वाली होनेसे परद्रव्यत्वको प्राप्त आत्मस्वभावको किंचिन्मात्र स्पर्श नहीं करती हुई
इन्द्रियो द्वारा उपलब्धि करके उत्पन्न हो रहा इन्द्रियज्ञान आत्माके प्रत्यक्ष नहीं हो सकता।

प्रसंग—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि इन्द्रियज्ञान अपने गर्भित
साथ प्रवृत्त न होनेसे हेय है । अब इस गाथामे निश्चय किया गया है कि

[illegible]ेन्द्रियाणां स्वविषयमात्रेऽपि युगपत्प्रवृत्त्यसंभवाद्धेयमेवेन्द्रियज्ञानमित्यवधारयति —

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति ।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥५६॥

स्पर्श रस गंध वर्ण रु, शब्द पुद्गल विषय है अक्षोंके ।
उनको भी ये इन्द्रिय, युगपत् नहिं ग्रहण कर सकतीं ॥५६॥

[illegible] रसो गन्धो वर्णः शब्दश्च पुद्गला भवन्ति । अक्षाणां तान्यक्षाणि युगपत्तान्नैव गृह्णन्ति ॥ ५६ ॥

[illegible] हि स्पर्शरसगन्धवर्णप्रधाना शब्दश्च ग्रहणयोग्याः पुद्गलाः । अथेन्द्रियैर्युग- [illegible], तथाविधक्षयोपशमनशक्तेरसंभवात् । इन्द्रियाणां हि क्षयोपशमसंज्ञिकायाः

[illegible] रस च गंध वण्ण सद्द च पुग्गल अक्ख त अक्ख जुगव त ण एव । धातुसंज्ञ—हो [illegible] । प्रातिपदिक—स्पर्श रस च गन्ध वर्ण शब्द च पुद्गल अक्ष तत् अक्ष युगपत् तत् न [illegible] ग्रहणे । उभयपदविवरण—फासो स्पर्शः रसो रसः गंधो गन्धः वण्णो [illegible] —अव्यय । पुग्गला पुद्गलाः—प्र० बहु० । अक्खाणं अक्षाणां—

परिच्छेत्र्या शक्ते नरङ्गाया काकाक्षितारकवत् क्रमप्रवृत्तिवशादनेकत प्रकाशयितुमसमर्थत्वा-त्सत्स्वपि द्रव्येन्द्रियद्वारेषु न यौगपद्येन निखिलेन्द्रियार्थावबोध सिद्धयेत्, परोक्षत्वात् ॥५६॥

षष्ठी बहु० । ते तानि अक्षा अक्षाणि–प्र० बहु० । त तानि–द्वितीया बहु० । हृति भवन्ति गेण्हति गृह्णन्ति–वनमान लट अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । निरुक्ति—स्पर्शन स्पर्श रसन रस, गन्धन गन्ध, वर्णन वर्ण शब्दन शब्द, अश्नोति इति अक्ष ॥ ५६ ॥

रसनाइन्द्रियके द्वारा ग्रहणयोग्य है रसप्रधान पुद्गल । (३) घ्राणइन्द्रियके द्वारा ग्रहण योग्य हैं गन्धप्रधान पुद्गल । (४) चक्षुरिन्द्रियके द्वारा ग्रहणयोग्य है वर्णप्रधान पुद्गल । (५) कर्ण इन्द्रियके द्वारा ग्रहणयोग्य हैं शब्दपरिणत पुद्गल । (६) इन्द्रियाँ मात्र अपने विषयको ग्रहण करती हैं सो वे अपने विषयमे भी युगपत् प्रवृत्ति नही कर सकती क्योकि युगपत् ग्रहण कराने वाली क्षयोपशमन शक्ति होती ही नही है । (७) जसे कौवाको आँखकी पुतलीका उपयोग दोनो आँखोसे ही रहा जचता है, ऐसे ही स्थूलदृष्टिसे क्षयोपशमनशक्तिजन्य ज्ञानका उपयोग शीघ्र बदलनेसे इन्द्रियोके विषय एक साथ ज्ञात हो रहे जचते हैं, परन्तु वस्तुत वे क्रमसे ही ज्ञात होते हैं । (८) इन्द्रियज्ञान हीन एव क्षोभहेतु होनेसे हेय है ।

सिद्धान्त—(१) इन्द्रियज्ञान हीन व पराधीन होनेसे अशुद्ध है ।

दृष्टि—१– अशुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्र प्रतिपादक व्यवहार [८६] । विभावगुण व्यञ्जन पर्यायदृष्टि [२१३] ।

प्रयोग—इन्द्रियज्ञानको अपूर्ण व हेय जानकर उससे उपेक्षा करके सहज ज्ञानकी दृष्टिके बलसे ज्ञानका सहज परिणमन होने देना ॥ ५६ ॥

अब इन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष नही होता, यह निश्चित करते हैं—[तानि अक्षाणि] वे इन्द्रियाँ [परद्रव्य] परद्रव्य हैं [आत्मन स्वभाव इति] वे आत्मस्वभावरूप [न एव भणितानि] नही कहे गये है । [तै] उनके द्वारा [आत्मन] आत्माका [उपलब्ध] उपलब्ध ज्ञान [प्रत्यक्ष] प्रत्यक्ष [कथ भवति] कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य—आत्मस्वभाव न होनेसे परद्रव्यरूप इन्द्रियो द्वारा प्राप्त हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष नही हो सकता ।

टीकार्थ—केवल आत्माके प्रति ही नियत ज्ञान वास्तवमें प्रत्यक्ष है । परन्तु भिन्न अस्तित्व वाली होनेसे परद्रव्यत्वको प्राप्त आत्मस्वभावको किंचिन्मात्र स्पर्श नही करती हुई इन्द्रियोके द्वारा उपलब्धि करके उत्पन्न हो रहा इन्द्रियज्ञान आत्माके प्रत्यक्ष नही हो सकता।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि इन्द्रियज्ञान अपने मर्यादित विषयमे भी एक साथ प्रवृत्त न होनेसे हेय है । अब इस गाथामें निश्चय किया गया है कि

[illegible]ज्ञानं न प्रत्यक्षं भवतीति निश्चिनोति—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा ।
उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ॥ ५७ ॥

इन्द्रिय परद्रव्य कहीं, वे नहिं होते स्वभाव आत्माके ।
उनसे जो जाना वह, आत्मप्रत्यक्ष कैसे हो ॥ ५७ ॥

[illegible] स्वभावा इत्यात्मनो भणितानि । उपलब्धं तैः कथं प्रत्यक्षमात्मनो भवति ॥ ५७ ॥

[illegible] प्रतिनियतं किल प्रत्यक्षं, इदं तु व्यतिरिक्तास्तित्वयोगितया परद्रव्य-[illegible] मनागप्यसंस्पृशद्भिरिन्द्रियैरुपलभ्योपजन्यमानं न नामात्मनः प्रत्यक्षं [illegible] ॥ ५७ ॥

अथ परोक्षप्रत्यक्षलक्षणमुपलक्षयति--

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमट्ठेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥५८॥

जो परसे अर्थोंका, ज्ञान हुआ वह परोक्ष बतलाया।
जो केवल आत्मासे, जाने प्रत्यक्ष कहलाता ॥ ५८ ॥

यत्परतो विज्ञानं तत्तु परोक्षमिति भणितमर्थेषु। यदि केवलेन ज्ञातं भवति हि जीवेन प्रत्यक्षम् ॥ ५८ ॥

यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्तःकरणादिन्द्रियात्परोपदेशादुपलब्धेः संस्कारादालोकादेर्वा निमित्ततामुपगतात् स्वविषयमुपगतस्यार्थस्य परिच्छेदनं तत् परतः प्रादुर्भवत्परोक्षमित्यालक्ष्यते। यत्पुनरन्तःकरणमिन्द्रियं परोपदेशमुपलब्धिसंस्कारमालोकादिकं वा समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्मस्वभावमेवैकं कारणत्वेनोपादाय सर्वद्रव्यपर्यायजातमेकपद एवाभिव्याप्य प्रवर्तमानं परिच्छेदनं तत् केवलादेवात्मनः संभूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते। इह हि सहजसौख्यसाधनीभूतमिदमेव महाप्रत्यक्षमभिप्रेतमिति ॥ ५८ ॥

नामसंज्ञ—जं परदो विण्णाण त तु परोक्ख त्ति भणिद अट्ठ जदि केवल णाद हि जीव पच्चक्ख। धातुसंज्ञ—भण कथने हव सत्तायां। प्रातिपदिक—यत् परतः विज्ञान तत् तु परोक्ष इति भणित अर्थ यदि केवल ज्ञात हि जीव प्रत्यक्ष। मूलधातु—भण शब्दार्थः भू सत्तायां। उभयपदविवरण—जं यत् विण्णाणं विज्ञानं तं तत् परोक्खं परोक्षं-प्र० ए०। परदो परतः-अव्यय पञ्चम्यर्थे। तु त्ति इति जदि यदि हि-अव्यय। भणिदं भणितं-प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। अट्ठेसु अर्थेषु-सप्तमी बहु०। केवलेण केवलेन जीवेण जीवेन-तृतीया एक०। णादं ज्ञातं पच्चक्खं प्रत्यक्षं-प्रथमा एक०। हवदि भवति-वर्तमान० अन्य० एक० क्रिया। निरुक्ति—अक्षं आत्मानं प्रतीत्य आश्रित्य उत्पद्यते इति प्रत्यक्षं ॥ ५८ ॥

द्रव्यार्थिकनय [२४अ]।

प्रयोग--इन्द्रियज्ञानकी उपेक्षा करके ज्ञानस्वभाव अन्तस्तत्त्वमें उपयुक्त होना ॥५७॥

अब परोक्ष और प्रत्यक्षके लक्षणको उपलक्षित करते हैं अर्थात् उनमें उनकी सभावना निरखकर उनके स्वरूपको प्रकट करते हैं--[परतः] परके द्वारा होने वाला [यत्] जो [अर्थेषु विज्ञानं] पदार्थसम्बन्धी विज्ञान है [तत् तु] वह तो [परोक्षं इति भणितं] परोक्ष कहा गया है [यदि] यदि [केवलेन जीवेन] मात्र जीवके द्वारा ही [ज्ञातं भवति] ज्ञान होता है [हि प्रत्यक्षं] वह ज्ञान वास्तवमें प्रत्यक्ष है।

तात्पर्य—इन्द्रियादिक परके निमित्तका अवलम्बन पाकर उत्पन्न हुआ ज्ञान परोक्ष है और मात्र आत्मासे हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष है।

टीकार्थ—निमित्तताको प्राप्त परद्रव्यभूत मन इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि, संस्कार

समलमसम्यगवबोधेन, अवग्रहादिसहित क्रमकृतार्थग्रहणखेदेन परोक्ष ज्ञानमत्यन्तमाकुल भवति। ततो न तत् परमार्थत सौख्यम्। इद तु पुनरनादिज्ञानसामान्यस्वभावस्योपरि महाविकाशेनाभिव्याप्य स्वत एव व्यवस्थितत्वात्स्वय जायमानमात्माधीनतया, समन्तात्मप्रदेशान् परमसमक्षज्ञानोपयोगीभूयाभिव्याप्य व्यवस्थितत्वात्समन्तम् अशेषद्वारापावरणेन प्रसभं निपीतसमस्त-

अणतत्थवित्थड अनन्तार्थविस्तृत विमल रहिय रहित सुह सुख एगतिय ऐकान्तिक–प्र० ए०। ओग्गहादिहि अवग्रहादिभि –तृतीया बहु०। भणिद भणित–प्र० एक० कृदन्त क्रिया। निरुक्ति—अन्तातीत अर्थान्

सिद्धान्त—(१) इन्द्रियज्ञानमे सस्कारवशवर्ती अल्पज्ञ आत्माका बोध है। (२) अतीन्द्रिय ज्ञानमे सस्कारादिकी आवश्यकतासे शून्य सर्वज्ञ आत्माका बोध है।

दृष्टि—१– अस्वभावनय [१८०]। २– स्वभावनय [१७६]।

प्रयोग—अपनको सस्कारादिशून्य सहज ज्ञानस्वभावमात्र निरखना ॥५८॥

अब इसी प्रत्यक्षज्ञानको पारमार्थिक सुखरूपसे अपने पास रखते हैं अर्थात् पारमार्थिक सुखमय प्रत्यक्ष ज्ञानको अपनेमे रखनेकी तीव्र भावनासहित उसका स्वरूप बतलाते हैं—[स्वय जात] अपने आप ही उत्पन्न [समत] आत्माके सब प्रदेशोमे हुआ [अनन्तार्थविस्तृत] अनन्त पदार्थोंमे विस्तृत [विमल] निर्दोष [तु] और [अवग्रहादिभि रहित] अवग्रहादिसे रहित [ज्ञान] ज्ञान [ऐकान्तिक सुख] एकान्तिक अर्थात् सर्वथा सुखरूप [इति भणित] ऐसा सर्वज्ञदेवके द्वारा कहा गया है।

तात्पर्य—केवल ज्ञान स्वय सहजानन्दमय है।

टीकार्थ—स्वय उत्पन्न होनेसे, समत होनेसे, अनन्त पदार्थोंमे विस्तृत होनेसे निर्मल होनेसे और अवग्रहादिरहित होनेसे, प्रत्यक्षज्ञान सर्वथा परिपूर्ण सुख है यह निश्चित होता है, क्योकि सुखका एक मात्र अनाकुलता ही लक्षण है। चूकि परोक्ष ज्ञान (१) 'परके द्वारा उत्पन्न' होता हुआ पराधीनताके कारण, (२) इतर द्वारोके आवरणके कारण, (३) अन्य पदार्थोंको जाननेकी इच्छाके कारण (४) 'समल' होता हुआ मिथ्या अवबोधके कारण और (५) 'अवग्रहादि सहित' होता हुआ क्रमश होने वाले पदार्थग्रहणके खेदके कारण अत्यन्त आकुल है, इसलिये वह परमार्थसे सुख नही है। परन्तु यह प्रत्यक्षज्ञान (१) अनादि ज्ञान सामान्यरूप स्वभावपर महाविकाससे व्याप्त होकर स्वत ही व्यवस्थित होनेसे स्वयं उत्पन्न होता हुआ स्वाधीनताके कारण (२) समस्त आत्मप्रदेशोमे परम प्रत्यक्ष ज्ञानोपयोगरूप होकर व्याप्त करके रहनेसे समत होता हुआ समस्त द्वारोके निरावरण होनेके कारण, (३) बिल्कुल पी लिये गये समस्त वस्तुओके ज्ञेयाकार रहनेसे अनन्त पदार्थोंमे विस्तृत होता हुआ सब

अथ केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य सम्भवादैकान्तिकसुखत्वं नास्तीति प्रत्याचष्टे—

जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ॥६०॥

केवल ज्ञान हि सुख है है वह परिणामरूप हो तो भी।
खेद न रंच कहा है क्योंकि घातिकर्म नष्ट हुए ॥ ६० ॥

यत्केवलमिति ज्ञानं तत्सौख्यं परिणामश्च स चैव। खेदस्तस्य न भणितो यस्मात् घातीनि क्षयं जातानि ॥६०॥

अत्र को हि नाम खेदः कश्च परिणामः कश्च केवलसुखयोर्व्यतिरेकः, यतः केवलस्यैकान्तिकसुखत्वं न स्यात्। खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, न नाम केवलं परिणाममात्रम्। घातिकर्माणि हि महामोहोत्पादकत्वादुन्मत्तकवदतस्मिंस्तद्बुद्धिमाधाय परिच्छेद्यमर्थं प्रत्यात्मानं यतः परिणामयंति, ततस्तानि तस्य प्रत्यर्थं परिणम्य परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यंते, तदभावात्कुतो हि नाम केवले खेदस्योद्भेदः। यतश्च त्रिसमयावच्छिन्नसकलपदार्थपरि

नाममंज्ञ—ज केवल ति णाण त सोक्ख परिणम च त त एव खेद त ण भणिद ज घादि खय जाद। धातुसंज्ञ—भण कथने जा प्रादुर्भावे। प्रातिपदिक—यत् केवल इति ज्ञान तत् सौख्य परिणाम च तत् च एव खेद तत् न भणित यत् घाति क्षय जात। मूलधातु—भण शब्दार्थे जनी प्रादुर्भावे। उभयपदविवरण—ज यत् केवल णाण ज्ञान त तत् सोक्खं सौख्यं परिणम परिणाम सो स खेदो खेद:-प्रथमा एकवचन।

अब केवलज्ञानके भी परिणामके द्वारा खेदकी सम्भवता होनेसे ऐकान्तिक सुखपना नहीं है' इस अभिप्रायका खंडन करते हैं—[यत्] जो [केवल इति ज्ञान] 'केवल' नामका ज्ञान है [तत् सौख्य] वह सुख है [परिणाम च] परिणाम भी [स च एव] वही है [तस्य खेद न भणित] उसके खेद नहीं कहा गया है, [यस्मात्] क्योंकि [घातीनि] घातियाकर्म [क्षय जातानि] क्षयको प्राप्त हुए हैं।

तात्पर्य—केवलज्ञान परिणमन तो स्वाभाविक परिणमन है अतः उसमें खेद नहीं हो सकता।

टीकार्थ—यहाँ केवलज्ञानके सम्बन्धमें, वास्तवमें खेद क्या, परिणमन क्या तथा केवलज्ञान और सुखका भेद क्या, जिससे कि केवलज्ञानको ऐकान्तिक सुखपना न हो? निषेध—चूंकि (१) खेदके आयतन घातिकर्म हैं केवल परिणमन मात्र नहीं। घातिकर्म महामोहके उत्पादक होनेसे पागलकी तरह अतत्में तत् बुद्धि धारण करवाकर आत्माको ज्ञेयपदार्थके प्रति परिणमन कराते हैं, इस कारण वे घातिकर्म प्रत्येक पदार्थके प्रति परिणमित हो होकर थकने वाले आत्माके लिये खेदके कारणपनेको प्राप्त होते हैं। उन घातिकर्मोंका अभाव होनेसे केवल

अथ पुनरपि केवलस्य सुखस्वरूपता निरूपयन्नुपसंहरति—

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी ।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु तं लद्धं ॥ ६१ ॥

ज्ञान अर्थान्तगत है दृष्टि है लोकालोकमें विस्तृत ।
नष्ट अनिष्ट हुआ सब जो परमेष्ट वह लब्ध हुआ ॥६१॥

ज्ञानमर्थान्तगतं लोकालोकेषु विस्तृता दृष्टिः । नष्टमनिष्टं सर्वमिष्टं पुनर्यत्तु तल्लब्धम् ॥ ६१ ॥

स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम् । आत्मनो हि दृशिज्ञप्ती स्वभावः तयोर्लोकालोकविस्तृतत्वेनार्थान्तगतत्वेन च स्वच्छन्दविजृम्भितत्वाद्भवति प्रतिघाताभावः । ततस्तद्धेतुकं सौख्यमभेदविवक्षायां केवलस्य स्वरूपम् । किंच केवलं सौख्यमेव सर्वानिष्टप्रहाणात् सर्वेष्टोप

नामसंज्ञ—णाण अत्थंतगय लोयालोय वित्थडा दिट्ठि णट्ठ अणिट्ठ स व इट्ठ पुण ज तु त लद्ध । धातुसंज्ञ—दिस प्रेक्षणे नस्स नाशे लभ प्राप्तौ । प्रातिपदिक—ज्ञान अर्थान्तगत लोकालोक विस्तृता दृष्टि नष्ट अनिष्ट सर्व इष्ट पुनर् यत् तु लब्ध । मूलधातु—दृशिर् दर्शने णश अदर्शने दिवादि डुलभष् प्राप्तौ । उभयपदविवरण—णाणं ज्ञानं अत्थंगदं अर्थान्तगतं णट्ठं नष्टं अणिट्ठं अनिष्टं सव्वं सर्वं इट्ठं इष्टं जं यत्

कल्पनाओंसे थककर खेद किया करता है । (९) घातिया कर्मोंका अभाव होनेपर खेदका आयतन न रहनेसे केवलज्ञानमें खेद बिल्कुल असंभव है । (१०) केवलज्ञान परिणमन उस आत्माके ही है जिसके घातिया कर्म क्षीण हो चुकनेसे विद्यमान ही नहीं है । (११) निरुपाधि ज्ञान केवलज्ञान केवलज्ञानरूप प्रतिसमय परिणमन हो होकर अनन्तकाल अनन्ता केवलज्ञानरूप परिणमता रहेगा । (१२) परमात्म पदार्थके परिणमन न हों तो केवलज्ञान नष्ट ही हो जावेगा । (१३) त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेयोंके आकारादिके अनुरूप प्रतिबिम्बित व तदाकारमय आत्माको जाननेरूप परिणमना यही केवलज्ञान परिणमन है सो यह स्वाभाविक है और यह परिणमन सहज आनन्दका अविनाभावी है । (१४) केवलज्ञान सर्वथा अपरिणामी नहीं है, किन्तु वह ज्ञेयपरिवर्तन नहीं करता अर्थात् त्रैकालिक समस्त ज्ञेयाकारोंको सर्वदा जानता रहता है जो कि स्वभावानुरूप विकास है वहां खेदकी गुंजाइश ही नहीं । (१५) केवलज्ञान स्वयं सहज असीम आनन्दमय है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्ध आत्मा केवलज्ञानमय है और अनन्तआनन्दमय है ।

दृष्टि—१- अभेद शुद्ध सद्भूत व्यवहार [७२] ।

प्रयोग—आकुलताके साधनीभूत इन्द्रियज्ञानको हेय जानकर तथा अनन्त शुद्ध सहज आनन्दके परमसाधनीभूत अतीन्द्रियज्ञानको उपादेय जानकर अतीन्द्रियज्ञानके स्रोत उपादान

अथ परोक्षज्ञानिनामपारमार्थिकमिन्द्रियसुखं विचारयति--

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुदा इंदियेहि सहजेहि ।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥ ६३ ॥

नृसुरासुरेन्द्र पीडित, प्राकृतिक इन्द्रियोंके द्वारा ही ।
उस दुखको न सहन कर, रमते हैं रम्य विषयोंमें ॥६३॥

मनुजासुरामरेन्द्रा अभिद्रुता इन्द्रियैः सहजैः । असहमानास्तद्दुःखं रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥ ६३ ॥

अमीषां प्राणिनां हि प्रत्यक्षज्ञानाभावात्परोक्षज्ञानमुपसर्पतां तत्सामग्रीभूतेषु स्वरसत एवेन्द्रियेषु मैत्री प्रवर्तते । अथ तेषां तेषु मैत्रीमुपगतानामुदीर्णमहामोहकालानलकवलितानां तप्तायोगोलानामिवात्यन्तमुपात्ततृष्णानां तद्दुःखवेगमसहमानानां व्याधिसात्म्यतामुपगतेषु रम्येषु

नामसंज्ञ—मणुआसुरामरिंद अहिद्दुद इंदिय सहज असहंत त दुक्ख विसय रम्म । धातुसंज्ञ—अहि दु उपतापे, सह सहने, रम क्रीडायां । प्रातिपदिक—मनुजासुरामरेन्द्र अभिद्रुत इन्द्रिय सहज असहमान तत् दुःख विषय रम्य । मूलधातु—अभि द्रुज हिंसायां षह मर्षणे, रमु क्रीडायां । उभयपदविवरण—मणुआसुरामरिंदा मनुजासुरामरेन्द्राः अहिद्दुदा अभिद्रुताः असहंता असहमानाः—प्र० बहु० । इंदियेहिं इन्द्रियैः सहजेहिं सहजैः—तृतीया बहु० । तं तत् दुक्खं दुःखं—द्वितीया एक० । रमंति रमन्ते—वर्तमान० अन्य० बहु० ।

होना ॥६२॥

अथ यावदिन्द्रियाणि तावत्स्वभावादेव दुःखमेव वितर्कयति—

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं ।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥६४॥

जिनकी विषयोंमें रति, उनके तो क्लेश प्राकृतिक जानो ।
यदि हो न प्राकृतिक दुख विषयार्थ प्रवृत्ति नहिं होती ॥६४॥

येषां विषयेषु रतिस्तेषां दुःखं विजानीहि स्वाभावम् । यदि तन्न हि स्वभावं व्यापारो नास्ति विषयार्थम् ॥

येषां जीवदवस्थानि हतकानीन्द्रियाणि, न नाम तेषामुपाधिप्रत्ययं दुःखम्, किंतु स्वाभाविकमेव, विषयेषु रतेरवलोकनात् । अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य करेणुकुट्टनीगात्रस्पर्श इव, सफरस्य बडिशामिषस्वाद इव इन्दिरस्य सङ्कोचसम्मुखारविन्दामोद इव पतङ्गस्य प्रदीपार्चीरूप इव, कुरङ्गस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदनावशीकृतानामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपातः । यदि पुनर्न तेषां दुःखं स्वाभाविकमभ्युपगम्येत तदोपशान्तशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाहज्वरस्यारनालपरिषेक इव, निवृत्तनेत्रसंरम्भस्य च वटाचूर्णावचूर्णनमिव

नामसंज्ञ—ज विसय रदि त दुक्ख सब्भाव जइ त ण हि सब्भाव वावार ण विसयत्थ । धातुसंज्ञ—वि जाण अवबोधने अस सत्तायां । प्रातिपदिक—यत् विषय रति तत् दुःख स्वाभाव यदि तत् न हि स्वाभाव व्यापार न विषयार्थ । मूलधातु—वि ज्ञा अवबोधने वि आ पृङ् व्यायामे तुदादि पार कर्मसमाप्तौ चुरादि, अस भुवि । उभयपदविवरण—जेसिं येषां-षष्ठी बहु० । विसयेसु विषयेषु-सप्तमी बहु० । रदी रतिः-प्र० ए० । तेसिं तेषां-षष्ठी बहु० । दुक्खं दुःखं सब्भावं स्वाभावं-द्वि० एक० । वियाण विजानीहि-आज्ञार्थे लोट् मध्यम पुरुष एक० क्रिया । जइ यदि ण न हि-अव्यय । सब्भावं स्वाभावं वावारो व्यापार—

टीकार्थ—जिनकी हतक (हत्यारी निकृष्ट) इन्द्रियां जीवित हैं उनके उपाधिके कारण दुःख नहीं है, किन्तु स्वाभाविक ही है, क्योंकि उनकी विषयोंमें रति देखी जाती है । हाथीका हथिनीरूपी कुट्टिनीके शरीरस्पर्शकी तरह, मछलीका वंसीमें फंसे हुए मांसके स्वादकी तरह, भ्रमरका बन्द हो जाने वाले कमलके गंधकी तरह, पतंगका दीपककी ज्योतिके रूपकी तरह और हिरनका शिकारीके संगीतके स्वरकी तरह दुर्निवार इन्द्रियवेदनाके वशीभूत होते हुए उनके निकट याने विषयोंमें अभिपात होता है अर्थात् विषयोंसे नाश अति निकट है, विषय क्षणिक हैं तो भी विषयोंकी ओर दौड़ते दिखाई देते हैं । और यदि उनका दुःख स्वाभाविक स्वीकार न किया जावे तो जिसका शीतज्वर उपशांत हो गया है, उसके पसीना आनेके लिए उपचार करनेकी तरह तथा जिसका दाहज्वर उतर गया है उसके आरनालसे शरीरके परिषेक करनेकी तरह तथा जिसकी आंखोंका दुःख दूर हो गया है उसके वटाचूर्ण आंजनेकी तरह—

शर्थंतदेव दृढयति—

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥६६॥

स्वर्गमें भी नियमसे, देहीके देहसे नहीं सुख है।
विषयवशसे स्वयं यह, सुख व दुखरूप होता है ॥६६॥

एकान्तेन हि देहः सुखं न देहिनः करोति स्वर्गे वा। विषयवशेन तु सौख्यं दुःखं वा भवति स्वयमात्मा ॥६६॥

अयमत्र सिद्धांतो यद्दिव्यवैक्रियिकत्वेऽपि शरीरं न खलु सुखाय कल्प्यतेतीष्टानामनिष्टानां वा विषयाणां वशेन सुखं वा दुःखं वा स्वयमेवात्मा स्यात् ॥ ६६ ॥

नामसंज्ञ—एगंत हि देह सुह ण देहि सग्ग विसयवस दु सोक्ख दुक्ख वा सय अत्त। धातुसंज्ञ—कुण करणे हव सत्तायां। प्रातिपदिक—एकान्त हि देह सुख देहिन् स्वर्ग वा विषयवश तु सौख्य दुःख स्वयं आत्मन्। मूलधातु—डुकृञ् करणे, भू सत्तायां। उभयपदविवरण—एगंतेण एकान्तेन-तृतीया एक०। देहो देहः सोक्खं सौख्यं दुक्खं दुःखं आदा आत्मा-प्र० एक०। सुहं सुखं-द्वितीया एक०। देहिस्स देहिनः-षष्ठी एक०। विसयवसेण विषयवशेन-तृतीया एक०। हवदि भवति-वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। निरुक्ति—अतति (सततं गच्छति जानाति) इति आत्मा। समास—विषयस्य वशः विषयवशः तेन ॥६६॥

टीकार्थ—यहाँ यह सिद्धान्त है कि दिव्य वैक्रियिकपना होनेपर भी शरीर सुखके लिये नहीं माना जाता, यह सुनिश्चित है आत्मा स्वयं ही इष्ट अथवा अनिष्ट विषयोंके वशसे सुख अथवा दुःखरूप स्वयं ही होता है।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें मुक्तात्मावोंके आनन्दकी प्रसिद्धिके लिये शरीरके सुखसाधनपनेका निराकरण किया था। अब इस गाथामें उसी दृष्टिको सुखसाधनताके निराकरणको दृढ किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) शरीर जीवको सुख या दुःख नहीं देता। (२) इष्ट अनिष्ट विषयोंके वशमें सुख व दुःखरूप स्वयं ही जीव होता है। (३) देवोंका वैक्रियिक शरीर सुखका कारण नहीं। (४) नारकियोंका वैक्रियिक शरीर दुःखका कारण नहीं। (५) जीव ही स्वयं कल्पनावश सुख अथवा दुःखरूप परिणमता है।

सिद्धांत—(१) परद्रव्य आत्माके परिणमनका निश्चयकारण नहीं।

दृष्टि—१- प्रतिषेधक शुद्धनय [४९अ]।

प्रयोग—सत्य सहज आनन्दके लाभके लिये सहजानन्दके स्रोतभूत सहज ज्ञानस्वभावकी उपासना करना ॥ ६६ ॥

अब आत्माको स्वयं ही सुखपरिणामकी शक्तिसे युक्त होनेसे विषयोंकी अकिंचित्कर

अथात्मनः स्वयमेव सुखपरिणामशक्तियोगित्वाद्विषयाणामकिंचित्करत्वं द्योतयति--

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं।
तह सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥६७॥

जिसकी दृष्टि तिमिरहर, उसको नहिं कार्य दीपसे ज्यों कुछ।
त्यों आत्मा सौख्यमयी, वहां विषय कार्य क्या करते ॥ ६७ ॥

तिमिरहरा यदि दृष्टिर्जनस्य दीपेन नास्ति कर्तव्यम्। तथा सौख्यं स्वयमात्मा विषयाः किं तत्र कुर्वन्ति ॥

यथा हि केषांचिन्नक्तंचराणां चक्षुषः स्वयमेव तिमिरविकरणशक्तियोगित्वान्न तदपा-

करणप्रवणेन प्रदीपप्रकाशादिना कार्यं, एवमस्यात्मनः संसारे मुक्तौ वा स्वयमेव सुखतया परिणममानस्य सुखसाधनधिया अबुधैर्मुधाध्यास्यमाना अपि विषयाः किं हि नाम कुर्युः ॥६७॥

दृष्टि सौक्ख सौख्य आदा आत्मा-प्रथमा एक०। जइ यदि ण न नह तथा सयं स्वयं तत्थ तत्र-अव्यय। किं-अव्यय या द्वि० एक०। जणस्स जनस्य-षष्ठी एक०। दीवण दीपन-तृतीया एक०। अत्थि अस्ति-वर्तमान लट् अन्य० एक० क्रिया। कायव्वं कर्तव्य-प्रथमा ए० कृदन्त क्रिया। विसया विषया-प्र० बहु०। कुव्वंति कुर्वन्ति-वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन ॥ ७॥

कर्ता मानकर व्यर्थ ही विषयोंका आश्रय करते है।

सिद्धान्त—(१) विषयोंको जीवसुखका कर्ता कहना मात्र उपचार है। (२) जीव अपनी सुखपरिणमनशक्तिसे परिणमता है।

दृष्टि—१- परकर्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहार [१२६ब] आश्रय आश्रयी उपचारक व्यवहार [१५१]। २- उपादानदृष्टि [४६ब]।

प्रयोग—परपदार्थको अपने सुखपरिणमनमें अकिञ्चित्कर जानकर और स्वयंको ही आनन्दस्वरूप पहिचानकर परविकल्पसे हटना और अविकल्प सहजानन्दधाम सहजचित्स्वभावमें उपयोग लगाना ॥ ६७॥

अब आत्माका सुखस्वभावत्व दृष्टान्त द्वारा दृढ करते हैं—[यथा] जैसे [नभसि] आकाशमें [आदित्यः] सूर्य [स्वयमेव] अपने आप ही खुद [तेजः] तेज [उष्णः] उष्ण [च] और [देवता] देव है [तथा] उसी प्रकार [लोके] लोकमें [सिद्धः अपि] सिद्ध भगवान भी अपने आप ही स्वयं [ज्ञानं] ज्ञान [सुखं च] सुख [तथा देवः] और देव है।

तात्पर्य—भगवान स्वयं ही अनन्तज्ञानमय अनन्तानन्दमय और देवस्वरूप है।

टीकार्थ—जैसे आकाशमें अन्य कारणकी अपेक्षा रखे बिना ही सूर्य स्वयमेव अत्यधिक प्रभा समूहसे चमकते हुए स्वरूपके द्वारा विकसित प्रकाशयुक्त होनेसे तेज है और जैसे कभी उष्णतारूप परिणमित लोहेके गोलेकी तरह सदा उष्णतापरिणामको प्राप्त होनेसे उष्ण है और जैसे देवगतिनामकर्मके धारावाहिक उदयके वशवर्ती स्वभावपनेसे देव है इसी प्रकार लोकमें अन्य कारणकी अपेक्षा रखे बिना ही भगवान आत्मा भी स्वयमेव स्वपरको प्रकाशित करनेमें समर्थ यथार्थ अनन्तशक्तियुक्त सहज संवेदनके साथ तादात्म्य होनेसे ज्ञान है और उसी प्रकार आत्मतृप्तिसे उत्पन्न होने वाली परिनिवृत्तिसे प्रवर्तमान अनाकुलतामें सुस्थितताके कारण सौख्य है, और उसी प्रकार जिन्हें आत्मतत्त्वकी उपलब्धि निकट है ऐसे बुधजनोंके मनरूपी शिलास्तम्भमें जिसकी अतिशय द्युति स्तुति उत्कीर्ण है ऐसा दिव्य आत्मस्वरूपवान होनेसे देव है। इस कारण इस आत्माको सुखसाधनाभासके विषयोंसे बस हो। इस प्रकार यह आनन्द प्रकरण पूर्ण हुआ। अब यहां शुभपरिणामका अधिकार प्रारम्भ होता है।

सिद्धात्मनः सुखस्वभावत्वं दृष्टान्तेन दृढयति—

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे तहा देवो ॥६८॥

स्वयमेव सूर्य नभमें, तेजस्वी उष्ण देव है जैसे ।
स्वयमेव सिद्ध सुखमय, ज्ञान तथा देव है तैसे ॥६८॥

अथेंद्रियसुखस्वरूपविचारमुपक्रममाणस्तत्साधनस्वरूपमुपन्यस्यति—

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु ।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥६९॥

देवगुरुभक्तिमें नित, दान सदाचार अनशनादिकमें ।
जो प्रवृत्त आत्मा वह, है सरल शुभोपयोगात्मक ॥६९॥

देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु । उपवासादिषु रक्त शुभोपयोगात्मक आत्मा ॥ ६९ ॥

यदायमात्मा दुःखस्य साधनीभूतां द्वेषरूपामिंद्रियार्थानुरागरूपां चाशुभोपयोगभूमिका-

नामसंज्ञ—देवदजदिगुरुपूजा च एव दाण वा सुसील उववासादि रत्त सुहोव ओगप्पग अप्प । धातुसंज्ञ—रञ्ज रागे । प्रातिपदिक—देवतायतिगुरुपूजा च एव दान वा सुशील उपवासादि रक्त शुभोपयोगात्मक आत्मन् । मूलधातु—रञ्ज रागे । उभयपदविवरण—देवदजदिगुरुपूजासु देवतायतिगुरुपूजासु सुसीलेसु

मे सातिशय द्युति स्तुति जिसकी प्रतिफलित है, ऐसा दिव्यस्वरूप भगवान आत्मा देव है। ८– जो स्वयं ज्ञान है, स्वयं आनन्द है, स्वयं देव है उस आत्माको सुखसाधनाभासोंसे क्या प्रयोजन है ? ९– भगवानकी तरह सब जीवोंका स्वभाव है अतः आनंदाभिलाषी जीवोंको विषयावलंबनकी कल्पना छोड़कर सहजानन्दस्वभावमय अन्तस्तत्त्वकी उपासना करनी चाहिये।

सिद्धान्त—१– भगवान आत्मा अपने ही स्वरूपसे प्रकट स्वतंत्र ज्ञानानन्द विलासका अनुभव करता है।

दृष्टि—१– अनीश्वरनय [१८६]।

प्रयोग—परिपूर्ण अनाकुल रहनेके लिये अपने सहजानन्दस्वभावमय सहज आत्मस्वरूप अन्तस्तत्त्वमें उपयोग रमाना ॥६८॥

अब इन्द्रियसुखस्वरूप सम्बन्धी विचारको लेते हुए आचार्य इन्द्रियसुखके साधनभूत शुभोपयोगके स्वरूपको समापमें धरोहरवत् धरते हैं अर्थात् जैसे दूसरेकी धरोहर बिना ममता के धरी जाती है ऐसे शुभोपविषयक बातका प्रसंग करते हुए भी उसका ममत्व न कर स्वरूप को कहते हैं—[देवतायतिगुरुपूजासु] देव, यति व गुरुकी पूजामें [दाने च एव] और दानमें [सुशीलेषु वा] एवं सुशीलोंमें [उपवासादिषु] और उपवासादिकमें [रक्तः आत्मा] अनुरागी आत्मा [शुभोपयोगात्मकः] शुभोपयोगात्मक है।

तात्पर्य—मोक्षमार्गके साधकोंकी सेवादिक शुभानुष्ठानोंमें अनुरागी शुभोपयोगी जीव है।

टीकार्थ—जब यह आत्मा दुःखकी साधनीभूत द्वेषरूप तथा इन्द्रियविषयकी अनुराग

अथ शुभोपयोगसाध्यत्वेनेन्द्रियसुखमाख्याति—

जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा ।
भूदो तावदि कालं लहदि सुहं इन्दियं विविहं ॥७०॥

शुभयुक्त जीव होकर तिर्यञ्च मनुष्य देवगति वाला ।
उतने काल विविध इन्द्रियसुखको प्राप्त करता है ॥७०॥

युक्तः शुभेन आत्मा तिर्यग्वा मानुषो वा देवो वा । भूतस्तावत्कालं लभते सुखमैन्द्रियं विविधम् ॥ ७० ॥

अयमात्मेन्द्रियसुखसाधनीभूतस्य शुभोपयोगस्य सामर्थ्यात्तदधिष्ठानभूतानां तिर्यग्मानुषदेवत्वभूमिकानामन्यतमां भूमिकामवाप्य यावत्कालमवतिष्ठते तावत्कालमनेकप्रकारमिन्द्रियसुखं समासादयतीति ॥७०॥

नामसंज्ञ—जुत्त सुह अत्त तिरिय वा माणुस देव वा भूद तावदि काल सुह इंदिय विविह । धातुसंज्ञ—भव सत्तायां लभ प्राप्तौ । प्रातिपदिक—युक्त शुभ आत्मन् तिर्यच् वा मानुष देव भूत तावत् काल सुख इन्द्रिय विविध । मूलधातु—भू सत्तायां डुलभष् प्राप्तौ । उभयपदविवरण—जुत्तो युक्तः आदा आत्मा तिरियो तिर्यग् माणुसो मानुषः देवो देवः—प्रथमा एक० । सुहेण शुभेन—तृतीया एक० । लहदि लभते—वर्तमान अन्य पुरुष एक० क्रिया । सुहं सुखं इंदियं ऐन्द्रियं विविहं विविधं—द्वितीया ए० । भूदो भूतः—प्रथमा एक० । तावत् कालं—अव्यय । निरुक्ति—शोभत इति शुभं दीव्यतीति देवः ॥७०॥

[लभते] प्राप्त करता है ।

टीकार्थ—यह आत्मा इन्द्रियसुखके साधनभूत शुभोपयोगकी सामर्थ्यसे उसके आधारभूत तिर्यंच मनुष्य और देवत्वकी भूमिकाओंमें से किसी एक भूमिकाको प्राप्त करके जितने समय तक उसमें रहता है उतने समय तक अनेक प्रकारके इन्द्रियसुखको प्राप्त करता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें इन्द्रियसुखके साधनके स्वरूपका निर्देश किया था । अब इस गाथामें इन्द्रियसुखको शुभोपयोग द्वारा साध्यपनेसे प्रकट किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—१—इन्द्रियसुखका मूल साधन है शुभोपयोग । २—शुभोपयोगके सामर्थ्यसे तिर्यंच मनुष्य व देव—इनमें से किसी भी पर्यायमें आत्मा आता है रहता है । ३—जब तक यह आत्मा तिर्यंच मनुष्य व देव पर्यायमें रहता है तब तक यह इन्द्रियसुखको प्राप्त करता है ।

सिद्धान्त—१—शुभोपयोगके निमित्तसे सातादि पुण्यप्रकृतियोंका बन्ध होता है । २—सातादि पुण्यप्रकृतियोंके उदयके निमित्तसे जीव इन्द्रियसुखको पाता है । ३—इन्द्रियसुखके निमित्तका निमित्त होनेसे इन्द्रियसुखका मूल साधन शुभोपयोग है ।

दृष्टि—१, २—निमित्तदृष्टि [५३अ] । ३—निमित्तपरम्परादृष्टि [५३अ] ।

अथ शुभोपयोगजन्य फलवत्पुण्य विशेषेण दूषणायमभ्युपगम्योत्थापयति--

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहि ।
देहादीण विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥७३॥

वज्रधर चक्रधर भी, शुभोपयोग फलरूप भोगोंमे ।
सुखकल्पो भोगनिरत देहादिक पुष्ट करते हैं ॥७३॥

कुलिशायुधचक्रधरा शुभोपयोगात्मकै भोगै । देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति सुखिता इवाभिरता ॥७३॥

यतो हि शक्राश्चक्रिणश्च स्वेच्छोपगतभोगैः शरीरादीन् पुष्णन्तस्तेषु दुष्टशोणित इव जलौकसोऽत्यन्तमासक्ताः सुखिता इव प्रतिभासन्ते । ततः शुभोपयोगजन्यानि फलवन्ति पुण्यान्यवलोक्यन्ते ॥७३॥

अथैवमभ्युपगतानां पुण्यानां दुःखबीजहेतुत्वमुद्भावयति—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥ ७४ ॥

शुभ उपयोगजनित जो, नानाविध पुण्य विद्यमान हुए।
उनसे हि विषय तृष्णा, देवो तकके भि जीवोके ॥७४॥

यदि सन्ति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि। जनयन्ति विषयतृष्णा जीवन्ना देवतान्तानाम्।

यदि नामैवं शुभोपयोगपरिणामकृतसमुत्पत्तीन्यनेकप्रकाराणि पुण्यानि विद्यन्त इत्य-
भ्युपगम्यते तदा तानि सुधाशनानामप्यवधिं कृत्वा समस्तसंसारिणां विषयतृष्णामवश्यमेव

समुत्पादयन्ति। न खलु तृष्णामन्तरेण दुष्टशोणित इव जलूकानां समस्तसंसारिणां विषयेषु प्रवृत्तिरवलोक्येत। अवलोक्यते च सा। ततोऽस्तु पुण्यानां तृष्णायतनत्वमबाधितमेव ॥७४॥

वस्तुचा णिजन्त क्रिया। विसयतण्ह विषयतृष्णा-द्वितीया एक०। जीवाण जीवानां देवदत्तान्ता नाना-षष्ठी बहु०। निरुक्ति—पूयते जनयन्ति पुण्य निविष्टं त स्वात्मकतया विषयिण मवधारि इति विषया तृष्यन् जनयति तृष्णा। समास—परिणामात् समुद्भवानि पर० विषयाणां तृष्णा वि० ॥७४॥

देती है। इस कारण पुण्योंकी तृष्णायतनपना अबाधित ही है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुभोपयोगजन्य पुण्यकर्मका दूषण स्पष्ट किया गया था। अब इस गाथामें उन पुण्यकर्मोंकी दुःखकारणताको प्रकट किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) शुभोपयोगके परिणामसे अनेक प्रकारके पुण्यकर्म बन जाते हैं। (२) वे पुण्यकर्म बड़ेसे बड़े प्राणी देवेन्द्रो तकके संसारियोंके विषयतृष्णाको उत्पन्न करते हैं। (३) यदि उन पुण्यकर्म वाले बड़े प्राणियोंके पुण्यकर्म विषयतृष्णाजनक न होते तो उनकी विषयोंमें प्रवृत्ति न देखी जाती। (४) पुण्योदय वाले प्राणियोंके विषयतृष्णा व विषयप्रवृत्ति देखी जाती है, अतः अबाधित सिद्ध है कि पुण्यकर्म तृष्णाके घर ही हैं। (५) वास्तवमें पुण्यकर्म सुखके साधन तो क्या होंगे वे तो दुःखके बीजरूप तृष्णाके ही घर है।

सिद्धान्त—(१) तृष्णाका कारण है मोहोदयके साथ पुण्योदय पुण्यबंधका कारण है शुभोपयोग।

दृष्टि—१- निमित्तपरम्परादृष्टि [५३ब]।

प्रयोग—पुण्यकर्मको भी दुःखबीज जानकर पुण्यकर्मसे पुण्यकर्मके फलसे व पुण्यकर्मके साधनमें उपेक्षा करके शुद्ध सहज अन्तस्तत्त्वकी दृष्टि करना ॥७४॥

अब पुण्यके दुःखबीजरूप विजय घोषित करते है—[पुनः] फिर [उदीर्णतृष्णाः ते] उदीर्ण है तृष्णा जिनकी ऐसे वे जीव [तृष्णाभिः दुःखिताः] तृष्णाओंके द्वारा दुःखी होते हुए [आमरणं] मरण पर्यंत [विषयसौख्यानि इच्छन्ति] विषयसुखोंको चाहते है [च] और [दुःखसंतप्ताः] दुःखोंसे संतप्त होते हुए [अनुभवंति] उन्हें भोगते है।

तात्पर्य—जिनके तृष्णा बढ़ी चढ़ी है वे विषयचाहकी दाहसे मरणपर्यन्त दुःख भोगते रहते है।

टीकार्थ—जिनके तृष्णा बढ़ी चढ़ी है ऐसे देवपर्यन्त समस्त संसारी, तृष्णा दुःखका बीज होनेसे पुण्यजनित तृष्णाओंके द्वारा भी दुःखबीजपना होनेसे अत्यन्त दुःखी होते हुए मृगतृष्णाओंसे जलकी भांति विषयोंसे सुख चाहते है, और उस दुःखसंतापके वेगको न सहते हुए जोंककी भांति विषयोंको तब तक भोगते है जब तक कि मरणको प्राप्त नहीं होते। जैसे

अथ पुण्यस्य दुःखबीजविजयमाघोषयति—

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि ।
इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥ ७५ ॥

फिर तृष्णाकी दुखिया, हो तृष्णासे हि विषयसौख्योंको ।
आमरण चाहते वे, दुखसे संतप्त हो भोगें ॥ ७५ ॥

ते पुनरुदीर्णतृष्णा दुःखितास्तृष्णाभिर्विषयसौख्यानि । इच्छन्त्यनुभवन्ति च आमरणं दुःखसंतप्ता: ॥ ७५ ॥

अथ ते पुनस्त्रिदशावसाना: कृत्स्नसंसारिण: समुदीर्णतृष्णा: पुण्यनिर्वर्तिताभिरपि तृष्णाभिर्दुःखबीजतयाऽत्यन्तदुःखिता सन्तो मृगतृष्णाभ्य इवाम्भांसि विषयेभ्य: सौख्यान्यभिलषन्ति । तद्दुःखसंतापवेगमसहमाना अनुभवन्ति च विषयान् जलायुका इव, तावद्यावत् क्षयं

नामसंज्ञ—त पुण उदिण्णतण्ह दुहिद तण्हा विसयसोक्ख य आमरण दुक्खसंतत्त । धातुसंज्ञ—इच्छ इच्छायां, अणु भव सत्तायां । प्रातिपदिक—तत् पुनर् उदीर्णतृष्णा दुःखित तृष्णा विषयसौख्य आमरण

जोक तृष्णा जिसका बीज है ऐसे विजयको प्राप्त होती हुई दुःखांकुरसे क्रमशः आक्रान्त हो रही दूषित रक्तको चाहती हुई और उसीको भोगती हुई मरणपर्यंत क्लेशको पाती है, उसी प्रकार यह पुण्यशाली जीव भी पापशाली जीवोंकी भांति तृष्णा जिसका बीज है ऐसे विजयप्राप्त दुःखांकुरोंके द्वारा क्रमशः आक्रान्त हो रहे हुए विषयोंको चाहते हुए और उन्हींको भोगते हुए विनाश पर्यन्त क्लेश पाते हैं । इस कारण पुण्य सुखाभासरूप दुःखका ही साधन है ।

प्रसंगविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें पुण्यकर्मोंकी दुःखबीजता प्रकट की थी । अब इस गाथामें यह घोषित किया गया है कि पुण्य दुःखरूप फलको देता है, इसरूपमें पुण्यकी विजय प्रसिद्ध है ।

तथ्यप्रकाश—(१) देवपर्यन्त सभी संसारी जीव तृष्णामें सने हैं । (२) पुण्यरचित तृष्णावोंके कारण सभी संसारी जीव दुःखी हैं । (३) तृष्णापीडित प्राणी विषयोंसे सुखकी अभिलाषा करते हैं । (४) पुण्योदय वाले मोही प्राणी तृष्णाजन्यपीड़ाको न सहते हुए तब तक विषयोंको भोगते रहते हैं जब तक वे मर मिट जायें । (५) गौंच तृष्णावश मरणपर्यन्त दुष्ट खूनको चाहती व पीती रहती है, ऐसे ही पुण्योदयी मुग्ध प्राणी पापयुक्त प्राणियोंकी तरह प्रलयपर्यन्त विषयोंको चाहते, भोगते व कष्ट पाते हैं । (६) पुण्य सुखाभासरूप दुःखके ही साधन हैं । (७) जिनके निर्विकल्प परमसमाधिसे उत्पन्न परमाह्लादस्वरूप तृप्ति नहीं है उनके विषयतृष्णा अवश्य वर्तती है । (८) आश्रयभूत कारणोंमें उपयोग जुटानेपर विषय-

यान्ति । यथा हि जलायुकास्तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा दुष्ट कीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते । एवममी अपि पुण्यशालिनः पाप शालिन इव तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा विषयानभिलषन्तस्तानेवानुभवन्तश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते । अतः पुण्यानि सुखाभासस्य दुःखस्यैव साधनानि स्युः ॥ ७५ ॥

दुःखसंतप्त । मूलधातु—उत् ऋ गतिप्रापणयोः भ्वादि अर्- गतौ ऋयादि, वि जि जये भ्वादि, स्वादि इष्यादि इषु इच्छायां, अनु भू सत्तायां । उभयपदविवरण—ते उदीर्णतृष्णा उदीर्णतृष्णा दुःखिता दुःखिता दुःखसंतप्ता दुःखसंतप्ता—प्र० बहु० । पुण पुनः अ च—अव्यय । तृष्णाभिः तृष्णाभिः—तृतीया बहु० । विषयसौख्यानि विषयसौख्यानि—द्वि० बहु० । इच्छन्ति इच्छति अनुभवति अनुभवन्ति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष बहु० । आमरणं—क्रियाविशेषण अव्यय समास । निरुक्ति—म्रियते मरणं । समास—उदीर्णा तृष्णा येषां ते उदीर्णतृष्णाः विषयाणां सौख्यानि वि० दुःखेन संतप्ताः दुःखसंतप्ताः ॥ ७५ ॥

तृष्णा व्यक्त होती है । (९) आश्रयभूत कारणोंमें उपयोग न जुटानेपर विषयतृष्णा अव्यक्त होती है । (१०) तृष्णारूप बीज क्रमसे अंकुररूप होकर दुःखरूप वृक्ष बढ़ता है । (११) दुःखदाहका वेग असह्य होनेपर जीव विषयोंमें प्रवृत्ति करते हैं । (१२) जिनके विषयोंमें प्रवृत्ति है वे सब संसारी जीव स्पष्ट दुःखी हैं । (१३) जैसे मृगमरीचिकासे जल प्राप्त नहीं होता, ऐसे ही इन्द्रियविषयोंसे सुख प्राप्त नहीं होता है ।

सिद्धान्त—(१) कर्मोदयवश जीव विकारी और आकुल होता है ।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—सुखाभाससे हटकर पारमार्थिक सुखके स्रोत ज्ञानानन्दस्वभावमय अन्तस्तत्त्वमें दृष्टि करना ॥७५॥

अब पुनः भी पुण्यजन्य इन्द्रियसुखको अनेक प्रकारसे दुःखरूप उद्योतित करते हैं—[यत्] जो [इन्द्रियैः लब्धं] इन्द्रियोंसे प्राप्त होता है [तत् सौख्यं] वह सुख [सपरं] परद्रव्यापेक्ष [बाधासहितं] बाधासहित [विच्छिन्नं] विच्छिन्न [बंधकारणं] बंधका कारण [विषमं] और विषम है, [तथा] इस प्रकार [दुःखम् एव] वह दुःख ही है ।

तात्पर्य—जो सुख पराधीन बाधासहित विनाशीक व बंधका कारण हो वह तो दुःख ही है ।

टीकार्थ—परापेक्षता होनेसे, बाधासहितपना होनेसे, विच्छिन्नपना होनेसे, बंधका कारणपना होनेसे, और विषमता होनेसे पुण्यजन्य भी इन्द्रियसुख दुःख ही है । परसम्बन्ध वाला होता हुआ पराश्रयताके कारण पराधीनता होनेसे बाधासहित होता हुआ खाना, पीना

अथ पुनरपि पुण्यजन्यस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वमुद्योतयति--

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इन्दियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥७६॥

सपर सबाध विनाशी, बन्धनकारण तथा विषम जो भी ।
सुख इन्द्रियसे पाया, वह सुख क्या दुःख ही सारा ॥७६॥

सपरं बाधासहितं विच्छिन्नं बन्धकारणं विषमम् । यदिन्द्रियैर्लब्धं तत्सौख्यं दुःखमेव तथा ॥ ७६ ॥

सपरत्वात् बाधासहितत्वात् विच्छिन्नत्वात् बंधकारणत्वात् विषमत्वाच्च पुण्यजन्यम-पीन्द्रियसुखं दुःखमेव स्यात् । सपरं हि सत् परप्रत्ययत्वात् पराधीनतया, बाधासहितं हि सद-

---

नामसंज्ञ—सपर बाधासहिय विच्छिण्ण बंधकारण विसम ज इंदिय लद्ध त सोक्ख दुक्ख एव तहा । **धातुसंज्ञ**--वि च्छिद छेदने, लभ प्राप्तौ । **प्रातिपदिक**—सपर बाधासहित विच्छिन्न बन्धकारण विषम यत् इन्द्रिय लब्ध तत् सौख्य दुःख एव तथा । **मूलधातु**--वि छिदिर् द्वैधीकरणे डुलभष् प्राप्तौ । **उभयपद-विवरण**—सपरं बाधासहियं बाधासहितं विच्छिण्णं विच्छिन्नं बंधकारणं विसमं विषमं जं यत् सोक्खं सौख्यं दुक्खं दुःखं–प्रथमा एक० । इंदियेहिं इन्द्रियैः–तृतीया बहु० । लद्धं लब्धं–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । एव

और मैथुनकी इच्छा इत्यादि तृष्णाकी प्रगटताओंसे युक्त होनेके कारण अत्यन्त आकुलता होने से 'विच्छिन्न' होता हुआ असातावेदनीयका उदय जिसे च्युत कर देता है, ऐसे सातावेदनीय के उदयकी प्रवृत्तिरूपसे अनुभवमे आनेके कारण विपक्षकी उत्पत्ति वाला होनेसे, बंधका कारण होता हुआ विषयोपभोगके मार्गमे लगी हुई रागादि दोषोकी सेनाके अनुसार, कर्मरजके ठोस समूहका सम्बन्ध होनेके कारण दुःसह परिणाम होनेसे, और विषम होता हुआ हानि वृद्धिमे परिणमित होनेसे अत्यन्त अस्थिर होनेके कारण वह इन्द्रियसुख दुःख ही है । लो, अब ऐसा पुण्य भी पापकी तरह दुःखका साधन ही सिद्ध हुआ ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे पुण्यकी दुःखबीजताके रूपमे विजयकी घोषणा की थी । अब इस गाथामे पुनः पुण्यजन्य इन्द्रियसुखका अनेक प्रकारसे दुःखपना बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश--(१) इन्द्रियसुख यद्यपि पुण्यजन्य है तथापि वह अनेक कारणोसे दुःख-रूप ही है । (२) इन्द्रियसुख परनिमित्तके योगमे होनेके कारण पराधीन है । (३) इन्द्रिय-सुख खाने पीने मैथुन आदिकी इच्छाओ रूप तृष्णाविशेषोके कारण अत्यन्त आकुल है । (४) इन्द्रियसुख असातावेदनीयके उदय द्वारा खंडित किया जानेसे विनाशीक है । (५) विषयोप-भोगके मार्गसे लगे हुए रागादि दोषोके अनुसार घन कर्मवर्गणायें बँधनेसे इन्द्रियसुख बन्धका

शनायोदन्यावृषस्यादिभिस्तृष्णाव्यक्तिभिरुपेतत्वात् अत्यन्ताकुलतया, विच्छिन्न हि सदसद्वेद्योदयप्रच्यावितसद्वेद्योदयप्रवृत्ततयाऽनुभवत्वादुद्भूतविपक्षतया बन्धकारण हि सद्विषयोपभोगमार्गानुलग्नरागादिदोषसेनानुसारसगच्छमानघनकर्मपासुपटलत्वादुदर्कदु सहतया विषम हि सदभिवृद्धि-परिहाणिपरिणतत्वादत्यन्तविसस्थुलतया च दु खमेव भवति । अथैव पुण्यमपि पापवद्दु खसाधनमायातम् ॥७६॥

तहा तथा—अव्यय । निरवित—बान्यत अनयति बाधा बन्धन बन्ध समन सम (णम अवक्तव्य) । समास—बाधया सहित बा०, बन्धस्य कारण त० विगत सम यस्मात् तत् विषम ॥७६॥

कारण है । (६) हानि वृद्धिरूप परिणत होते रहनेसे इन्द्रियसुख विषम है । (७) पराधीन बाधासहित विनाशीक बन्धकारणभूत विषम इन्द्रियसुख पुण्यजन्य होनेपर भी दु ख ही है । (८) अहो पुण्य भी पापकी तरह दु खसाधन बन जाता है ।

सिद्धान्त—(१) पुण्यजन्य होनेपर भी इन्द्रियसुख दु खरूप ही है ।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—इन्द्रियसुखसे उसके निमित्तभूत पुण्यकर्मसे, पुण्यकर्मके निमित्तभूत शुभोपयोगसे उपेक्षा करके सहज चैतन्यस्वरूपमे उपयोग लगाकर सहज विश्राम पाना ॥७६॥

अब पुण्य और पापकी अविशेषताको निश्चित करते हुए उपसहार करते है—[एव] इस प्रकार [पुण्यपापयो] पुण्य और पापमे [विशेष नास्ति] फर्क नही है [इति] या [य] जो [न हि मन्यते] नही मानता [मोहसछन्न] वह मोहसे आच्छादित होता हुआ [घोर अपार ससार] घोर अपार ससारमे [हिण्डति] परिभ्रमण करता है ।

तात्पर्य—बन्धहेतु होनेसे पुण्य पाप दोनोमे फर्क नही है, ऐसा जो नही मानता वह इस भयानक ससारमे भटकता रहता है ।

टीकार्थ—या पूर्वोक्त प्रकारसे शुभाशुभ उपयोगके द्वैतकी तरह और सुख दु खके द्वैतकी तरह परमार्थसे पुण्य पापका द्वैत भी नही टिकता क्योकि दोनोमे अनात्मधर्मत्वकी अविशेषता है । परन्तु जो जीव उन दोनोमे सुवर्ण और लोहकी बेडीकी तरह अहकारमय अन्तर मानता हुआ, अहमिन्द्रपदादि सम्पदाओके कारणभूत धर्मानुरागका अत्यन्त गाढ रूपसे अवलम्बन करता है, वह जीव वास्तवमे चित्तभूमिके उपरक्त होनेसे शुद्धोपयोग शक्तिका तिरस्कार किया है जिसने, ऐसा वर्तता हुआ, ससारपर्यंत शारीरिक दु खको ही अनुभव करता है ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे पुण्यजन्य भी इन्द्रियसुखकी बहुत प्रकारसे दु खरूपता बताई गई थी । अब इस गाथामे पुण्य और पापमे अविशेषपनेका निश्चय कराकर

अथ पुण्यपापयोरविशेषत्वं निश्चिन्वन्नुपसंहरति—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥ ७७ ॥

पुण्य पापमे अन्तर, न कुछ भि ऐसा न मानता जो वह।
मोहसंछन्न होकर, अपार ससारमे भ्रमता ॥ ७७ ॥

न हि मन्यते य एव नास्ति विशेष इति पुण्यपापयो। हिण्डते घोरमपार ससार मोहसच्छन्न ॥ ७७ ॥

एवमुक्तक्रमेण शुभाशुभोपयोगद्वैतमिव सुखदुःखद्वैतमिव च न खलु परमार्थत पुण्यपापद्वैतमवतिष्ठते, उभयत्राप्यनात्मधर्मत्वाविशेषत्वात्। यस्तु पुनरनयोः कल्याणकालायसनिगलयोरिवाहङ्कारिक विशेषमभिमन्यमानोऽहमिन्द्रपदादिसपदा निदानमिति निर्भरतरं धर्मानुरागमवलम्बते स खलूपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरासंसार शारीर दुःखमेवानुभवति ॥ ७७ ॥

नामसंज्ञ—ण हि ज एव ण विसेस त्ति पुण्णपाव घोर अपार ससार मोहसच्छण्ण। **धातुसंज्ञ**—मन्न अववोधने तृतीयगणी, अस सत्ताया, हिड भ्रमणे शब्द च। **प्रातिपदिक**—न हि यत् एवं न अस्ति विशेष इति पुण्यपाप घोर अपार ससार मोहसछन्न। **मूलधातु**—मन ज्ञाने दिवादि, अस् भुवि, हिडि गत्यनादरयो। **उभयपदविवरण**—ण न हि एव त्ति इति–अव्यय। मण्णदि मन्यते अत्थि अस्ति हिंडदि हिण्डते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। जो य विसेसो विशेष–प्रथमा एकवचन। घोर अपार ससार–द्वि० एक०। मोहस छण्णो मोहसछन्न–प्रथमा एक०। **निरुक्ति**—शेषन शेष विगत शेष यस्मात्स विशेष याति रक्षति आत्मान शुभात् इति पाप, स सरण स सार त। **समास**—पुण्य च पाप पुण्यपापे तयो पुण्यपापयो, मोहेन स छन्न मोहस छन्न ॥ ७७ ॥

शुभोपयोगके व्याख्यानका उपसंहार कर दिया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) शुभोपयोग व अशुभोपयोगमे अनात्मधर्मत्वकी समानता है। (२) सुख और दु.खमे अनात्मधर्मत्वकी समानता है। (३) पुण्य और पापमे अनात्मधर्मत्व की समानता हे। (४) मुग्धजन ही पुण्यको अहमिन्द्रादिपदका कारण देखकर पुण्यबधके कारणभूत शुभोपयोगकी पकड़ बनाये रहते है। (५) शुभोपयोगको ही अपना सर्वस्व धर्म मानकर उसकी पकड़ रखने वाले शुद्धोपयोगकी शक्तिको तिरस्कृत करनेके कारण ससारपर्यन्त शारीरिक दुःखको ही भोगते है।

सिद्धान्त—(१) शुभोपयोग विभाव गुणव्यन्जन पर्याय है और उसे ही परम धर्म मानकर उसकी पकड होना मिथ्याभाव है।

दृष्टि—१– विभावगुणव्यञ्जन पर्यायदृष्टि (२१३), स्वजातिपर्याये स्वजातिपर्यायोप-

अथैवमवधारितशुभाशुभोपयोगाविशेषः समस्तमपि रागद्वेषद्वैतमपहासयन्नशेषदुःखक्षयाय सुनिश्चितमनाः शुद्धोपयोगमधिवसति—

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा ।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥७८॥

यों सत्य जानकर जो, द्रव्योंमें राग द्वेष नहिं करता ।
शुद्धोपयुक्त हो वह, देहोद्भव दुख मिटाता है ॥ ७८ ॥

एवं विदितार्थो यो द्रव्येषु न रागमेति द्वेषं वा । उपयोगविशुद्धः स क्षपयति देहोद्भवं दुःखम् ॥ ७८ ॥

यो हि नाम शुभानामशुभानां च भावानामविशेषदर्शनेन सम्यक्परिच्छिन्नवस्तुस्वरूपः स्वपरविभागावस्थितेषु समग्रेषु ससमग्रपर्यायेषु द्रव्येषु रागं द्वेषं चाशेषमेव परिवर्जयति स किल

नामसंज्ञ—एवं विदिदत्थ ज दव्व ण राग दोस वा उवओगविसुद्ध त देहुब्भव दुक्ख । धातुसंज्ञ—इ गतौ, खव क्षपण करणे तृतीयगणी विद ज्ञाने । प्रातिपदिक—एवं विदितार्थ यत् द्रव्य न राग द्वेष वा उपयोगविशुद्ध तत् देहोद्भव दुःख । मूलधातु—विद ज्ञाने, इण गतौ क्षि क्षये चुरादिर्गणात् णिचि क्षय स्वादि । उभयपदविवरण—एवं ण न वा-अव्यय । विदिदत्थो विदितार्थः जो यः उवओगविसुद्धो उपयोग

धारकव्यवहार (१०८) ।

प्रयोग—पुण्य पाप दोनोंको विकार जानकर उनमें उपेक्षा करके पुण्यपापरहित सहज चैतन्यस्वभावमें उपयुक्त होना ॥७७॥

अब इस प्रकार अवधारित किया है शुभ और अशुभ उपयोगकी अविशेषता जिसने, ऐसा समस्त रागद्वेषके द्वैतको दूर करता हुआ अशेष दुःखका क्षय करनेका मनमें दृढ निश्चय करने वाला ज्ञानी पुरुष शुद्धोपयोगमें निवास करता है—[एवं] इस प्रकार [विदितार्थः] जान लिया है वस्तुस्वरूपको जिसने ऐसा [यः] जो ज्ञानी [द्रव्येषु] द्रव्योंमें [राग द्वेषं वा] राग व द्वेषको [न एति] प्राप्त नहीं होता [सः] वह [उपयोगविशुद्धः] उपयोगविशुद्ध होता हुआ [देहोद्भवं दुःखं] देहोत्पन्न दुःखका [क्षपयति] क्षय करता है ।

तात्पर्य—वस्तुस्वरूपको जानकर जो ज्ञानी पदार्थोंमें राग द्वेष नहीं करता वह दुःखों का विनाश करता है ।

टीकार्थ—जो जीव शुभ और अशुभ भावोंकी समानताकी श्रद्धासे वस्तुस्वरूपको सम्यक्प्रकारसे जानता है, स्व और पर—ऐसे दो विभागोंमें रहने वाली समस्त पर्यायोंसहित समस्त द्रव्योंमें राग और द्वेष सारा ही छोड़ता है वह जीव एकान्तसे उपयोगविशुद्धपना होने से छोड़ दिया है परद्रव्यका आलम्बन जिसने ऐसा वर्तता हुआ लोहेके गोलेमें से लोहेके सार

अथ कथं मया विजेतव्या मोहवाहिनीत्युपायमालोचयति—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥८०॥

जो जिनवरको जाने, द्रव्यत्व गुणत्व पर्ययपनेसे ।
वह जाने आत्माको, उसके नहिं मोह रह सकता ॥८०॥

यो जानात्यर्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः । स जानात्यात्मानं मोहः खलु याति तस्य लयम् ॥ ८० ॥

यो हि नामार्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः परिच्छिनत्ति स खल्वात्मानं परिच्छिनत्ति, उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात् । अर्हतोऽपि पाककाष्ठागतकार्तस्वरस्येव परिस्पष्टमात्मरूपं, ततः

नामसंज्ञ—ज अरहंत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्त त अप्प मोह खलु त लय । धातुसंज्ञ—जा गतौ जाण अवबोधने, अरह योग्यतायां । प्रातिपदिक—यत् अर्हत् द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्व तत् आत्मन् मोह खलु तत्

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि शुभाशुभोपयोगविशेषज्ञ रागद्वेषका परिहार करता हुआ शुद्धोपयोगको अङ्गीकार करता है । अब इस गाथामें बताया गया है कि सर्व पापको त्यागकर चारित्र अंगीकार करते हुए भी यदि शुभोपयोगवृत्तिवश होकर मोहादिकको नहीं उखाड़ता है तो शुद्धात्माका लाभ नहीं होता है । इस कारण यह ज्ञानी सर्वोद्यमपूर्वक उठता है अर्थात् मोहादिकको उखाड़ फैंकनेके लिये तैयार होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) मोक्षोद्यमी पुरुष सर्वपापसवधको हटानेरूप परमसामायिक नामक चारित्रका प्रतिज्ञापन करता है । ( ) यदि कोई परमसामायिक चारित्रकी प्रतिज्ञा करके भी शुभोपयोगवृत्तिके वश होकर मोहसेनाको ध्वस्त नहीं करता है वह दुःखी जीव आत्माको प्राप्त कर सकता है । (३) मुमुक्षुको मोहसेनापर विजयके लिये कमर कसना चाहिये ।

सिद्धान्त—(१) आत्माके पुरुषार्थसे निर्मोह आत्मपदकी सिद्धि होती है ।

दृष्टि—१- पुरुषकारनय (१८३) ।

प्रयोग—पापारंभको छोडकर चारित्रमें बढकर निर्मोह भावसे रहकर आत्मस्वभावमें उपयुक्त होना ॥७९॥

अब मेरे द्वारा मोहकी सेना कैसे जीती जानी चाहिये ऐसा उपाय वह निरखता है—[यः] जो [अर्हन्तं] अरहतको [द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः] द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपनेसे [जानाति] जानता है, [सः] वह [आत्मानं] अपने आत्माको [जानाति] जानता है, और [तस्य मोहः] उसका मोह [खलु] निश्चयतः [लयं याति] विनाशको प्राप्त होता है ।

तात्पर्य—जो अपनेमें समानता असमानता व उपायकी दृष्टिपूर्वक द्रव्यत्व गुणत्व व

स्तत्परिच्छेदे सर्वात्मपरिच्छेदः । तत्रान्वयो द्रव्यं अन्वयविशेषणं गुणः अन्वयव्यतिरेकाः पर्यायाः । तत्र भगवत्यर्हति सर्वतो विशुद्धे त्रिभूमिकमपि स्वमनसा समयमुत्पश्यति । यश्चेतनो ऽयमित्यन्वयस्तद्द्रव्यं, यच्चान्वयाश्रितं चैतन्यमिति विशेषणं स गुणः, ये चैकसमयमात्रावधृत-कालपरिमाणतया परस्परपरावृत्ता अन्वयव्यतिरेकास्ते पर्यायाश्चिद्विवर्तनग्रन्थय इति यावत् । अथैवमस्य त्रिकालमप्येककालमाकलयतो मुक्ताफलानीव प्रलम्बे प्रालम्बे चिद्विवर्तांश्चेतन एव संक्षिप्य विशेषणविशेष्यत्ववासनान्तर्धानाद्धवलिमानमिव प्रालम्बे चेतन एव चैतन्यमन्तर्हित

लय । मलधातु—ला अववोधन या प्रापणे । उभयपदविवरण—जो यः सो सः मोहो मोहः—प्रथमा ए० । अरहन्तं अर्हन्तं अप्पाणं आत्मानं लयं—द्वि० एक० । दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः—तृतीया बहुवचन । तस्स तस्य—षष्ठी एक० । जाणदि जानाति जादि याति—वर्तमान लट् अन्य पुरुष एक० क्रिया ।

पर्ययत्वसे भगवानको जानता है उसका मोह नष्ट हो जाता है ।

टीकार्थ—जो वास्तवमें अरहंतको द्रव्यरूपसे गुणरूपसे और पर्यायरूपसे जानता है वह वास्तवमें अपने आत्माको जानता है क्योंकि दोनोंके भी निश्चयसे अन्तर नहीं है । अरहंतका भी अन्तिम तावको प्राप्त सोनेके स्वरूपकी तरह आत्मस्वरूप परिस्पष्ट है इसलिये उसका ज्ञान होनेपर सर्व आत्माका ज्ञान होता है । वहां अन्वय द्रव्य है । अन्वयका विशेषण गुण है और अन्वयके व्यतिरेक अर्थात् भेद पर्यायें हैं । सर्वतः विशुद्ध भगवान अरहंतमें जीव त्रिभूमिक याने द्रव्यगुणपर्याययुक्त समयको (निज आत्माको) अपने मनसे जान लेता है, समझ लेता है । 'यह चेतन है' इस प्रकारका जो अन्वय है वह द्रव्य है । अन्वयके आश्रित रहने वाला 'चैतन्य' विशेषण वह गुण है, और एक समय मात्रकी मर्यादा वाला कालपरिमाण होनेसे परस्पर अप्रवृत्त अन्वयव्यतिरेक वे पर्यायें हैं—जो कि चिद्विवर्तनकी अर्थात् आत्माके परिणमनकी ग्रंथियां हैं । अब इस प्रकार त्रैकालिक आत्माको भी एक कालमें समझ लेने वाला वह जीव, झूलते हुए हारमें मोतियोंकी तरह चिद्विवर्तोंको चेतनमें ही अन्तर्गत करके तथा विशेषण विशेष्यताकी वासनाका अन्तर्धान होनेसे हारमें सफेदीकी तरह चैतन्यको चेतनमें ही अन्तर्हित करके, मात्र हारकी तरह केवल आत्माको जानते हुएके उसके उत्तरोत्तर क्षणमें कर्ता कर्म क्रियाका विभाग क्षीयमाण होनेसे निष्क्रिय चिन्मात्र भावको प्राप्त होनेसे उत्तम मणिकी तरह निर्मल प्रकाश स्वभावरूपसे प्रकाशमान है जिसका ऐसे उस जीवके, मोहांधकार निराश्रयताके कारण अवश्यमेव प्रलयको प्राप्त होता है । यदि ऐसा है तो मैंने मोहकी सेनाको जीतनेका उपाय प्राप्त कर लिया है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कहा गया था कि चारित्र अङ्गीकार करके भी

विधाय केवलं प्रालम्बमिव केवलमात्मानं परिच्छिन्दतस्तदुत्तरोत्तरक्षणक्षीयमाणकर्तृकर्मक्रिया· विभागतया निःक्रियं चिन्मात्रं भावमधिगतस्य जातस्य मणेरिवाकम्पप्रवृत्तनिर्मलालोकस्यावश्यमेव निराश्रयतया मोहतमः प्रलीयते। यद्येव लब्धो मया मोहवाहिनीविजयोपायः ॥ ८० ॥

निरुक्ति—अतति इति आत्मा, लयन लय । समास—द्रव्यत्व गुणत्व पर्यंयत्व नीति द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वानि तैः द्र० ॥८०॥

यदि शुभोपयोगानुवृत्तिवश होकर मोहादिक विकारको उखाडकर नही फेंकता हू तो मेरे शुद्धात्मत्वका लाभ कैसे हो सकता है ? अब इस गाथामे उसी मोहादिकको उखाड फेंकनेके एक उपायका प्रकाशन किया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) निश्चयतः अरहंत प्रभुका द्रव्यत्व और मेरा द्रव्यत्व समान है, क्योकि साधारणासाधारण गुणमय द्रवणशील अनादि अनन्त आत्मत्व सब आत्मावोका समान है । (२) अरहत प्रभु और मै गुणरूपसे समान है, क्योकि एकरूप चैतन्यगुण सब आत्मावो का समान है । (३) अरहतप्रभुमे और मुझमे पर्यायरूपसे अन्तर है, क्योकि प्रभु राग द्वेपसे रहित व सर्वज्ञ है, मै राग द्वेपसे सहित व अल्पज्ञ हू । (४) पर्यायकृत अन्तर द्रव्यरूपसे, अभेद गुणरूपसे आत्माकी उपासना करनेपर दूर हो जाता है । (५) अरहतका पर्याय आत्मद्रव्य व गुणके पूर्ण अनुरूप है, अतः अरहतको जाननेसे अपने अन्त.स्वरूपका परिचय सुगम हो जाता है । (६) अनादि अनन्त आत्माको जानते समय गुण व पर्यायोका आत्मामे ही अन्तर्धान हो जाता है और वहां गुण पर्यायके भेदका विकल्प नही रहता । (७) गुण पर्याय के भेद विकल्पसे अतीत अन्तस्तत्त्वके जानते समय परिणाम परिणाम व परिणतिका भेद विकल्प भी नष्ट हो जाता है । (८) निर्विकल्प अन्तस्तत्त्वका अनुभविता आत्मा निष्क्रिय चिन्मात्रभावको प्राप्त होता है । (९) निष्क्रिय चिन्मात्रभावको प्राप्त आत्माके मोह अन्धकार प्रलयको प्राप्त होता है । (१०) अरहतप्रभुको द्रव्य गुण पर्यायरूपसे जानना मोहविनाशका एक सुगम उपाय है, क्योकि अरहंतप्रभुका स्वरूप अत्यन्त स्पष्ट है । (११) अरहत प्रभुका स्वरूप निरखनेपर विषमताविकल्प न होनेके कारण सहजज्ञानानन्दस्वरूपका अनुभव सहज बन जाता है । (१२) अरहत भगवानके परिचयके लिये अरहतके द्रव्य गुण पर्यायका परिचय किया जाता है । (१३) अरहत प्रभुके परिचयके बाद परमात्माके गुण व पर्यायोको परमात्मद्रव्यमे समाविष्ट कर देनेपर गुण पर्यायके विकल्पसे छूटकर मात्र आत्मद्रव्यका जानना होता है और तब सहज आनन्दका अनुभव होता है । (१४) लोकमे भी हार खरीदते समय हार सफेदी मोती आदिकी परीक्षा की जाती है, किन्तु हारके पहिननेके समय सफेद मोती

अथैव प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लमदि सुद्धं ॥८१॥

निर्मोह जीव सम्यक् निज आत्मतत्त्वको जानकर भी ।
यदि राग द्वेष तजता तो पाता शुद्ध आत्माको ॥८१॥

जीवो व्यपगतमोह उपलब्धवांस्तत्त्वमात्मन सम्यक् । जहाति यदि रागद्वेषौ स आत्मानं लभते शुद्धम् ॥८१॥

एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्यापि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्यापि यदि नाम रागद्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धमात्मानमनुभवति । यदि पुन पुनरपि तावनुवर्तते तदा प्रमाद

नामसंज्ञ—जीव ववगदमोह उवलद्ध तच्च अप्प सम्म जदि रागदोस त अप्प सुद्ध । धातुसंज्ञ—जहा त्यागे लभ प्राप्तौ । प्रातिपदिक—जीव व्यपगतमोह उपलब्ध तत्त्व आत्मन् सम्यक् यदि रागद्वेष तत् आत्मन् शुद्ध । मूलधातु—जीव प्राणधारणे मुह वैचित्ये ओहाक् त्यागे डुलभष् प्राप्तौ । उभयपदविवरण—जीवो जीव ववगदमोहो व्यपगतमोह—प्रथमा एकवचन । उवलद्धो उपलब्धवान्—प्रथमा ए० कृदन्त

आदिको हारमे ही समाविष्ट कर उनका ख्याल छोडकर मात्र हारको जानता है और हार पहिननेके सुखका वेदन करता है । (१५) वास्तविक जिनेन्द्रभक्तिका वास्तविक परिणाम यह है कि मोहका विलय हो जावे ।

सिद्धान्त—(१) द्रव्यत्वके निरीक्षणमे सब आत्मा समान निरख जाते है ।

दृष्टि—१— उपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२१) ।

प्रयोग—प्रभुस्मरणमे प्रभुके पर्यायको गुणमे एव गुण व पर्यायका एक प्रवाहरूप आत्मद्रव्यमे अन्तर्निहित करके उस चित्स्वरूपस्मरणमे स्वपरविभाग हटाकर मात्र चित्स्वरूप का अनुभव करना ॥८०॥

अब इस प्रकार चिंतामणि रत्न प्राप्त कर लिया है जिसने, ऐसा होनेपर भी मेरे प्रमाद चोर विद्यमान है, इस कारण यह जगता है—[व्यपगतमोह] जिसने मोहको दूर किया है और [सम्यक् आत्मन तत्त्व] आत्माके सम्यक् तत्त्वको [उपलब्धवान्] प्राप्त किया है ऐसा [जीव] जीव [यदि] यदि [रागद्वेषौ] राग और द्वेषको [जहाति] छोडता है [स] तो वह [शुद्ध आत्मान] शुद्ध आत्माको [लभते] पाता है ।

तात्पर्य—निर्मोह व आत्मतत्त्वका ज्ञाता आत्मा यदि रागद्वेषसे रहित हो जाता है तो वह परमात्मा होता है ।

टीकार्थ—इस प्रकार वर्णन किया गया है स्वरूप जिसका, ऐसे उपाय द्वारा मोहको

तन्त्रतया लुण्ठितशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भचिन्तारत्नोऽन्तस्ताम्यति । अतो मया रागद्वेषनिषेधायात्यन्तं जागरितव्यम् ॥८१॥

क्रिया । तच्च तत्त्व–द्वितीया एक० । अप्पणो आत्मन–षष्ठी एक० । सम्म सम्यक् जदि यदि–अव्यय । जहदि जहाति लहदि लभते–वर्तमान लट् अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । रागदोसे रागद्वेषौ–द्वि० द्विवचन । सो स –प्रथमा एक० । अप्पाण आत्मान–द्वितीया एक० । सुद्ध शुद्ध–द्वितीया एक० । निरुक्ति—तस्य भाव तत्त्व । समास—व्यपगतः मोह यस्य स व्यपगतमोह, रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ तौ ॥८१॥

दूर करके भी सम्यक् आत्मतत्त्वको प्राप्त करके भी यदि जीव राग द्वेषको निर्मूल करता है तो वह शुद्ध आत्माका अनुभव करता है । यदि पुनः पुनः भी राग द्वेषका अनुसरण करता है, तो प्रमादके अधीन होनेसे लुट गया है शुद्धात्मतत्त्वका अनुभवरूप चिंतामणि रत्न जिसका, ऐसा वह अन्तरगमे खेदको प्राप्त होता है । इस कारण मुझे रागद्वेषको दूर करनेके लिये अत्यन्त जागृत रहना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनतरपूर्व गाथामे अर्हत्स्वरूपविज्ञानको मोहप्रलयका उपाय बताया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि मोह दूर करके आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होनेपर भी यदि रागद्वेषको छोडा जाता है तो शुद्धात्माका अनुभव होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) भूतार्थविधिसे अर्हत्स्वरूपके परिचयसे सहजात्मस्वरूपका परिचय होता है । (२) सहजात्मस्वरूपके परिचयसे मोह दूर हो जाता है । (३) मोह हटनेपर समीचीन आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है । (४) आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होनेपर भी रागद्वेषका पूर्ण निर्मूलन होनेपर ही परिपूर्ण शुद्ध आत्माका अनुभव होता है । (५) आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होनेपर भी यदि बार-बार रागद्वेषरूप परिणमन किया जाता है तो आत्मतत्त्वकी उपलब्धि भी खतम हो जायगी । (६) आत्मतत्त्वकी उपलब्धि नष्ट होनेपर अत्यन्त खेदकी दशा वर्तने लगेगी । (७) विवेकीका कर्तव्य है कि आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होने पर प्रमाद (राग द्वेष) चोरोसे सावधान रहे और रागद्वेषको समूल नष्ट करे । (८) सम्यक्त्व प्राप्त करके भी व सराग चारित्र प्राप्त करके मोक्षके साक्षात् साधनभूत वीतराग चारित्र पानेके लिये रागद्वेषका समूल प्रयत्न होना आवश्यक है ।

सिद्धान्त—आत्माका शुद्धभाव वर्तनेपर कर्मोका प्रक्षय होता है ।

दृष्टि—१–शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिक नय (२४ ब) ।

प्रयोग—रत्नत्रयकी उपलब्धि व पूर्णताके लिये अविकार सहजचित्स्वभावकी उपासना करके रागद्वेषसे छुटकारा पाना ॥८१॥

अथायमेवैको भगवद्भिः स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसस्य पारमार्थिकः पन्था इति मतिं व्यवस्थापयति—

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥ ८२ ॥

सब ही अरहंत प्रभु, इस विधि कर्मांश नष्ट करके ही ।
उपदेश नहीं करके, मुक्त हुए हैं नमोस्तु उन्हे ॥ ८२ ॥

सर्वेऽपि चार्हन्तस्तेन विधानेन क्षपितकर्मांशाः । कृत्वा तथोपदेशं निर्वृतास्ते नमस्तेभ्यः ॥ ८२ ॥

*यतः खल्वतीतकालानुभूतक्रमप्रवृत्तयः समस्ता अपि भगवन्तस्तीर्थकराः प्रकारान्तर*स्यासंभवादसंभावितद्वैतेनामुनैवैकेन प्रकारेण क्षपणं कर्मांशानां स्वयमनुभूय, परमाप्ततया परे-

नामसंज्ञ—सव्व वि य अरहंत त विधाण खविदकम्मंस तधा उवदेस णिव्वाद त णमो त । धातुसंज्ञ—खव क्षयकरणे कर करणे । प्रातिपदिक—सर्व अपि अर्हत् तत् विधान क्षपितकर्मांश तथा उपदेश निर्वृत तत् नमः तत् । मूलधातु—क्षि क्षय पुकानिर्देश डुकृञ् करणे । उभयपदविवरण—सव्वे सर्वे अर

अब यही एक भगवंतोंके द्वारा अनुभव करके प्रगट किया हुआ निःश्रेयसका पारमार्थिक पंथ है—इस प्रकार मतिको व्यवस्थित करते हैं—[सर्वे अपि च] सभी [अर्हन्त] अरहन्त भगवान [तेन विधानेन] उसी विधिसे [क्षपित कर्मांशाः ते] कर्मांशोंको नष्ट कर चुके वे [तथा] उसी प्रकारसे [उपदेशं कृत्वा] उपदेश करके [निर्वृताः] मोक्षको प्राप्त हुए [नमः तेभ्यः] उन सबको नमस्कार होओ ।

तात्पर्य—शुद्धोपयोग द्वारा घातिया कर्मोंका क्षय कर अरहंत होकर मोक्षमार्गका उपदेश कर निर्वाणको प्राप्त हुए उन सबको नमस्कार है ।

टीकार्थ—चूंकि अतीत कालमें क्रमशः हुए समस्त तीर्थंकर भगवान, प्रकारान्तरका असंभव होनेसे जिसमें द्वैत संभव नहीं है, ऐसे इसी एक प्रकारसे कर्मांशोंका क्षय स्वयं होकर परमाप्तताके कारण भविष्यकालमें अथवा इस (वर्तमान) कालमें अन्य मुमुक्षुओंको भी इसी प्रकारसे कर्मक्षयका उपदेश देकर मोक्षको प्राप्त हुए हैं, इस कारण निर्वाणका अन्य कोई मार्ग नहीं है, यह निश्चित होता है अथवा अधिक प्रलापसे क्या ? मेरी मति व्यवस्थित हो गई है, भगवन्तोंको नमस्कार हो ।

प्रसङ्गविवरण—अनंतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होनेपर रागद्वेषको निर्मूल कर देनेसे परिपूर्ण शुद्धात्माका अनुभव होता है । अब इस गाथामें उसी विधानका सभक्ति समर्थन किया गया है ।

पामव्याप्यत्यामिदानीत्वे वा मुमुक्षूणां तथैव तदुपदिश्य निःश्रेयसमध्याश्रिताः । ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते । अलमथवा प्रलपितेन । व्यवस्थिता मतिर्मम, नमो भगवद्भ्यः ॥८२॥

हता अर्हन्त खविदकम्मसा क्षपितकर्मांशा णिव्वादा निर्वृता –प्रथमा बहु० । तेण तेन विधाणेण विधानेन–तृतीया एक० । वि अपि य च तधा तथा णमो नम –अव्यय । उवदेस उपदेश–द्वितीया एक० । तेसि–षष्ठी बहु० । तेभ्य –चतुर्थी बहु० । **निरुक्ति**—सर्वण सर्वः, उप देशन उपदेश । **समास**—कर्मणा अशाः कर्मांशा क्षपिता कर्मांशा यैस्ते क्षपितकर्माशाः ॥ ८२ ॥

तथ्यप्रकाश—(१) काल अनादि अनन्त है और यद्यपि प्रत्येक सिद्ध आत्मा अशुद्धावस्थाको त्यागकर सिद्ध हुए है तथापि सिद्ध होनेका आदि नही है, अत. तीर्थंकर अब तक अनन्त हो चुके । (२) मुक्त होनेका उपाय अन्य प्रकार असंभव होनेसे सम्यक्त्वलाभ और रागद्वेपका समूल नष्ट हो जाना ही मुक्तिका उपाय है । (३) सभी तीर्थंकरोने उक्त विधिसे घातिकर्मका क्षय करके, आप्त सर्वज्ञ होकर अन्य मुमुक्षुवोको उसी विधिका उपदेश कर अघातिया कर्मोका क्षय होनेपर मोक्ष पाया । (४) भविष्यमे भी अनन्त तीर्थंकर आत्मतत्त्वोपलम्भ व रागद्वेप परिहारकी विधिसे सकलपरमात्मा होकर इसी विधिका उपदेश कर अघातिकर्म क्षय होते ही मोक्ष जावेंगे । (५) इस समय भी विदेहमे वर्तमान तीर्थंकर उक्त विधिसे सकलपरमात्मा होकर विधिका उपदेश देकर अघातिक्षय होनेपर मोक्ष जा रहे है । (६) निर्वाणप्राप्तिका मार्ग आत्मतत्त्वोपलम्भ व रागद्वेषपरिहारके अतिरिक्त अन्य कुछ नही है ।

सिद्धान्त—१–शुद्ध भावके होनेपर कर्मप्रकृतियोका क्षय होकर कैवल्य प्रकट होता है ।

दृष्टि—१– शुद्ध भावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—कैवल्यलाभके लिये भूतार्थका आश्रय कर सम्यक्त्व पाकर स्वभावदृष्टिकी दृढतासे रागद्वेपका परिहार होने देना ॥ ८२ ॥

अब शुद्धात्म लाभके शत्रु मोहके स्वभाव और उसकी भूमिकावोको विभावित करते है—[**जीवस्य**] जीवके [**द्रव्यादिकेषु मूढः भावः**] द्रव्य आदिकोमे मूढ़ भाव [**मोहः इति भवति**] मोह है [**तेन अवच्छन्नः**] उससे आच्छादित हुआ जीव [**रागं वा द्वेषं वा प्राप्य**] राग अथवा द्वेपको प्राप्त करके [**क्षुभ्यति**] क्षुब्ध होता है ।

तात्पर्य—द्रव्य गुण पर्यायोमे यथार्थ ज्ञान व सुध न होनेका परिणाम मोह है । उस मोहमे आक्रान्त प्राणी रागी द्वेषी होकर दु.खी रहता है ।

टीकार्थ—धतूरा खाये हुए मनुष्यकी तरह पूर्ववर्णित द्रव्य, गुण, पर्यायोमे होने वाला जीवका तत्त्वकी अप्राप्तिरूप मूढ़भाव वास्तवमें मोह है । उस मोहसे आच्छादित ढक गया है आत्मरूप जिनका, ऐसा यह आत्मा परद्रव्यको स्वद्रव्यरूपसे, परगुणको स्वगुणरूपसे, और

अथ शुद्धात्मलाभपरिपन्थिनो मोहस्य स्वभावं भूमिकाश्च विभावयति—

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति ।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा रागं व दोसं वा ॥८३॥

द्रव्यादिकमें आत्मा का मूढ हि भाव मोह कहलाता ।
मोहावृत जीव करे, क्षोभ रागद्वेषको पाकर ॥ ८३ ॥

द्रव्यादिकेषु मूढो भावो जीवस्य भवति मोह इति । क्षुभ्यति तेनावच्छन्नः प्राप्य रागं वा द्वेषं वा ॥ ८३ ॥

यो हि द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढो भावः स खलु मोहः तेनावच्छन्नात्मरूपः सन्नयमात्मा परद्रव्यमात्मद्रव्यत्वेन परगुणमात्मगुणतया परपर्यायानात्मपर्यायभावेन प्रतिपद्यमानः प्ररूढदृढतरसंस्कारतया परद्रव्यमेवाहरहरुपाददानो दग्धेन्द्रियाणां रुचिवशेनाद्वैतेऽपि प्रवर्तितद्वैतो रुचितारुचितेषु विषयेषु रागद्वेषावुपश्लिष्य प्रचुरतराम्भोभाररयाहतः सेतुबन्ध इव द्वेधा विदार्यमाणो नितरां क्षोभमुपैति । अतो मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोहः ॥८३॥

नामसंज्ञ—दव्वादिय मूढ भाव जीव मोह त्ति त उच्छण्ण राग वा दोस वा । धातुसंज्ञ—हव सत्तायां, प आव प्राप्तौ । प्रातिपदिक—द्रव्यादिक मूढ भाव जीव मोह इति तत् अवच्छन्न राग वा द्वेष वा । मूलधातु—भू सत्तायां, क्षुभ संचलने दिवादि प्र आप्लृ व्याप्तौ । उभयपदविवरण—दव्वादिएसु द्रव्यादिकेषु-सप्तमी बहु० । मूढो मूढः भावो भावः मोहो मोहः उच्छण्णो अवच्छन्नः-प्रथमा एक० । जीवस्स जीवस्य-षष्ठी एक० । तेण तेन-तृतीया एक० । हवदि भवति खुब्भदि क्षुभ्यति-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन । पप्पा प्राप्य-असमाप्तिकी क्रिया कृदन्त । रागं दोसं-द्वि० ए० । निरुक्ति—भवनं भावः मोहनं मोहः । समास—द्रव्यं आदि येषां ते द्रव्यादिकाः तेषु द्रव्यादिकेषु ॥८३॥

परपर्यायोंको स्वपर्यायरूप समझकर चले आये दृढतर संस्कारके कारण परद्रव्यको ही सदा ग्रहण करता हुआ, दग्ध इन्द्रियोंकी रुचिके वशसे अद्वैतमें भी द्वैत प्रवृत्ति करता हुआ, रुचिकर अरुचिकर विषयोंमें रागद्वेष करके अत्यधिक जलसमूहके वेगसे आहत सेतुबन्ध (पुल) की भाँति दो भागोंमें खंडित होता हुआ अत्यन्त क्षोभको प्राप्त होता है । इस कारण मोह, राग और द्वेष—इन भेदोंसे मोह तीन भूमिका वाला है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि मोहक्षयके उपायको स्वयं करके हुए अरहंत देवोंने इस शुद्धात्मलाभके पारमार्थिक पन्थका उपदेश किया है । अब इस गाथामें शुद्धात्मलाभके निरोधक मोहके परिणामको विभावित किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) वस्तुस्वरूपको सुध न होना व परभावोंमें मुग्ध होना मोह है ।
(२) मोही जीव [illegible] स्वद्रव्यरूपसे समझता है । (३) मोही जीव [illegible]

अथानिष्टकार्यकारणत्वमभिधाय त्रिभूमिकस्यापि मोहस्य क्षयमासूत्रयति—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥८४॥

मोह राग द्वेष हि से, परिणत जीवोंके बन्ध हो जाता ।
इससे विभाव रिपुका मुमुक्षु निर्मूल नाश करे ॥ ८४ ॥

मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य । जायते विविधो बन्धस्तस्मात्ते संक्षपयितव्या ॥८४॥

एवमस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिनिमीलितस्य मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य तृण-पटलावच्छन्नगर्तसंगतस्य करेणुकुट्टनीगात्रासक्तस्य प्रतिद्विरददर्शनोद्धतप्रविधावितस्य च सिन्धु-

---

नामसंज्ञ—मोह व राग व दोस व परिणद जीव विविह बंध त त सखवइदव्व । धातुसंज्ञ—जा प्रादुर्भावे, स खव क्षयकरणे । प्रातिपदिक—मोह वा राग वा द्वेष वा परिणत जीव विविध बन्ध तत् तत् संक्ष-

---

समझता है । (४) मोही जीव परपर्यायोको स्वपर्यायरूपसे समझता है । (५) मोही जीव इन्द्रियोंकी रुचिके वश होकर अच्छे बुरे न होकर भी ज्ञेय पदार्थोंके इष्ट और अनिष्ट ऐसे दो भाग कर डालता है । (६) मोही जीव इष्ट (रुचित) विषयोमे राग करके व अनिष्ट (अरुचित) विषयोमे द्वेष करके अत्यन्त क्षुब्ध व्याकुल रहता है । (७) परभावविमूढता (मोह) की तीन भूमिकायें है—मोह, राग व द्वेष । (८) मोहकी तीनो भूमिकाये मूलतः विनष्ट होनेपर ही कैवल्यका लाभ होता है ।

सिद्धान्त—(१) मोहनीय कर्मविपाकके सान्निध्यमे जीव विकाररूप परिणमता है ।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—कैवल्यलाभके लिये केवल ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी आराधना करके विकारसे हटकर स्वभावमे मग्न होना ॥८३॥

अब तीनो प्रकारके मोहकी अनिष्टकार्यकारणता कहकर तीनो ही भूमिका वाले मोह का क्षय सूत्र द्वारा कहते है—[**मोहेन वा**] मोहरूपसे [**रागेण वा**] रागरूपसे [**द्वेषेण वा**] अथवा द्वेषरूपसे [**परिणतस्य जीवस्य**] परिणमित जीवके [**विविधः बंधः**] नाना प्रकारका बंध [**जायते**] होता है; [**तस्मात्**] इस कारण [**ते**] वे अर्थात् मोह, राग, द्वेष [**संक्षपयितव्याः**] सम्पूर्णतया क्षय करने योग्य है ।

तात्पर्य—बन्धनके बीज मोह राग द्वेष ही है, अतः इन तीनोको निर्मूल नष्ट करना चाहिये ।

टीकार्थ—इस प्रकार वस्तुस्वरूपके अज्ञानसे रुके हुये, मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप

रस्येव भवति नाम नानाविधो बन्ध । ततोऽमी अनिष्टकार्यकारिणो मुमुक्षुणा मोहरागद्वेषा सम्यग्निर्मूलकाषं कषित्वा क्षपणीया ॥ ८४ ॥

परिणतस्य । मूलधातु—जनी प्रादुर्भावे दिवादि क्षि क्षये कृतात्वस्य पुनानिर्देशे क्षपि । उभयपदविवरण—मोहेण मोहेन रागेण रागेन दोसेण द्वेषण-तृतीया एक० । परिणदस्स परिणतस्य जीवस्स जीवस्य-षष्ठी एक० । जायदि जायते-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन । विविहो विविध बधो बन्ध-प्रथमा एक० । तम्हा तस्मात्-पचमी एकवचन । ते-प्र० बहु० । सखवइदव्वा सक्षपयितव्या-प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । निरुक्ति—मोहन मोह रजन राग, द्वेषण द्वेष जीवतीति जीव बन्धन बन्ध ॥ ८४ ॥

परिणमित होते हुए इस जीवको घासके ढेरसे ढके हुए खड्डेको प्राप्त होने वाले, हथिनीरूपी कुट्टनीके शरीरमे आसक्त और विरोधी हाथीको देखकर उत्तेजित होकर उसकी ओर दौडते हुए हाथीकी भाँति विविध प्रकारका बध होता है इसलिये मुमुक्षु जीवको अनिष्ट कार्य करने वाले ये मोह, राग और द्वेष यथावत् निर्मूल नष्ट हो इस प्रकार कसकर नष्ट किये जाने चाहियें ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे मोहकी तीन भूमिका कही गई थी । अब इस गाथामे उन तीनो भूमिकावोको नष्ट करनेका कर्तव्य बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) वस्तुस्वरूपके ज्ञानसे रहित जीव मोह राग व द्वेषरूपसे परिणत होकर विविध बन्धनोसे बद्ध हो जाता है । (२) उदाहरणार्थ—बनहस्ती तृणाच्छादित गड्ढेके अज्ञानसे (मोहसे), झूठी हथिनीके गात्रस्पर्शके रागसे व विषय भोगनेके लिये सामनेसे दौडकर आने वाले दूसरे हाथीके द्वेषसे गड्ढेमे गिरकर बन्धनको प्राप्त होता है । (३) मोह राग व द्वेष आत्माका अहित व अनिष्ट करने वाले हैं । (४) कल्याणार्थी पुरुषका मोह राग द्वेषको मूलत पूर्ण नष्ट कर देनेका आवश्यक कर्तव्य है ।

सिद्धान्त—(१) वस्तुत मोही जीव अपने विकारभावोसे बँधकर क्लेश पाता है । (२) जीवके मोहादि भावका सपर्क पाकर कार्माणवर्गणायें स्वय कर्मरूप परिणत हो जाती हैं । (३) जीव बद्ध कर्मोमे बँधा है ।

दृष्टि—१-अशुद्धनिश्चयनय (४७) । २-उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५३), निमित्तदृष्टि (५३अ) । ३-सश्लिष्ट विजात्युपचरित असद्भूत व्यवहार (१२५) ।

प्रयोग—ससारचक्रसे हटनेके लिये स्वभावदृष्टिके बलसे मोह राग द्वेष भावसे हटना ॥ ८४ ॥

अब ये राग द्वेष मोह-इन चिह्नोके द्वारा पहिचानकर उत्पन्न होते ही नष्ट कर दिये जाने चाहियें, यह प्रगट करते हैं—[अर्थे अयथाग्रहण] पदार्थका विपरीत स्वरूपसे [च] और [तिर्यङ्मनुजेषु करुणाभाव] तिर्यंच मनुष्योमे करुणाभाव [विषयेषु प्रसग च] तथा

अथामी अमीभिर्लिङ्गैरुपलभ्योद्भवन्त एव निशुम्भनीया इति विभावयति—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु ।
विसएसु यप्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥ ८५ ॥

अर्थविरुद्ध प्रतीती, करुणाभाव तिर्यंच मनुजोंमें ।
विषयोंका संगम ये मोह विकारके चिह्न कहे ॥८५॥

अर्थे अयथाग्रहण करुणाभावश्च तिर्यङ्मनुजेषु । विषयेषु च प्रसङ्गो मोहस्यैतानि लिङ्गानि ॥ ८५ ॥

अर्थानामयथातथ्यप्रतिपत्त्या तिर्यग्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्ध्या च मोहमभीष्टविषयप्रसगेन रागमनभीष्टविषयाप्रीत्या द्वेषमिति त्रिभिर्लिङ्गैरधिगम्य झगिति संभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्य· ॥ ८५ ॥

नामसंज्ञ—अट्ठ अजधागहण करुणाभाव य तिरियमणुय विसय य पसग मोह एत लिग । **धातुसंज्ञ**—गह ग्रहणे । **प्रातिपदिक**—अर्थ अयथाग्रहण करुणाभाव च तिर्यङ्ममुज विषय च प्रसङ्ग मोह एतत् लिग । **मूलधातु**—ग्रह उपादाने । **उभयपदविवरण**—अट्ठे अर्थे–सप्तमी एकवचन । अजधागहण अयथाग्रहण करुणाभावो करुणाभाव प्रसगो प्रसग –प्रथमा एक० । तिरियमणुएसु तिर्यङ्मनुजेषु विसएसु विषयेषु–सप्तमी वहु० । मोहस्स मोहस्य–षष्ठी एक० । एदाणि एतानि लिगानि लिङ्गानि–प्रथमा वहुवचन । **निरुक्ति**—अर्यते इति अर्थ , विशेषेण सिन्वन्ति इति विषया (षिञ् वन्धने) । **समास**—न यथा अयथा ग्रहण इति अयथाग्रहण, तिर्यंच मनुजा चेति तिर्यङ्मुनुजा तेषु तिर्यङ्मनुजेषु ॥ ८५ ॥

विषयोकी सगति [एतानि] ये सब [**मोहस्य लिंगानि**] मोहके चिह्न है ।

तात्पर्य—वस्तुस्वरूपका विपरीत ग्रहण, सम्बन्धियोमे करुणाबुद्धि व विषयोका लगाव ये सब मोहके चिह्न है ।

टीकार्थ—पदार्थोंकी अन्यथारूप प्रतिपत्तिके द्वारा और केवल देखे जाने योग्य होनेपर भी तिर्यंच मनुष्योमे करुणाबुद्धिसे मोहको, इष्ट विषयोकी आसक्तिसे रागको और अनिष्ट विषयोकी अप्रीतिसे द्वेषको– यो तीन लिंगोके द्वारा पहिचानकर तुरन्त ही उत्पन्न होते ही तीनो प्रकारका मोह नष्ट कर देने योग्य है ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे मोह राग द्वेषका निर्मूलन करनेका कर्तव्य बताया गया था । अव इस गाथामे क्षपणीय उन मोह रागद्वेष भावोके चिह्न बताये गये है ।

तथ्यप्रकाश—(१) पदार्थोंकी विपरीत स्वरूपमे समझ होना मोहका चिन्ह है । (२) तिर्यंच मनुष्योमे तन्मयतासे करुणाभाव जगना मोहका चिन्ह है । (३) इष्ट विषयोका प्रसग करना रागका चिन्ह है । (४) अनिष्ट विषयोमे अरुचि होना द्वेषका चिन्ह है । (५) अपने अपने चिन्होसे मोह राग द्वेष विकारको जानकर विकारोका क्षय करना चाहिये ।

अथ मोहक्षपणोपायान्तरमालोचयति—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं ॥८६॥

जिन शास्त्रोंसे अर्थोंके प्रत्यक्षादि रूप ज्ञाताके।
मोह नशे इस कारण शास्त्रपठन नित्य आवश्यक ॥८५॥

जिनशास्त्रादर्थान् प्रत्यक्षादिभिर्बुध्यमानस्य नियमात्। क्षीयते मोहोपचयः तस्मात् शास्त्रं समध्येतव्यम् ॥

यत्किल द्रव्यगुणपर्यायस्वभावेनार्हतो ज्ञानादात्मनस्तथा ज्ञानं मोहक्षपणोपायत्वेन प्राक् प्रतिपन्नम्। तत् खलूपायान्तरमिदमपेक्षते। इदं हि विहितप्रथमभूमिकासंक्रमणस्य सर्वज्ञोपज्ञतया सर्वतोऽप्यबाधितं शाब्दं प्रमाणमाक्रम्य क्रीडतस्तत्संस्कारस्फुटीकृतविशिष्टसंवेदनशक्तिसंपदः सहृदयहृदयानन्दोद्भेददायिना प्रत्यक्षेणान्येन वा तदविरोधिना प्रमाणजातेन तत्त्वत

नामसंज्ञ—जिणसत्थ अट्ठ पच्चक्खादि बुज्झंत णियम मोहोवचय त सत्थ समधिदव्व। धातुसंज्ञ—बुज्झ अवगमने, खि क्षये। प्रातिपदिक—जिनशास्त्र अर्थ प्रत्यक्षादि बुध्यमान नियम मोहोपचय तत् शास्त्र समधितव्य। मूलधातु—बुध अवगमने क्षि क्षये अधि इङ् अध्ययने। उभयपदविवरण-जिणसत्थादो

सिद्धान्त—(१) मोह आत्माके सम्यक्त्व गुणकी विकृत दशा है। (२) राग द्वेष आत्माके चारित्रगुणकी विकृत दशा है।

दृष्टि—१, २- विभावगुणव्यञ्जनपर्यायदृष्टि (१२३)।

प्रयोग—अपनेमें मोह राग द्वेषोंके चिह्नोंसे मोह रागद्वेषको परख परखकर निज सहज चित्स्वभावकी दृष्टिके लिये पौरुष करके मोह रागद्वेषका क्षय करना ॥ ८५ ॥

अब मोहक्षयका दूसरा उपाय विचारते हैं—[जिनशास्त्रात्] जिनशास्त्रसे [प्रत्यक्षादिभिः] प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा [अर्थान्] पदार्थोंको [बुध्यमानस्य] जानने वालेके [नियमात्] नियमसे [मोहोपचयः] मोहसमूह [क्षीयते] क्षय हो जाता है [तस्मात्] इसलिये [शास्त्रं] शास्त्र [समध्येतव्यम्] सम्यक् प्रकारसे अध्ययन किया जाना चाहिये।

तात्पर्य—जिनागमसे प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा वस्तुस्वरूपका सही ज्ञान करना मोहक्षयका उपाय है।

टीकार्थ—द्रव्य गुण पर्याय स्वभावसे अरहंतके ज्ञान द्वारा आत्माका उस प्रकारका ज्ञान मोहक्षयके उपायके रूपसे पहले प्रतिपादित किया गया था, वह वास्तवमें इस उपायान्तरकी अपेक्षा रखता है—

प्रथम भूमिकामें गमन किया है जिसने, ऐसे तथा सर्वज्ञप्रणीत होनेसे सब प्रकारसे

समस्तमपि वस्तुजातं परिच्छिन्दतः क्षीयत एवातत्त्वाभिनिवेशसंस्कारकारी मोहोपचयः। अतो हि मोहक्षपणे परम शब्दब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् ॥ ८६ ॥

जिनशास्त्रात्–पंचमी एक०। अट्ठे अर्थान्–द्वितीया बहु०। पच्चक्खादीहिं प्रत्यक्षादिभिः–तृतीया बहु०। बुज्झदो बुध्यमानस्य–षष्ठी एक०। णियमा नियमात्–पंचमी एक०। खीयदि क्षीयते–वर्तमान अन्य पुरुष एक०, क्रिया। मोहोवचयो मोहोपचयः–प्रथमा एक०। तह्मा तस्मात्–पं० ए०। सत्थं शास्त्रं–प्रथमा ए०। समाधिदव्वं समध्येतव्यम्–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया। निरुक्ति—शास्यते अनेन इति शास्त्रं (शासु अनुशिष्टौ)। समास—मोहस्य उपचयः मोहोपचयः, जिनस्य शास्त्रं जिनशास्त्रं तस्मात् जिनशास्त्रात् ॥८६॥

अबाधित द्रव्य श्रुतप्रमाणको प्राप्त करके ज्ञानलीला करते हुए व उसके संस्कारसे प्रकट हुई है विशिष्ट संवेदन शक्तिरूप सम्पदा जिसके तथा सहृदय जनोंके हृदयको आनन्दका उद्भेद देने वाले प्रत्यक्ष प्रमाणसे अथवा उससे अविरुद्ध अन्य प्रमाणसमूहसे तत्त्वतः समस्त वस्तुमात्रको जानने वाले जीवके विपरीताशयका संस्कार करने वाला मोहसमूह अवश्य ही नष्ट हो जाता है। इसलिये मोहका क्षय करनेमें, शब्दब्रह्मकी परम उपासना करना, भावज्ञानके अवलम्बन द्वारा दृढ किये गये परिणामसे सम्यक् प्रकार सभ्यास करना सो उपायान्तर है।

प्रसंगविवरण—८०वीं गाथामें बताये गये मोहक्षयके उपायके प्रसङ्गमें विविध वर्णन के बाद अनन्तरपूर्व गाथामें नष्ट किये जाने योग्य मोह रागद्वेष चिन्होंको बताया गया था। अब इस गाथामें पूर्वोक्त मोहक्षपणोपायके पूरक अन्य उपायको बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) मोहक्षपणका पूर्वोक्त उपाय और इस गाथामें कथित उपाय यद्यपि भिन्न-भिन्न मुद्रामें है तो भी यह उपाय पूर्वोक्त उपायका पूरक है। (२) जो पहिली भूमिकामें आया है उसको सर्वप्रथम आगमका अभ्यास करना चाहिये। (३) आगमाभ्याससे वस्तुस्वरूपका निर्णय करना चाहिये। (४) आगमाभ्याससे जाने गये वस्तुस्वरूपको युक्ति, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे दृढ अवधारित करना चाहिये। (५) एकत्वविभक्त वस्तुस्वरूपके परिच्छेदके प्रसंगमें सहजात्मस्वरूपका परिग्रहण करने वाले भव्यात्माके मोहका प्रक्षय हो जाता है। (६) भावज्ञान दृढ हो, ऐसी पद्धतिसे शास्त्रका अध्ययन करना मोहक्षपणका दूसरा उपाय है। (७) भावभासना सहित शास्त्राध्ययनसे वस्तुस्वरूप स्पष्ट जाननेपर अर्हन्त प्रभुको द्रव्य गुण पर्यायरूपसे जान लेना सुगम होता है।

सिद्धान्त—१– शास्त्राध्ययनसे भावभासनासहित आत्मज्ञान पाकर उसके अभिमुख होनेके पौरुषसे निर्मोह आत्मतत्त्वका लाभ होता है।

दृष्टि—१– पुरुषकारनय [१८३]।

अथ कथं जैनेन्द्रे शब्दब्रह्मणि किलार्थानां व्यवस्थितिरिति वितर्कयति—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया ।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ॥ ८७ ॥

द्रव्य गुण तथा उनकी, पर्यायें अर्थनामसे संज्ञित ।
उन गुण पर्यायोंकी आत्माको द्रव्य बतलाया ॥८७॥

द्रव्याणि गुणास्तेषां पर्याया अर्थसंज्ञया भणिताः । तेषु गुणपर्यायाणामात्मा द्रव्यमित्युपदेशः ॥ ८७ ॥

द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेयभेदेऽप्यभिधानाभेदेन अर्थाः तत्र गुणपर्यायानि यूति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्था द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयूतिद्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्था गुणा, द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयति द्रव्यैं क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्था पर्याया ।

नामसंज्ञ—दव्व गुण त पज्जाय अट्ठसण्णय भणिय त गुणपज्जय अप्प दव्व त्ति उवदेस । धातुसंज्ञ—इ गतौ, परि इण गतौ, भण कथने । प्रातिपदिक—द्रव्य गुण तत् पर्याय अर्थसंज्ञा भणित तत् गुणपर्याय आत्मन् द्रव्य इति उपदेश । उभयपदविवरण—दव्वाणि द्रव्याणि गुणा गुणाः पज्जाया पर्यायाः-प्रथमा बहुवचन । अट्ठसण्णया अर्थसंज्ञया-तृ० एक० । भणिया भणिताः-प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । तेसु तेषु—

प्रयोग—निर्मोह आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिये अपनेपर उपदेशको घटित करते हुए शास्त्रका अध्ययन करना ॥ ८६ ॥

अब जिनागममें वस्तुतः अर्थोंकी व्यवस्था किस प्रकार है, यह सतर्क विचार करते हैं—[द्रव्याणि] द्रव्य [गुणाः] गुण [तेषां पर्यायाः] और उनकी पर्यायें [अर्थसंज्ञया] 'अर्थ' नामसे [भणिताः] कही गई है। [तेषु] उनमें [गुणपर्यायानाम् आत्मा द्रव्यम्] गुण-पर्यायोंका आत्मा द्रव्य है [इति उपदेशः] इस प्रकार जिनागममें उपदेश है।

तात्पर्य—द्रव्य, गुण व पर्याय ये अर्थ नामसे कहे जाते है, उनमें द्रव्य गुण पर्यायमय है।

टीकार्थ—द्रव्य, गुण और पर्याय अभिधेयभेद होनेपर भी अभिधानका [illegible] होनेसे वे 'अर्थ' हैं। उनमें जो गुणोंको और पर्यायोंको प्राप्त करते हैं अथवा जो [illegible] पर्यायोंके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, ऐसे वे 'अर्थ' द्रव्य हैं जो द्रव्योंको आश्रयके [illegible] है अथवा जो आश्रयभूत द्रव्योंके द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, ऐसे वे 'अर्थ' [illegible] है, जो [illegible] क्रमपरिणामसे प्राप्त करते है अथवा जो द्रव्योंके द्वारा क्रमपरिणामसे [illegible] ऐसे वे 'अर्थ' पर्याय हैं। वास्तवमें जैसे सुवर्ण, पीलापन इत्यादि [illegible] पर्यायोंको प्राप्त करता है अथवा सुवर्ण उनके द्वारा प्राप्त किया [illegible] है, [illegible]

यथा हि सुवर्णं पीततादीन् गुणान् कुण्डलादींश्च पर्यायानियर्ति तैरर्यमाणं वा अर्थो द्रव्यस्थानीयं, यथा च सुवर्णमाश्रयत्वेनेयूतितेनाश्रयभूतेनार्यमाणा वा अर्थाः पीततादयो गुणाः यथा च सुवर्णं क्रमपरिणामेनेयर्ति तेन क्रमपरिणामेनार्यमाणा वा अर्थाः कुण्डलादयः पर्यायाः। एवमन्यत्रापि। यथा चैतेषु सुवर्णपीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायेषु पीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां सुवर्णादपृथग्भावात्सुवर्णमेवात्मा तथा च तेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु गुणपर्यायाणां द्रव्यादपृथग्भावाद्द्रव्यमेवात्मा ॥८७॥

सप्तमी बहु०। गुणपज्जयाण गुणपर्यायाणां–षष्ठी बहु०। अप्पा आत्मा दव्व दव्व उवदेसो उपदेश–प्रथमा एक०। निरुक्ति–गुण्यते ऐभि: ते गुणा:, परियति (गच्छति) इति पर्याया। समास–अर्थस्य संज्ञा अर्थसंज्ञा तया अ०, गुणाश्च पर्यायाश्चेति गुणपर्यायास्तेषां गुणपर्यायाणां ॥ ८७ ॥

द्रव्यस्थानीय 'अर्थ' है। जैसे पीलापन इत्यादि गुण सुवर्णको आश्रयके रूपमे प्राप्त करते है अथवा वे आश्रयभूत सुवर्णके द्वारा प्राप्त किये जाते है इसलिये पीलापन इत्यादि गुण 'अर्थ' है, और जैसे कुण्डल इत्यादि पर्यायें सुवर्णको क्रमपरिणामसे प्राप्त करती है अथवा वे सुवर्णके द्वारा क्रमपरिणामसे प्राप्त की जाती है, इसलिये कुण्डल इत्यादि पर्यायें 'अर्थ' है, इसी प्रकार अन्यत्र भी है। और जैसे इन सुवर्ण, पीलापन इत्यादि गुण और कुण्डलादि पर्यायोमे पीलापन इत्यादि गुणोका और कुण्डल इत्यादि पर्यायोका सुवर्णसे अपृथक्त्व होनेका उनका सुवर्ण ही आत्मा है उसी प्रकार उन द्रव्य गुण पर्यायोमे गुण-पर्यायोका द्रव्यसे अपृथक्त्व होनेसे उनका द्रव्य ही आत्मा है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे शास्त्राध्ययनको मोहक्षयका दूसरा उपाय बताया गया था। अब इस गाथामे बताया गया है कि शास्त्रोमे पदार्थोकी व्यवस्था किस प्रकार है?

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्य, गुण व पर्यायें अर्थ कहलाते है। (२) अर्यंते निश्चीयते इति अर्थ, इस निरुक्तिके अनुसार चूंकि द्रव्य, गुण, पर्याय जाने जाते है इस कारण वे अर्थ कहलाते है। (३) द्रव्य गुण पर्यायको अर्थ कहनेपर भी सत् द्रव्य ही है, गुण पर्याय उस सद्भूत द्रव्यकी विशेषतायें है। (४) गुण व पर्याय ही सीधे नही जाने जाते, किन्तु गुण व पर्यायरूपसे द्रव्यके ज्ञात होनेपर गुणका व पर्यायका जानना कहा जाता है। (५) ऋ गतौ धातुका अर्थ प्राप्ति भी है। 'अर्यते प्राप्यते इति अर्थ.' इस निरुक्तिसे जो प्राप्त किया जाय वह अर्थ है, तब (६) जो गुण पर्यायोको प्राप्त करे वह अर्थ द्रव्य है। (७) आश्रयभूत अर्थोके द्वारा जो प्राप्त किया जाय वह अर्थ गुण है। (८) क्रमपरिणामसे द्रव्यके द्वारा जो प्राप्त किया जाय वह पर्याय है। (९) गुण व पर्यायोका सर्वस्व द्रव्य ही है, क्योकि गुण व पर्याय द्रव्यसे पृथक् नही हैं। (१०) प्रत्येक द्रव्य अपने गुण पर्यायसे तन्मय है, अन्य अथवा अन्य

अथैवं मोहक्षपणोपायभूतजिनेश्वरोपदेशलाभेऽपि पुरुषकारोऽर्थक्रियाकारीति पौरुषं व्यापारयति—

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥८८॥

जैन उपदेश पाकर, हनता जो मोह राग द्वेषोंको ।
वह अल्पकालमें ही सब दुखसे मुक्ति पाता है ॥८८॥

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम् । स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण [illegible]

इह हि द्राघीयसि सदाजवंजवपथे कथमप्यमुं समुपलभ्यापि जैनेन्द्र [illegible]
धारापथस्थानीयमुपदेशं य एव मोहरागद्वेषाणामुपरि दृढतरं निपातयति [illegible]

परिमोक्षं क्षिप्रमेवाप्नोति, नापरो व्यापारः करवालपाणिरिव । अत एव सर्वारम्भेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि ॥८८॥

उपलभ्य–असमाप्तिकी क्रिया । जोण्ह जेन उपदेस उपदेश–द्वि० एक० । मो स–प्र० एक० । सव्वदुक्खमोक्ख सर्वदु खमोक्ष–द्वितीया एक० । पावदि प्राप्नोति–वर्तमान अन्य पुरुप एक० क्रिया । अचिरेण कालेण कालेन–तृतीया एक० । निरुक्ति–कालन काल (कालोपदेशे) । समास–मोहश्च रागश्च द्वेषश्च मोहरागद्वेषा तान् मो०, सर्वाणि च तानि दुःखानि चेति सर्वदु खानि तेभ्य मोक्षः सर्वदु खमोक्ष त सर्व० ।८८।

टीकार्थ—इस अति दीर्घ ससारमार्गमे किसी भी प्रकारसे तीक्ष्ण असिधारा समान जैनेश्वर उपदेशको प्राप्त करके भी जो मोह-राग-द्वेषपर अति दृढ़तापूर्वक उसका प्रहार करता है वही शीघ्र ही समस्त दुःखोसे परिमोक्षको प्राप्त होता है; हाथमे तलवार लिये हुए मनुष्य की भाँति अन्य कोई व्यापार समस्त दु खोसे परिमुक्त नही करता । इसीलिये सम्पूर्ण प्रयत्न पूर्वक मोहका क्षय करनेके लिये मै पुरुषार्थमे लगता हू ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे जैनेन्द्र शब्दब्रह्ममे अर्थोकी व्यवस्था (स्वरूप) बताई गई थी । अब इस गाथामे बताया गया है कि मोहक्षयके उपायभूत जिनेश्वरोपदेशका लाभ होनेपर भी पौरुष (प्रयोग) हो तो कार्यकारी है, अतः तद्विषयक पौरुष करना चाहिये ।

तथ्यप्रकाश—(१) इस जीवका ससारमे अनादिसे उत्पातमय विविध भवधारण चला आया है । (२) इस अनादिससारमे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय पर्यायोको उल्लघ कर पञ्चेन्द्रिय होना कठिन है । (३) पञ्चेन्द्रियमे भी उत्तम कुल वाला जिनशासन का अनुयायी होना और भी कठिन है । (४) अब किसी प्रकार जिनोपदेशको पाया है तब मोह राग द्वेषपर उपदेशका प्रयोग करके उनका क्षय करनेका पौरुष करना चाहिये । (५) मोह राग द्वेष नष्ट होनेपर ही समस्त दुःखोसे छुटकारा होता है । (६) जिनोपदेशका लाभ पाया है तव विकारोसे हटकर स्वभावमे लगना यही मात्र एक व्यापार होना रह जाता है । (७) सर्व प्रयत्नसे अपनेको मोहक्षयके लिये अपने पुरुषार्थमे लगना ही चाहिये ।

सिद्धान्त—१– आत्मपौरुषके प्रसादसे शुद्धात्मत्वका लाभ होता है ।

दृष्टि—१– पुरुपकारनय [१८३] ।

प्रयोग—सर्व दुःखोसे छुटकारा पानेके लिये शास्त्राध्ययन कर भावभासना सहित वस्तुस्वरूप जानकर स्वभावदृष्टिके वलसे मोह राग द्वेषका प्रक्षय करना चाहिये ॥८८॥

अब स्व-परके विवेककी सिद्धिसे ही मोहका क्षय हो सकता है, इस कारण स्व परके विभागकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करते है—[यः] जो [निश्चयतः] निश्चयसे [ज्ञानात्मकं

अथ स्वपरविवेकसिद्धेरेव मोहक्षपणं भवतीति स्वपरविभागसिद्धये प्रयतते—

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥८६॥

ज्ञानात्मक आत्माको, परको पृथक् स्वद्रव्यतावर्ती ।
जो निश्चयसे जाने, वह करता मोहका प्रक्षय ॥८६॥

ज्ञानात्मकमात्मानं परं च द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धम् । जानाति यदि निश्चयतो यः स मोहक्षयं करोति ॥८६॥

य एव स्वकीयेन चैतन्यात्मकेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमात्मानं परं च परकीयेन यथोचितेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमेव निश्चयतः परिच्छिनत्ति स एव सम्यगवाप्तस्वपरविवेकः सकलं मोहं क्षपयति । अतः स्वपरविवेकाय प्रयतोऽस्मि ॥८६॥

नामसंज्ञ—णाणप्पग अप्प पर च दव्वत्तण अहिसंबद्ध जदि णिच्छयदो यत् तत् मोहक्खय । धातुसंज्ञ—जाण अवबोधने, कुण करणे । प्रातिपदिक—ज्ञानात्मक आत्मन् पर च द्रव्यत्व अभिसंबद्ध यदि निश्चयतः यत् तत् मोहक्षय । मूलधातु—ज्ञा अवबोधने डुकृञ् करणे । उभयपदविवरण—णाणप्पगं ज्ञानात्मकं अप्पाणं आत्मानं परं अहिसंबद्धं अभिसंबद्धं मोहक्खयं मोहक्षयं-द्वि० ए० । णिच्छयदो निश्चयतः—अव्यय । जो यः सो सः—प्र० एक० । जाणदि जानाति कुणदि करोति—वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । निरुक्ति—मोहनं मोहः । समास—ज्ञानमय आत्मा यस्य सः ज्ञानात्मकः तं ज्ञा०, मोहस्य क्षयः मोहक्षयः तं मो० ॥८६॥

[आत्मानं] ज्ञानात्मक अपनेको [च] और [परं] परको [द्रव्यत्वेन अभिसंबद्धम्] निज निज द्रव्यत्वसे संबद्ध [यदि जानाति] यदि जानता है [सः] तो वह [मोहक्षयं करोति] मोहका क्षय करता है ।

तात्पर्य—सब पदार्थोंका स्वतन्त्र स्वरूप जानने वाला ही मोहका क्षय करता है ।

टीकार्थ—जो निश्चयसे अपनेको अपने चैतन्यात्मक द्रव्यत्वसे संबद्ध और परको उसी दूसरके यथोचित् द्रव्यत्वसे संबद्ध ही जानता है, वही जीव, जिसने कि सम्यक् रूपसे स्व परके विवेकको प्राप्त किया है, सम्पूर्ण मोहका क्षय करता है, इसलिये मैं स्व परके विवेकके लिये प्रयत्नशील हूं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें विकारभावके विनाश करनेके लिये पौरुष करनेकी प्रेरणा दी थी । अब इस गाथामें कहा गया है कि चूंकि स्वपरविवेक सिद्धिसे ही मोहका क्षय होता है अतः स्वपरविभागकी सिद्धिके लिये भव्य प्रयत्न करता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) स्वपरविवेक ही उत्कृष्ट पद लाभका मूल है । (२) जिन्होंने सम्यक् प्रकारसे स्वपरविवेक प्राप्त किया है वे समस्त मोहका क्षय करते हैं । (३) समस्त

अथ सर्वथा स्वपरविवेकसिद्धिरागमतो विधातव्येत्युपसंहरति —

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु ।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ॥६०॥

इससे जिनशासनसे, नियत गुणोंसे स्व पर पदार्थोंमे ।
जानो स्वतंत्रता यदि, अपनी निर्मोहता चाहो ॥६०॥

तस्माज्जिनमार्गाद्गुणैरात्मानं परं च द्रव्येषु । अभिगच्छतु निर्मोहमिच्छति यद्यात्मन आत्मा ॥ ६० ॥

इह खल्वागमनिगदितेष्वनन्तेषु गुणेषु कैश्चिद्गुणैरन्ययोगव्यवच्छेदकतयासाधारणतामुपादाय विशेषणतामुपगतैरनन्तायां द्रव्यसततौ स्वपरविवेकमुपगच्छन्तु मोहप्रहाणप्रवणबुद्धयो लब्धवर्णाः । तथाहि—यदिदं सदकारणतया स्वतः सिद्धमन्तर्वहिर्मुखप्रकाशशालितया स्वपरपरिच्छेदकं मदीयं मम नाम चैतन्यमहमनेन तेन समानजातीयमसमानजातीयं वा द्रव्यमन्यदपहाय

नामसंज्ञ—त जिणमग्ग गुण अत्त पर च दव्व णिम्मोह जदि अप्प । धातुसंज्ञ—अभि गच्छ गतौ, इच्छ इच्छायां । प्रातिपदिक—तत् जिनमार्ग गुण आत्मन् पर च द्रव्य निर्मोह यदि आत्मन् । मूलधातु—अभि गम्लृ गतौ, इषु इच्छायां । उभयपदविवरण—तम्हा तस्मात्—पंचमी एक० । जिणमग्गादो जिनमा-

मोहका क्षय होनेपर केवलज्ञानादि अनन्तचतुष्टयका लाभ होता है, पश्चात् सिद्धावस्थाका लाभ होता है । (४) स्वपरविवेक सम्यग्दृष्टिके होता है । (५) सम्यग्दृष्टि अपने आत्माको स्वकीय चैतन्यात्मक द्रव्यत्वसे युक्त मानता है । (६) सम्यग्दृष्टि पर-आत्माको परकीय चैतन्यात्मक द्रव्यत्वसे युक्त मानता है । (७) सम्यग्दृष्टि अचेतन पदार्थोंको अचैतन्यात्मक उन उनके असाधारण स्वरूपसे युक्त मानता है । (८) स्वपरविवेकवलसे ज्ञात यथार्थ स्वरूपके अवलोकनसे मोहापदा विनष्ट होती ही है । (९) स्वपरविवेकके लिये पौरुष करना श्रेयस्कर है ।

सिद्धान्त—(१) स्वपरविवेक द्वारा उपलब्ध शुद्धात्मस्वरूपके अवलोकनसे शुद्धात्मस्वरूपका विकास होता है ।

दृष्टि—१– ज्ञाननय [१६४] ।

प्रयोग—सकल मोहसंकटविनाशके लिये स्वपरविवेकका प्रयत्न करना ॥८९॥

अब सब प्रकारसे स्वपरके विवेककी सिद्धि आगमसे करने योग्य है, ऐसा उपसंहार करते हैं—[तस्मात्] इस कारण [यदि] यदि [आत्मनः] अपना [आत्मा] आत्मा [निर्मोहं] निर्मोह भावको [इच्छति] चाहता है तो [जिनमार्गात्] जिनमार्गसे [गुणैः] गुणोंके द्वारा [द्रव्येषु] द्रव्योंमे [आत्मानं परं च] स्वको और परको [अभिगच्छतु] जाने ।

तात्पर्य—यदि अपनेको निर्मोह रखना चाहे तो सबका भिन्न-भिन्न आवान्तरसत्त्व समझकर स्व व परको भिन्न-भिन्न जानें ।

ममात्मन्येव वर्तमानेनात्मीयमात्मानं सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यं जानामि । एवं पृथक्त्व वृत्तस्वलक्षणैर्द्रव्यमन्यदपहाय तस्मिन्नेव च वर्तमानं सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्यमाकाशं धर्ममधर्मं कालं पुद्गलमात्मान्तरं च निश्चिनोमि । ततो नाहमाकाशं न धर्मो नाधर्मो न च कालो न पुद्गलो नात्मान्तरं च भवति, यतोऽमीष्वेकापवरकप्रबोधितानेकदीपप्रकाशेष्विव संभूयावस्थितेष्वपि मच्चैतन्यं स्वरूपादप्रच्युतमेव मां पृथगवगमयति । एवमस्य निश्चितस्वपरविवेकस्यात्मनो न खलु विकारकारिणो मोहाङ्कुरस्य प्रादुर्भूतिः स्यात् ॥ ९० ॥

गात्–प्र० ए० । गुणेहि गुणैः–तृतीया बहु० । जाद आत्मानं परं णिम्मोह निर्मोह–द्वितीया एक० । द व्वेसु द्रव्येषु–सप्तमी बहु० । अप्पणा आत्मनः–षष्ठी एक० । अप्पा आत्मा–प्र० ए० । अभिगच्छदु अभिगच्छतु–आज्ञार्थे अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । इच्छदि इच्छति–वर्तमान अन्य पुरुष एक० क्रिया । निरुक्ति–जयतीति जिनः । समास—जिनस्य मार्गः जिनमार्गस्तस्मात् जिनमार्गात् ॥९०॥

टीकार्थ—इस जगतमें आगममें कथित अनन्तगुणोंमें से किन्हीं गुणोंके द्वारा—जो गुण अन्यके साथ योगरहित होनेसे असाधारणता धारण करके विशेषपनेको प्राप्त हुए हैं ऐसे किन्हीं गुणोंके द्वारा मोहका क्षय करनेमें प्रखर है बुद्धि जिनकी ऐसे स्वरूपज्ञानी पुरुष अनन्त द्रव्य परम्परामें स्व परके विवेकको प्राप्त करें। स्पष्टीकरण– सत् और अकारण होनेसे स्वतःसिद्ध, अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशवाला होनेसे स्व परका ज्ञायक– ऐसा जो यह मेरे साथ सम्बन्धवाला मेरा चैतन्य है तथा जो समानजातीय अथवा असमानजातीय अन्य द्रव्यको छोड़कर मेरे आत्मामें ही वर्तता है उसके द्वारा मैं अपने आत्माको सकल त्रिकालमें ध्रुवत्वका धारक द्रव्य जानता हूं। इस प्रकार अन्य द्रव्यको छोड़कर उसी द्रव्यमें वर्तमान पृथक् रूपसे रहे स्वलक्षणों द्वारा आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और अन्य आत्माको सकल त्रिकालमें ध्रुवत्वधारक द्रव्यके रूपमें निश्चित करता हूं। इस कारण मैं आकाश नहीं हूं, धर्म नहीं हूं, अधर्म नहीं हूं, काल नहीं हूं पुद्गल नहीं हूं और आत्मान्तर नहीं हूं क्योंकि एक कमरेमें जलाये गये अनेक दीपकोंके प्रकाशोंकी तरह इकट्ठे होकर रहते हुए भी इन द्रव्योंमें मेरा चैतन्य निजस्वरूपसे अच्युत ही रहता हुआ मुझे पृथक् बताता है। इस प्रकार जिसने स्व परका विवेक निश्चित किया है ऐसे आत्माके विकारकारी मोहांकुरका प्रादुर्भाव नहीं होता।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें स्वपरविभागकी सिद्धिका प्रयत्न करनेकी प्रेरणा दी गई थी। अब इस गाथामें आगमसे स्वपरविवेकसिद्धि करनेका यत्न बताया है।

तथ्यप्रकाश—(१) आगममें अनन्त गुणोंका वर्णन है। (२) अनन्त गुणोंमें कई गुण ऐसे हैं जो अन्ययोगका व्यवच्छेदक होनेसे असाधारण हैं। (३) असाधारण गुणोंके योग

अथ जिनोदितार्थश्रद्धानमन्तरेण धर्मलाभो न भवतीति प्रतर्कयति—

सत्तासंबद्धे दे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥९१॥

सत्तासम्बद्ध सभी, सविशेष हि जो न द्रव्य सरधाने।
वह तो श्रमण नहीं है, नहिं उससे धर्मका उद्भव ॥९१॥

सत्तासबद्धानेतान् सविशेषान् यो हि नैव श्रामण्ये। श्रद्दधाति न स श्रमणः ततो धर्मो न सभवति ॥ ९१ ॥

यो हि नामैतानि सादृश्यास्तित्वेन सामान्यमनुव्रजन्त्यपि स्वरूपास्तित्वेनाश्लिष्टविशे·

नामसंज्ञ--सत्तासवद्ध एत सविसेस ज हि ण एव सामण्ण ण त समण तत्तो धम्म ण। धातुसंज्ञ—सद् दह धारणे, स भव सत्ताया। प्रातिपदिक—सत्तासबद्ध एतत् सविशेप यत् हि न एव श्रामण्य न तत

से प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न है। (४) असाधारण गुणोके द्वारा अनन्त द्रव्योमे स्वपरका विवेक बनता है। (५) अनन्त द्रव्योमे स्वकीय चैतन्यात्मक द्रव्यत्वसे युक्त आत्मा स्व है, शेष सब यथोचित द्रव्यत्वसे युक्त द्रव्य पर है। (६) ज्ञानी जानता है कि मैं अहेतुक स्वतः सिद्ध अन्तर्बहिर्मुख प्रकाशशाली स्वकीय चैतन्यमात्र त्रिकाली ध्रुव हूं। (७) अन्य द्रव्य भी अपने-अपने असाधारणगुणसे तन्मय त्रिकाली ध्रुव है। (८) स्वमे परका अत्यन्ताभाव है, परमे स्वका अत्यन्ताभाव है। (९) जिसने स्वपरविवेक पाया है उसके मोहांकुरकी उत्पत्ति नही है। (१०) स्वपरविवेक जिनागमके अभ्यास द्वारा यथार्थ वस्तुस्वरूप जाननेसे प्राप्त होता है।

सिद्धान्त--(१) स्वके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे आत्माके अस्तित्वका परिचय होता है। (२) परके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे आत्माका नास्तित्व जाना जाता है।

दृष्टि—१- अस्तित्वनय [१५४]। २- नास्तित्वनय [१५५]।

प्रयोग—आगममे उपदिष्ट विधिसे तत्त्वज्ञान करते हुए स्वपरविवेककी सिद्धि पाना ॥९०॥

अब जिनेन्द्रभाषित अर्थोके श्रद्धान बिना धर्मलाभ नही होता, इस तथ्यको तर्कणापूर्वक विचारते है—[यः हि] जो [श्रामण्ये] श्रमणावस्थामे [एतान् सत्तासंबद्धान् सविशेषान्] इन सत्तासयुक्त सविशेष पदार्थोको [न एव श्रद्दधाति] श्रद्धा ही नही करता [सः] वह [श्रमणः न] श्रमण नही है, [ततः धर्मः न संभवति] उससे धर्म सभव नही है।

तात्पर्य—जो मुनि प्रत्येक पदार्थोको पृथक् पृथक् सत्तामय नही मानता वह मुनि नही और न वहाँ धर्म सम्भव है।

पाणि द्रव्याणि स्वपरावच्छेदेनापरिच्छिन्दन्नश्रद्दधानो वा एवमेव श्रामण्येनात्मानं दमयति स खलु न नाम श्रमणः । यतस्ततोऽपरिच्छिन्नरेणुकनककणिकाविशेषाद्धूलिधावकात्कनकलाभ इव निरुपरागात्मतत्त्वोपलम्भलक्षणो धर्मोपलम्भो न सम्भूतिमनुभवति ॥ ६१ ॥

श्रमण तत धम न । मूलधातु—श्रद् धा धारणे स भू सत्तायां । उभयपदविवरण—सत्तासवद्धे सत्तासवद्धान् सविसेसे सविशेषान् एदे एतान्–द्वितीया बहु० । जो य सो स समणो श्रमण धम्मो धम–प्रथमा एक० । सद्दहदि श्रद्दधाति सभवदि सभवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । तत्तो तत –अव्यय पंचम्यर्थे । निरुक्ति—सत भाव सत्ता, श्रमणस्य भाव श्रामण्य तस्मिन् । समास—सत्तया सवद्धा सत्तासवद्धा तान् सत्तासवद्धान् ॥६१॥

टीकार्थ—जो इन द्रव्योको जो कि सादृश्य अस्तित्वके द्वारा समानताको धारण करते हुए भी स्वरूपास्तित्वके द्वारा विशेषयुक्त हैं उन्हे स्व परके भेदपूर्वक न जानता हुआ और श्रद्धान न करता हुआ यो ही ज्ञानश्रद्धाके बिना मात्र द्रव्यमुनित्वसे आत्माका दमन करता है वह वास्तवमे श्रमण नही है । इस कारण जैसे जिसे रेती और स्वर्णकणोका अन्तर ज्ञात नही है, उसे धूलके धोनेसे उसमेसे स्वर्ण लाभ नही होता, इसी प्रकार उस श्रमणाभासमे से निर्विकार आत्मतत्त्वकी उपलब्धि लक्षण वाला धर्मलाभ सभव नही होता ।

प्रसगविवरण—अनतरपूर्व गाथामे आगमसे स्वपरविवेक सिद्धिका कर्तव्य बताया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि केवलिप्रज्ञप्त अर्थश्रद्धानके बिना धर्मलाभ नही होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) सादृश्यास्तित्व अर्थात् महासत्ताकी दृष्टिसे सर्व द्रव्य समान हैं, अविशेष हैं, एक हैं । (२) स्वरूपास्तित्वसे द्रव्य अपनी अपनी विशेषताको लिये हुए हैं । (३) स्वरूपास्तित्वसे ही स्व व परका विवेक बनता है । (४) जो पुरुष द्रव्योको यथार्थ स्व पररूपसे नही जानता व न ही श्रद्धान करता और यो ही द्रव्यलिङ्गसे अपने आत्माको दबाता है वह वास्तवमे मुनि नही है । (५) स्वपरविवेकसिद्धि हुए बिना द्रव्यमुनि होनेपर भी उसे धर्मकी उपलब्धि नही होती । (६) निरुपराग आत्मतत्त्वकी उपलब्धिको धर्मोपलब्धि कहते हैं ।

सिद्धान्त—(१) यथार्थ श्रद्धान् ज्ञानसे धर्ममय आत्माकी उपलब्धि होती है ।

दृष्टि—१– ज्ञाननय (१९४) ।

प्रयोग—आगमोक्त पद्धतिसे तत्त्वश्रद्धान करके सहजनिजस्वभावदृष्टि द्वारा अविकार धर्ममय आत्माकी उपलब्धि करना ॥६१॥

अब 'उवसपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसपत्ती' इस प्रकार पाँचवी गाथामें प्रतिज्ञा करके 'चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो' इस प्रकार ७वीं गाथामें साम्यका

अथ 'उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती' इति प्रतिज्ञाय 'चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो' इति साम्यस्य धर्मत्वं निश्चित्य 'परिणमदि जेण दव्वं तक्काल तम्मय त्ति पण्णत्तं तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो' इति यदात्मनो धर्मत्वमासूत्रयितुमुपक्रान्तं, यत्प्रसिद्धये च 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो पावदि णिव्वाणसुह' इति निर्वाणसुखसाधनशुद्धोपयोगोऽधिकर्तु मारब्धः, शुभाशुभोपयोगौ च विरोधिनौ निध्वंस्तौ, शुद्धोपयोगस्वरूप चोपवर्णितं, तत्प्रसादजौ चात्मनो ज्ञानानन्दौ सहजौ समुद्योतयता सवेदनस्वरूपं सुखस्वरूपं च प्रपञ्चितम्। तदधुना कथं कथमपि शुद्धोपयोगप्रसादेन प्रसाध्य परमनिस्पृहामात्मतृप्तां पारमेश्वरीप्रवृत्तिमभ्युपगतः कृतकृत्यतामवाप्य नितान्तमनाकुलो भूत्वा प्रलीनभेदवासनोन्मेषः स्वयं साक्षाद्धर्म एवास्मीत्यवतिष्ठते—

धर्मपना निश्चित करके 'परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तन्मयत्ति पण्णत्तं, तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो' इस प्रकार ८वी गाथामे जो आत्माके धर्मपना कहना प्रारम्भ किया और जिसकी सिद्धिके लिये 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसपओगजुदो, पावदि णिव्वाण-सुह' इस प्रकार ११वी गाथामे निर्वाण-सुखके साधनभूत शुद्धोपयोगका अधिकार प्रारम्भ किया विरोधी शुभाशुभ उपयोगको नष्ट किया अर्थात् हेय बताया व शुद्धोपयोगका स्वरूप वर्णित किया तथा शुद्धोपयोगके प्रसादसे उत्पन्न होने वाले आत्माके सहज ज्ञान और आनन्दको प्रकाशित करते हुये ज्ञानके स्वरूपका और सुखके स्वरूपका विस्तार किया, उसको अर्थात् आत्माके धर्मत्वको कैसे कैसे ही शुद्धोपयोगके प्रसादसे सिद्ध करके, परमनिःस्पृह आत्मतृप्त पारमेश्वरी प्रवृत्तिको प्राप्त होते हुये, कृतकृत्यताको प्राप्त करके अत्यत अनाकुल होकर भेदवासना की प्रगटताका प्रलय हुआ है जिसके ऐसे होते हुये आचार्य 'मै स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ' इस प्रकार ठहरते हैं अर्थात् ऐसे भावमे स्थिर होते है—[यः आगमकुशलः] जो आगममे कुशल है, [निहतमोहदृष्टिः] जिसकी मोहदृष्टि हत हो गई है, और [विरागचरितेअभ्युत्थितः] जो वीतराग चारित्रमे आरुढ़ है, [महात्मा श्रमणः] वह महात्मा श्रमण [धर्मः इति विशेषितः] 'धर्म' है इस प्रकार कहा गया है।

तात्पर्य—निर्मोह वीतरागचारित्रमे लगा आगमकुशल मुनिराज धर्मस्वरूप है।

टीकार्थ—जो यह आत्मा स्वयं धर्म होता है, सो यह वास्तवमे इष्ट ही है। उसमे विघ्न डालने वाली एकमात्र वहिर्मुख मोहदृष्टि ही है और वह वहिर्मोह दृष्टि आगममें कुशलता से तथा आत्मज्ञानसे नष्ट हुई अब मुझमे पुनः उत्पन्न नही होगी। इस कारण वीतराग चारित्रमे उभरा है अवतार जिसका, ऐसा मेरा यह आत्मा स्वयं धर्म होकर समस्त विघ्नोका

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥९२॥

जो निहतमोहदृष्टी, आगमज्ञानी विरागचर्यामे ।
उन्नत महान आत्मा, वही श्रमण धर्ममय माना ॥ ९२ ॥

यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते । अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषित श्रमण ॥ ९२ ॥

यदय स्वयमात्मा धर्मो भवति स खलु मनोरथ एव, तस्य त्वेका बहिर्मोहदृष्टिरेव विहन्त्री । सा चागमकौशलेनात्मज्ञानेन च निहता, नात्र मम पुनर्भावमापत्स्यते । ततो वीतरागचारित्रसूत्रितावतारो ममायमात्मा स्वय धर्मो भूत्वा निरस्तसमस्तप्रत्यूहतया नित्यमेव निष्कम्प एवावतिष्ठते । अलमतिविस्तरेण । स्वस्ति स्याद्वादमुद्रिताय जैनेन्द्राय शब्दब्रह्मणे । स्वस्ति

नामसज्ञ—ज णिहदमोहदिट्ठि आगमकुसल विरागचरिय अब्भुट्ठिद महप्प धम्म त्ति विसेसिद समण । धातुसज्ञ—णि हण हिंसायां, अभि उत् ट्ठा गतिनिवृत्तौ । प्रातिपदिक—यत् निहतमोहदृष्टि आगमकुशल विरागचरित अभ्युत्थित महात्मा धर्म इति विशेषित श्रमण । मूलधातु—नि हन हिंसायां अभि उत् ष्ठा

नाश हो जानेसे सदा निष्कप ही रहना है । अधिक विस्तारसे क्या ? जयवत वर्तो स्याद्वाद मुद्रित जैनेन्द्र शब्दब्रह्म ! जयवत वर्तो शब्दब्रह्ममूलक आत्मतत्त्वोपलब्धि,—कि जिसके प्रसाद से अनादि ससारसे बँधी हुई मोहग्रथि तत्काल ही निकल गई है और जयवत वर्तो परमवीत राग चारित्रस्वरूप शुद्धोपयोग जिसके प्रसादसे यह आत्मा स्वयमेव धर्म हुआ है ।

आत्मा इत्यादि, अर्थ—इस प्रकार शुद्धोपयोगको प्राप्त करके आत्मा स्वय धर्म होता हुआ अर्थात् स्वयं धर्मरूप परिणत होता हुआ नित्य आनन्दके प्रसारसे सरस ज्ञान तत्त्वमे लीन होकर अत्यन्त अविचलपनेसे देदीप्यमान ज्योतिर्मय और सहजरूपसे विलसित रत्नदीपककी निष्कप प्रकाशमय शोभाको पाता है ।

निश्चित्य इत्यादि, अर्थ—इस प्रकार आत्मारूपी आश्रयमे रहने वाले ज्ञानतत्त्वको यथार्थतया निश्चित करके, उसकी सिद्धिके लिये प्रशमके ध्येयसे ज्ञेयतत्त्वको जाननेका इच्छुक (जीव) सब पदार्थोंको द्रव्य-गुण पर्याय सहित जानता है, जिससे कभी मोहाकुरकी किंचिन्मात्र भी उत्पत्ति नही होती ।

प्रसगविवरण—अनतरपूर्व गाथामें बताया गया था कि जिनोदित पदार्थश्रद्धानके बिना धर्मोपलब्धि नही होती । अब इस गाथामे बताया गया है कि शुद्धोपयोगके प्रसादसे साध्यमान यह मैं आत्मा स्वय साक्षात् धर्म ही हू ।

तथ्यप्रकाश—(१) यह मैं सहजात्मतत्त्व स्वय धर्म हू । (२) धर्मकी विभातिका एक

तन्मूलायात्मतत्त्वोपलम्भाय च, यत्प्रसादादुद्ग्रन्थितो झगित्येवासंसारबद्धो मोहग्रन्थिः । स्वस्ति च परमवीतरागचारित्रात्मने शुद्धोपयोगाय, यत्प्रसादादयमात्मा स्वयमेव धर्मो भूतः ॥ आत्मा धर्मः स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोगं नित्यानन्दप्रसरसरसे ज्ञानतत्त्वे निलीय । प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया निःप्रकम्पप्रकाशां स्फूर्जज्ज्योतिः सहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ॥५॥ निश्चित्यात्मन्यधिकृतमिति ज्ञानतत्त्वं यथावत् तत्सिद्ध्यर्थं प्रशमविषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः । सर्वानर्थान् कलयति गुणद्रव्यपर्याययुक्त्या प्रादुर्भूतिर्न भवति यथा जातु मोहांकुरस्य ॥६॥९२॥

इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां "श्रीमदमृतचन्द्रसूरि" विरचितायां 'ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापनो' नाम प्रथमः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥

गतिनिवृत्तौ । **उभयपदविवरण**—जो य णिहदमोहदिट्ठी निहतमोहदृष्टि: आगमकुसलो आगमकुशल: अब्भुट्ठिदो अभ्युत्थित: महप्पा महात्मा धम्मो धर्म: समणो श्रमण:–प्रथमा एक० । विरागचरियम्मि विरागचरिते–सप्तमी एकवचन । विसेसिदो विशेषित:–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । **निरुक्ति**—दृश्यते अनया सा दृष्टि:, ध्रियते ज्ञानिभि: इति धर्म: । **समास**—आगमे कुशल: आगमकुशल:, निहता मोहदृष्टि: येन स: नि०, विरागं च तत् चरितं चेति विरागचरितं तस्मिन् वि० ॥ ९२ ॥

बहिर्मोह दृष्टि ही है । (३) बहिर्मोहदृष्टि आगमकौशल आत्मज्ञानसे नष्ट हो जाती है । (४) प्रखर स्वभावदृष्टिसे नष्ट हुई बहिर्मोहदृष्टि पुनः नहीं आ सकती । (५) मोहदृष्टि नष्ट होनेसे वीतराग चारित्ररूपमें स्पष्ट प्रकट यह आत्मा स्वयं धर्मरूप है । (६) धर्ममय यह आत्मा निरावरण होनेसे नित्य अकम्प रहता है । (७) कल्याणका प्रारम्भक जैनेन्द्र शब्दब्रह्मकी (आगमकी) उपासना है । (८) आगमकी उपासनाके प्रसादसे आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है । (९) आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके प्रसादसे अनादिबद्ध मोहकी गांठ नष्ट होती है । (१०) मोहकी गांठ नष्ट होनेपर परमवीतरागचारित्रात्मक शुद्धोपयोग होता है । (११) शुद्धोपयोगके प्रसादसे यह आत्मा स्वयं धर्मरूप प्रकट होता है ।

सिद्धान्त—(१) स्वभावदृष्टिसे स्वभावका विकास होता है ।

दृष्टि—१– स्वभावनय (१७९) ।

प्रयोग—शान्त धर्ममय होनेके लिये आगमाभ्यास द्वारा आत्मतत्त्वकी उपलब्धि करके प्रखर स्वभावदृष्टिके बलसे अपनेको अविकार अनुभवना ॥९२॥

इस प्रकार श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत श्रीप्रवचनसारशास्त्र व श्रीमदमृतचंद्राचार्यदेवविरचित 'तत्त्वदीपिका' नामक टीकापर सहजानन्द सप्तदशाङ्गी टीका समाप्त ॥

—०—

२—ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन

अथ ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन, तत्र पदार्थस्य सम्यग्द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥ ९३ ॥

अर्थ द्रव्यमय होता, द्रव्य गुणात्मक व उनसे पर्यायें।
पर्यायोंके मोही, होते परसमय अज्ञानी ॥ ९३ ॥

अर्थ खलु द्रव्यमयो द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि। तैस्तु पुनः पर्यायाः पर्ययमूढा हि परसमयाः ॥९३॥

इह किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यमयः। द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वाद्गुणात्मकानि। पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि। तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः।

नामसंज्ञ—अत्थ खलु दव्वमअ दव्व गुणप्पग भणिद त पुणो पज्जाय पज्जयमूढ हि परसमय। धातुसंज्ञ—भण कथने, मुज्झ मोहे। प्रातिपदिक—अर्थ खलु द्रव्यमय द्रव्य गुणात्मक भणित तत् पुनर् पर्याय

ज्ञेयतत्त्व - प्रज्ञापन

अब ज्ञेयतत्त्वका प्रज्ञापन प्रारम्भ होता है। वहाँ प्रथम ही पदार्थका यथार्थ द्रव्यगुण पर्यायस्वरूप निकटतासे निरखते हैं—[खलु अर्थः] वास्तवमें पदार्थ [द्रव्यमयः] द्रव्यस्वरूप है, [द्रव्याणि] द्रव्य [गुणात्मकानि] गुणात्मक [भणितानि] कहे गये हैं, [तु पुनः तैः] और द्रव्य तथा गुणोंसे [पर्यायाः] पर्याय होती है। [पर्यायमूढाः हि] पर्यायमूढ़ जीव [परसमयाः] परसमय अर्थात् मिथ्यादृष्टि हैं।

तात्पर्य—जो पर्यायोंमें मोहित हैं, आत्मबुद्धि करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं।

टीकार्थ—वास्तवमें इस विश्वमें जो कोई जाननेमें आने वाला पदार्थ है वह समस्त ही विस्तारसामान्यसमुदायात्मक और आयतसामान्यसमुदायात्मक द्रव्यसे रचित होनेसे द्रव्य

स द्विविधः, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च । तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इत्यादि, असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि । गुणद्वारेणायतानैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो गुणपर्यायः । सोऽपि द्विविधः स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च । तत्र स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः, विभावपर्यायो नाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः । अथेदं दृष्टान्तेन द्रढयति– यथैव हि सर्व एव पटोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन चाभिनिर्वर्त्यमानस्तन्मय एव, तथैव हि सर्व एव पदार्थोऽवस्थायिना विस्तार-

पर्यायमूढ परसमय । मूलधातु—भण शब्दार्थ, मुह वैचित्ये । उभयपदविवरण—अत्थो अर्थ. दव्वमओ द्रव्यमय –प्र० एक० । दव्वाणि द्रव्याणि गुणप्पगाणि गुणात्मकानि पज्जाया पर्याया पज्जयमूढा पर्यायमूढाः

मय है । और द्रव्य एक है आश्रय जिनका, ऐसे विस्तारविशेषस्वरूप गुणोसे रचित होनेसे गुणात्मक है । और पर्यायें–जो कि आयतविशेपस्वरूप है वे जिनके—लक्षण कहे गये है ऐसे द्रव्योसे तथा गुणोसे रचित होनेसे द्रव्यात्मक भी है, गुणात्मक भी है । उसमे अनेक द्रव्यात्मक एकताकी प्रतिपत्तिका कारणभूत द्रव्यपर्याय है । वह दो प्रकार है–समानजातीय और असमानजातीय । उनमें समानजातीय वह है–जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक त्रिअणुक इत्यादि । असमानजातीय वह है, जैसे कि जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य इत्यादि । गुण द्वारा आयतकी अनेकताकी प्रतिपत्तिका कारणभूत गुणपर्याय है । वह भी दो प्रकार है–स्वभावपर्याय और विभावपर्याय । उनमे समस्त द्रव्योके अपने-अपने अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप नानापनकी अनुभूति स्वभावपर्याय है । रूपादिके या ज्ञानादिके स्व परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामे होने वाले तारतम्यके कारण देखनेमे आने वाले स्वभाव विशेषरूप अनेकत्वकी आपत्ति विभावपर्याय है । अब इस कथनको दृष्टान्त से दृढ करते है—

जैसे सम्पूर्ण पट स्थिर विस्तारसामान्यसमुदायसे और प्रवाहरूप हुये आयतसामान्यसमुदायसे रचित होता हुआ तन्मय ही है, इसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थ 'द्रव्य' नामक अवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायसे और दौड़ते हुये आयतसामान्यसमुदायसे रचित होता हुआ द्रव्यमय ही है । और जैसे पटमें, अवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदाय या प्रवाहरूप आयतसामान्यसमुदाय गुणोसे रचित होता हुआ गुणोसे पृथक् न पाया जानेसे गुणात्मक ही है, उसी प्रकार पदार्थोंमें, अवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदाय या अन्वयरूप आयतसामान्यसमुदाय–जिसका नाम

सामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन च द्रव्यनाम्नाभिनिर्वर्त्यमानो द्रव्यमय एव । यथैव च पटेऽवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा गुणैरभिनिवर्त्यमानो गुणेभ्य पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव, तथैव च पदार्थेष्ववस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा द्रव्यनामा गुणैरभिनिवर्त्यमानो गुणेभ्य पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव । यथैव चानेकपटात्मको द्विपटिका त्रिपटिकेति समानजातीयो द्रव्यपर्याय, तथैव चानेक पुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इति समानजातीयो द्रव्यपर्याय । यथैव चानेककौशेयककार्पासमयपटात्मको द्विपटिकात्रिपटिकेत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्याय, तथैव चानेकजीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्याय । यथैव च क्वचित्पटे स्थूलात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण कालक्रमप्रवृत्तेन नानाविधेन परिणमनान्नानात्वप्रतिपत्तिर्गुणात्मक स्वभावपर्याय, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु सूक्ष्मात्मीयात्मीयगुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूति गुणात्मक स्वभावपर्याय । यथैव च पटे रूपादीनां स्वपरप्रत्य-

परसमया परसमया –प्रथमा बहु० । तेहिं त –तृतीया बहु० । भणिदाणि भणितानि–प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया । खलु पुणा पुन हि–अव्यय । निग्च्छित—परि यांति गच्छति द्र यमनु इति पर्याया सम् अयो इति

'द्रव्य' है वह– गुणोंसे रचित होता हुआ गुणोंसे पृथक् न पाया जानेसे गुणात्मक ही है । और जैसे अनेक पटात्मक द्विपटिक, त्रिपटिक यह समानजातीय द्रव्यपर्याय है, उसी प्रकार अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक, त्रिअणुक, ऐसा समानजातीय द्रव्यपर्याय है, और जैसे अनेक रेशमी और सूती पटोंके बने हुए द्विपटिक, त्रिपटिक, ऐसा असमानजातीय द्रव्यपर्याय है उसी प्रकार अनेक जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य, ऐसी असमानजातीय द्रव्यपर्याय है । और जैसे कभी पटमें अपने स्थूल अगुरुलघु गुण द्वारा कालक्रमसे प्रवर्तमान अनेक प्रकाररूपसे परिणत होनेके कारण नानापनकी प्रतिपत्ति गुणात्मक स्वभावपर्याय है, उसी प्रकार समस्त द्रव्योंमें अपने अपने सूक्ष्म अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थानपतित हानिवृद्धिरूप नानापनकी अनुभूति गुणात्मक स्वभावपर्याय है, और जैसे पटमें, रूपादिकके स्व-परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होने वाले तारतम्यके कारण देखनेमें आने वाले स्वभावविशेषरूप आपत्ति गुणात्मक विभावपर्याय है, उसी प्रकार समस्त द्रव्योंमें रूपादिके या ज्ञानादिके स्व परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होने वाले तारतम्यके कारण देखनेमें आने वाले स्वभावविशेषरूप अनेकत्वकी आपत्ति गुणात्मक विभावपर्याय है । वास्तवमें यह, सब पदार्थोंकी द्रव्यगुणपर्यायस्वभावकी प्रकाशक पारमेश्वरी व्यवस्था न्याययुक्त है, दूसरी कोई नहीं । क्योंकि बहुतसे जीव पर्यायमात्रका ही अवलम्बन करके, तत्त्वकी अप्रतिपत्ति लक्षण है जिसका ऐसे मोहको प्राप्त होते हुये परसमय होते हैं ।

यप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मको विभाव-पर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरा-वस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मकोविभावपर्यायः। इयं हि सर्व-पदार्थानां द्रव्यगुणपर्यायस्वभावप्रकाशिका पारमेश्वरी व्यवस्था साधीयसी, न पुनरितरा। यतो हि वहवोऽपि पर्यायमात्रमेवावलम्ब्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणं मोहमुपगच्छन्तः परसमया भव-न्ति ॥ ९३ ॥

समय, द्रव्येण निवृ त्त द्रव्यमय। **समास**—गुणा' आत्मका येपा तानि गुणात्मकानि, पर्यायेपु मूढा. पर्या-यमूढाः ॥ ९३ ॥

प्रसंगविवरण—प्रारम्भसे अनन्तरपूर्व गाथा तक ज्ञानतत्त्वका प्रज्ञापन किया। अब ज्ञेयतत्त्वका प्रज्ञापन किया जा रहा है, जिसमें प्रथम ही समीचीन प्रकारसे द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप कहा गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) जो कुछ जाना गया वह सब अर्थ कहलाता है। (२) अर्थ द्रव्य-मय होता है। (३) द्रव्यविस्तार सामान्य (गुण) और आयत (पर्याय) सामान्यरूप समुदाया-त्मक है। (३) द्रव्य स्वाश्रित विस्तारविशेषात्मावोसे अर्थात् गुणोसे रचा गया होनेसे गुणात्मक हैं। (४) पर्यायें प्रतिसमय एक एक होकर त्रिकाल होते रहनेसे आयतविशेषात्मक कहलाती है। (५) जो आयतविशेषात्मक पर्यायें द्रव्यो द्वारा अर्थात् प्रदेशोके आकाररूपसे रचित है वे द्रव्यव्यञ्जन पर्यायें है। (६) जो आयतविशेषात्मक पर्यायें गुणोसे रचित है वे गुणव्यञ्जन पर्यायें है। (७) जो द्रव्यव्यञ्जन पर्याय केवल एक द्रव्यके प्रदेशोंके आकारमे है वह स्वभाव-द्रव्यव्यञ्जनपर्याय है। (८) जो द्रव्यव्यञ्जनपर्याय अनेक बद्ध द्रव्योके प्रदेशोके आकारमे है वह या तो समानजातीय द्रव्यव्यञ्जनपर्याय है या असमानजातीय द्रव्यव्यञ्जन पर्याय है। (९) समानजातिके अनेक द्रव्योके सश्लेषमे होने वाला आकारपरिणमन समानजातीय द्रव्य-व्यञ्जनपर्याय है जैसे ये दृश्यमान पुद्गल स्कंध। (१०) असमान जातिके अनेक द्रव्योके संश्लेष मे होने वाला आकारपरिणाम असमानजातीय द्रव्यव्यञ्जनपर्याय है, जैसे मनुष्य पशु आदि। (११) गुणपर्याय प्रतिसमय अन्य अन्य होता है। (१२) गुणपर्याय दो प्रकारके होते हैं—(१) स्वभाव गुण पर्याय, (२) विभाव गुण पर्याय। (१३) स्वभावगुणपर्याय स्वभावके अनु-रूप विकासका नाम है, इसकी अर्थपर्यायसे समानता होनेसे यहां अगुरुलघु गुण द्वारा प्रति-समय उदित षट्स्थानपतित वृद्धि हानिरूप नानापनकी अनुभूति है, फिर भी विकासकार्य समान है जैसे अनन्त ज्ञान आदि। (१४) विभावगुणपर्याय अनुरूपदशावान परपदार्थका

ग्यानुपङ्गिकीमिमामेव स्वसमयपरसमयव्यवस्था प्रतिष्ठाप्योपसहरति—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा ।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा ॥६४॥

जो पर्यायनिरत हैं, उन जीवोको परसमय बताया ।
आत्मस्वभावस्थित जो उनको ही स्वकसमय जानो ॥६४॥

ये पर्यायेषु निरता जीवा परसमयिका इति निर्दिष्टा । आत्मस्वभावे स्थितास्ते स्वकसमया ज्ञातव्या ।६४।

ये खलु जीवपुद्गलात्मकमसमानजातीयद्रव्यपर्याय सकलाविद्यानामेकमूलमुपगता यथोदितात्मस्वभावसभावनक्लीवास्तस्मिन्नेवासक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ममवैत मनुष्यशरीरमित्यहङ्कारममकाराभ्या विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात् प्रच्युत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बक मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा सगतत्वात्परसमया जायन्ते । ये तु पुनरसकीर्णद्रव्यगुण-

नामसज्ञ—ज पज्जय णिरद जीव परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठ आदसहाव ठिद त परसमय मुणेदव्व । धातुसज्ञ—मुण ज्ञान । प्रातिपदिक—यत् पर्याय निरत जीव परसमयिक इति निर्दिष्ट आत्मस्वभाव स्थित

निमित्त पाकर होनेसे विविध विकाररूप होते हैं जैसे क्रोध, मान, मतिज्ञान आदि । (१५) परमेश्वर अहन्तदेवकी दिव्यध्वनिसे प्रकट द्रव्य गुण पर्यायके स्वरूपकी व्यवस्था उक्त प्रकार ही समीचीन है, अन्य कोई व्यवस्था स्वरूपसगत नही । (१६) द्रव्य गुण पर्यायके स्वरूपकी सही व्यवस्था जिनको निर्णीत नही वे पर्यायमात्रका आलम्बन करके तत्त्वकी अप्रतिपत्तिरूप मोहको अपनाकर मिथ्यादृष्टि रहते हैं । (१७) द्रव्यगुणपर्यायके स्वरूपकी सही व्यवस्था जिनको निर्णीत हो चुकी वे अध्रुव पर्यायोमे मुग्ध न होकर ध्रुव सहज ज्ञानस्वभावमय निज अन्तस्तत्त्वके अभिमुख होकर अपनेमे अपनेको सम्यक अवलोकन कर सम्यग्दृष्टि रहते हैं ।

सिद्धात—(१) पर्यायको अपना आत्मसवस्व मानने वाले जीव परसमय अथवा मिथ्यादृष्टि हैं ।

दृष्टि—१– विजात्यसद्भूत व्यवहार (६८) ।

प्रयोग—द्रव्यगुणपर्यायरूपसे पदार्थको यथार्थ जानकर अध्रुव व्यतिरेक व भेदसे उपयोगको हटाकर ध्रुव अन्वयी अभेद चारमचैतन्यस्वरूपमे आत्मत्वको अनुभवना ॥६३॥

अब आनुषगिकी इस ही स्वसमय परसमयकी व्यवस्थाको प्रतिष्ठित करके (उसका) उपसहार करते हैं—[ये जीवा] जो जीव [पर्यायेषु निरता] पर्यायोमे लीन हैं [परसमयिका इति निर्दिष्टा] वे परसामयिक कह गये हैं, [आत्मस्वभावे स्थिता] और जो जीव

अथ द्रव्यलक्षणमुपलक्षयति—

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंवद्धं ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥६५॥

न स्वभाव छूटनेसे, स्थिति व्यय उत्पाद धर्मसे तन्मय ।
जो गुणवंत सपर्यय, उसको प्रभु द्रव्य कहते है ॥६५॥

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसवद्धम् । गुणवच्च सपर्याय यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ॥ ६५ ॥

इह खलु यदनारब्धस्वभावभेदमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण गुणपर्यायद्वयेन च यल्लक्ष्यते तद्द्रव्यम् । तत्र हि द्रव्यस्य स्वभावोऽस्तित्वसामान्यान्वय:, अस्तित्व हि वक्ष्यति द्विविध, स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति । तत्रोत्पादः प्रादुर्भाव:, व्ययः प्रच्यवनं, ध्रौव्यमवस्थितिः । गुणा विस्तारविशेपा:, ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात् । तत्रास्तित्वं नास्तित्वमेकत्वमन्यत्व द्रव्यत्वं पर्यायत्व सर्वगतत्वमसर्वगतत्व सप्रदेशत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्व भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्यादयः सामान्यगुणा । अवगाहहेतुत्वं गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्वं वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्वमित्यादयो विशेपगुणा. । पर्याया आयतविशेषा:, ते पूर्वमेवोक्ताश्चतुर्विधाः । न च तैरुत्पादादिभिर्गुणपर्या-

नामसंज्ञ—अपरिच्चत्तसहाव उप्पादव्वयधुवत्तसवद्ध गुणव च सपज्जाय ज त दव्व ति । धातुसंज्ञ—वु व्यक्ताया वाचि । प्रातिपदिक—अपरित्यक्तस्वभाव उत्पादव्ययध्रुवत्वसवद्ध , गुणवत् सपर्याय यत् तत

पदार्थके यथार्थस्वरूपको अनेकान्तदृष्टिसे वे ही पुरुष निरखते है जो पर्यायविषयक आसक्तिको छोडकर आत्माके स्वभावमे ही लीन होनेका पौरुष करते है । (१७) पर्यायासक्ति छोडकर आत्मस्वभावमे वे ही पुरुप लीन हो सकते है जो आत्मस्वभावका आदर करनेमे समर्थ है । (१८) आत्मस्वभावका वे ही आदर कर पाते जो समस्त विद्याके एक मूल भगवान आत्मस्वभावकी उपासनामे रहते है । (१९) स्वसमय ही आत्माका तत्त्व है ।

सिद्धान्त—(१) स्वसमय अवस्थाकी प्राप्तिका साधन एक अखण्ड चैतन्यस्वभावमात्र आत्माका परिचय है ।

दृष्टि—१- अखण्ड परमशुद्ध निश्चयनय (४४) ।

प्रयोग—पर्यायसे उपेक्षा करके आत्मस्वभावमें लीन होनेका पौरुष करना ॥९४॥

अब द्रव्यका लक्षण उपलक्षित करते हैं—[अपरित्यक्तस्वभावेन] नही छोडा है स्वभाव जिसने ऐसा [यत्] जो [उत्पादव्ययध्रुवत्वसंवद्धम्] उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्त है [च] तथा [गुणवत् सपर्यायं] गुणयुक्त और पर्यायसहित है, [तत्] वह [द्रव्यम् इति] 'द्रव्य' है

यैर्वा सह द्रव्य लक्ष्यलक्षणभेदेऽपि स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव द्रव्यस्य तथाविधत्वादुत्त-रीयवत्। यथा खलूत्तरीयमुपात्तमलिनावस्थ प्रक्षालितममलावस्थयोत्पद्यमान तेनोत्पादेन लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथावधित्वमलम्बते। तथा द्रव्य-मपि समुपात्तप्राक्तनावस्थ समुचितबहिरङ्गसाधनसन्निधिसद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानस्वरूप कर्तृ करणसामर्थ्यस्वभावेनान्तरङ्गसाधनतामुपागतेनानुग्रहीतमुत्तरावस्थयोत्पद्यमान तेनोत्पादेन लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। यथा च तदेवोत्तरीयममलावस्थयोत्पद्यमान मलिनावस्थया व्ययमान तेन व्ययेन लक्ष्यते। न च तेन

द्रव्य इति। मूलधातु—ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि। उभयपदविवरण—अपरिच्चत्तसहावेण अपरित्यक्तस्वभा वेन-तृतीया एक०।। उप्पादव्वयधुवत्तसबद्ध उत्पादव्ययध्रुवत्वसबद्ध गुणव गुणवत् सपज्जाय सपर्याय ज यत् त तत् दव्व द्रव्य-प्रथमा एक०। निरुक्ति—उत्पद्यते इति उत्पाद। समास—अपरित्यक्त स्वभाव

ऐसा प्रभु [ब्रुवन्ति] कहते हैं।

तात्पर्य—एकस्वभावरूप उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त गुणपर्यायवान सत् द्रव्य कहलाता है।

टीकार्थ—वास्तवमें इस विश्वमें नहीं है स्वभावभेद जिसमें, ऐसा जो उत्पादव्ययध्रौव्यत्रयसे और गुणपर्यायद्वयसे लक्षित होता है वह द्रव्य है। उनमें अर्थात् स्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण और पर्यायमें से द्रव्यका स्वभाव है अस्तित्वसामान्यरूप अन्वय। अस्तित्व दो प्रकारका कहेंगे—(१) स्वरूपास्तित्व, (२) सादृश्यास्तित्व। उनमें उत्पाद तो प्रादुर्भाव है, व्यय, प्रच्युति है, ध्रौव्य, अवस्थिति है, तथा गुण, विस्तारविशेष हैं। वे सामान्यविशेषात्मक होनेसे दो प्रकारके हैं। इनमें अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्यगुण हैं। अवगाहहेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण हैं। पर्याय आयतविशेष हैं। वे पूर्व ही (९३वीं गाथाकी टीकामें) कथित चार प्रकारके हैं। द्रव्यका उन उत्पादादिके साथ अथवा गुणपर्यायोंके साथ लक्ष्यलक्षण भेद होनेपर भी स्वरूपभेद नहीं है। स्वरूपसे ही द्रव्य उत्पादादि अथवा गुणपर्याय वाला है, वस्त्र के समान।

जैसे मलिन अवस्थाको प्राप्त वस्त्र, धोया हुआ निर्मल अवस्था रूपसे उत्पन्न होता हुआ उस उत्पादसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उस उत्पादके साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूपसे ही वैसा है अर्थात् स्वयं उत्पादरूपसे ही परिणत है। उसी प्रकार जिसने पूर्व अवस्था

अथ द्रव्यलक्षणमुपलक्षयति—

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं ति वुच्चंति ॥६५॥

न स्वभाव छूटनेसे, स्थिति व्यय उत्पाद धर्मसे तन्मय ।
जो गुणवंत सपर्यय, उसको प्रभु द्रव्य कहते हैं ॥६५॥

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसबद्धम् । गुणवच्च सपर्याय यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ॥ ६५ ॥

इह खलु यदनारब्धस्वभावभेदमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण गुणपर्यायद्वयेन च यल्लक्ष्यते तद्द्रव्यम् । तत्र हि द्रव्यस्य स्वभावोऽस्तित्वसामान्यान्वयः, अस्तित्व हि वक्ष्यति द्विविध, स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति । तत्रोत्पादः प्रादुर्भावः, व्ययः प्रच्यवनं, ध्रौव्यमवस्थितिः । गुणा विस्तारविशेपाः, ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात् । तत्रास्तित्वं नास्तित्वमेकत्वमन्यत्व द्रव्यत्वं पर्यायत्व सर्वगतत्वमसर्वगतत्व सप्रदेशत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्व चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्यादयः सामान्यगुणाः । अवगाहहेतुत्वं गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्व वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्वमित्यादयो विशेपगुणाः । पर्याया आयतविशेषाः, ते पूर्वमेवोक्ताश्चतुर्विधाः । न च तैरुत्पादादिभिर्गुणपर्या-

नामसंज्ञ—अपरिच्चत्तसहाव उप्पादव्वयधुवत्तसबद्ध गुणव च सपज्जाय ज त दव्व ति । धातुसंज्ञ—वु व्यक्तायां वाचि । प्रातिपदिक—अपरित्यक्तस्वभाव उत्पादव्ययध्रुवत्वसबद्ध, गुणवत् सपर्याय यत् तत्

पदार्थके यथार्थस्वरूपको अनेकान्तदृष्टिसे वे ही पुरुष निरखते है जो पर्यायविषयक आसक्तिको छोड़कर आत्माके स्वभावमे ही लीन होनेका पौरुष करते है । (१७) पर्यायासक्ति छोड़कर आत्मस्वभावमें वे ही पुरुप लीन हो सकते है जो आत्मस्वभावका आदर करनेमे समर्थ है । (१८) आत्मस्वभावका वे ही आदर कर पाते जो समस्त विद्याके एक मूल भगवान आत्मस्वभावकी उपासनामे रहते है । (१९) स्वसमय ही आत्माका तत्त्व है ।

सिद्धान्त—(१) स्वसमय अवस्याकी प्राप्तिका साधन एक अखण्ड चैतन्यस्वभावमात्र आत्माका परिचय है ।

दृष्टि—१- अखण्ड परमशुद्ध निश्चयनय (४४) ।

प्रयोग—पर्यायसे उपेक्षा करके आत्मस्वभावमे लीन होनेका पौरुष करना ॥९४॥

अब द्रव्यका लक्षण उपलक्षित करते हैं—[अपरित्यक्तस्वभावेन] नही छोडा है स्वभाव जिसने ऐसा [यत्] जो [उत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम्] उत्पादव्ययध्रौव्यसंयुक्त है [च] तथा [गुणवत् सपर्यायं] गुणयुक्त और पर्यायसहित है, [तत्] वह [द्रव्यम् इति] 'द्रव्य' है

यैर्वा सह द्रव्य लक्ष्यलक्षणभेदेऽपि स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव द्रव्यस्य तथाविधत्वादुत्त रीयवत्। यथा खलूत्तरीयमुपात्तमलिनावस्थं प्रक्षालितममलावस्थयोत्पद्यमान तेनोत्पादेन लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमलम्बते। तथा द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरङ्गसाधनसन्निधिसद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानस्वरूप कर्तृकरणसामर्थ्यस्वभावेनान्तरङ्गसाधनतामुपागतेनानुग्रहीतमुत्तरावस्थयोत्पद्यमान तेनोत्पादेन लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। यथा च तदेवोत्तरीयममलावस्थयोत्पद्यमान मलिनावस्थया व्ययमान तेन व्ययेन लक्ष्यते। न च तेन

द्रव्य इति। मूलधातु—द्रु गतौ, ब्रू व्यक्तायां वाचि। उभयपदविवरण—अपरिच्चत्तसहावेण अपरित्यक्तस्वभावेन-तृतीया एक०। उप्पादव्वयधुवत्तसबद्ध उत्पादव्ययध्रुवत्वसबद्ध गुणव गुणवत् सपज्जाय सपर्याय ज यत् त तत् दव्व द्रव्य-प्रथमा एक०। निरुक्ति—उत्पद्यते इति उत्पाद। समास—अपरित्यक्त स्वभाव

एसा प्रभु [ब्रुवन्ति] कहते हैं।

तात्पर्य—एकस्वभावरूप उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त गुणपर्यायवान सत् द्रव्य कहलाता है।

टीकार्थ—वास्तवमें इस विश्वमे नही है स्वभावभेद जिसमे, ऐसा जो उत्पादव्ययध्रौव्यत्रयसे और गुणपर्यायद्वयसे लक्षित होता है वह द्रव्य है। उनमें अर्थात् स्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, गुण और पर्यायमे से द्रव्यका स्वभाव है अस्तित्वसामान्यरूप अन्वय। अस्तित्व दो प्रकारका कहेंगे—(१) स्वरूपास्तित्व, (२) सादृश्यास्तित्व। उनमे उत्पाद तो प्रादुर्भाव है, व्यय, प्रच्युति है, ध्रौव्य, अवस्थिति है, तथा गुण, विस्तारविशेष हैं। वे सामान्यविशेषात्मक होनेसे दो प्रकारके हैं। इनमे अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्यगुण हैं। अवगाह हेतुत्व, गतिनिमित्तता, *स्थितिकारणत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व* इत्यादि विशेष गुण हैं। पर्याय आयतविशेष हैं। वे पूर्व ही (९३वी गाथाकी टीकामें) कथित चार प्रकारके हैं। द्रव्यका उन उत्पादादिके साथ अथवा गुणपर्यायोंके साथ लक्ष्यलक्षण भेद होनेपर भी स्वरूपभेद नही है। स्वरूपसे ही द्रव्य उत्पादादि अथवा गुणपर्याय वाला है, वस्त्र के समान।

जैसे मलिन अवस्थाको प्राप्त वस्त्र, धोया हुआ निर्मल अवस्था रूपसे उत्पन्न होता हुआ उस उत्पादसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उस उत्पादके साथ स्वरूपभेद नही है, स्वरूपसे ही वैसा है अर्थात् स्वय उत्पादरूपसे ही परिणत है। उसी प्रकार जिसने पूर्व अवस्था

सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथा तदेव द्रव्यमप्युत्तरावस्थयो- त्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयमेककालममलावस्थयोत्पद्यमानं मलि- नावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्योत्तरीयत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथैव तदेव द्रव्यमप्येककाल- मुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्या द्रव्यत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव

येन स अपरित्यक्तस्वभाव तेन । उत्पाद व्ययः ध्रुवत्व चेति उत्पादव्ययध्रुवत्वानि तैः सबद्ध इति उत्पाद-

प्राप्त की है ऐसा द्रव्य भी उचित बहिरंग साधनोके सान्निध्यके सद्भावमें विचित्र नाना स्वरूप के कर्ता व करणके सामर्थ्यरूप स्वभावसे अनुगृहीत होता हुआ, उत्तर अवस्थारूपसे उत्पन्न होता हुआ उत्पादसे लक्षित होता है; किन्तु उसका उस उत्पादके साथ स्वरूपभेद नही है, स्वरूपसे ही वैसा है । और जैसे वहाँ वस्त्र निर्मल अवस्थारूपसे उत्पन्न होता हुआ और मलिन अवस्थारूपसे व्ययको प्राप्त होता हुआ उस व्ययसे लक्षित होता है, परन्तु उसका उस व्ययके साथ स्वरूपभेद नही है, स्वरूपसे ही वैसा है उसी प्रकार वही द्रव्य भी उत्तर अवस्था रूपसे उत्पन्न होता हुआ और पूर्व अवस्था रूपसे व्ययको प्राप्त होता हुआ उस व्ययसे लक्षित होता है, परन्तु उसका उस व्ययके साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वैसा है । और जैसे वही वस्त्र एक ही समयमे निर्मल अवस्थारूपसे उत्पन्न होता हुआ, मलिन अवस्थारूपसे व्ययको प्राप्त होता हुआ और टिकने वाली वस्त्रत्व अवस्थासे ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्यसे लक्षित होता है; परन्तु उसका उस ध्रौव्यके साथ स्वरूपभेद नही है, स्वरूपसे ही वैसा है; इसी प्रकार वही द्रव्य भी एक ही समय उत्तर अवस्थारूपसे उत्पन्न होता हुआ, पूर्व अवस्थारूपसे व्यय होता हुआ, और टिकने वाली द्रव्यत्वअवस्थारूपसे रहता हुआ ध्रौव्यसे लक्षित होता है । किंतु उसका उस ध्रौव्यके साथ स्वरूपभेद नही है, वह स्वरूपसे ही वैसा है ।

और जैसे वही वस्त्र विस्तारविशेषस्वरूप शुक्लत्वादि गुणोसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उन गुणोंके साथ स्वरूपभेद नही है, स्वरूपसे ही वह वैसा है; इसी प्रकार वही द्रव्य भी विस्तारविशेषस्वरूप गुणोसे लक्षित होता है; किन्तु उसका उन गुणोके साथ स्वरूपभेद नही है, वह स्वरूपसे ही वैसा है । और जैसे वही वस्त्र आयतविशेषस्वरूप पर्यायस्थानीय तंतुओंसे लक्षित होता है, किन्तु उसका उन तंतुओके साथ स्वरूपभेद नही है, वह स्वरूपसे ही वैसा है । इसी प्रकार वही द्रव्य भी आयतविशेपस्वरूप पर्यायोसे लक्षित होता है, परन्तु

च तन्त्वोत्तरीय विस्तारविशेषात्मकगुणैर्लक्ष्यते। न च तै सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथैव तदेव द्रव्यमपि विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते। न च तैं सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। यथैव च तदेवोत्तरीयमायतवि-शेषात्मकै पर्यायवर्तिभिस्तन्तुभिर्लक्ष्यते। न च तै सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथा-विधत्वमवलम्बते। तथैव तदेव द्रव्यमप्यायतविशेषात्मकै पर्यायैर्लक्ष्यते। न च तै सह स्वरूप भेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते ॥९५॥

अस्तित्वसद्द्रव्य, गुण यस्यास्तीति गुणवत् पर्यायेन सहित ततवर्ति ॥९४॥

उसका उन पर्यायोंके साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूपसे ही वैसा है।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें स्वसमय व परसमयकी व्यवस्था प्रतिस्थापित की था। अब इस गाथामें द्रव्यका लक्षण उपलक्षित किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्य स्वभावभेदरहित अखण्ड सत् है। (२) द्रव्यका स्वभाव अस्तित्वसामान्यरूप अन्वय है। (३) द्रव्यका परिचय उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्ततासे किया जाता है। (४) द्रव्यका परिचय गुणपर्यायवत्तासे किया जाता है। (५) गुण सामान्यविशेषात्मक है। (६) जो गुण अनेक द्रव्योंमें पाये जावें वे गुण सामान्य हैं, जैसे अस्तित्व नास्तित्व एकत्व अनेकत्व आदि। (७) जो गुण एक ही द्रव्यमें या एक ही जातिके द्रव्यमें पाये जावें वे गुण विशेष हैं। जैसे चेतनत्व, रूपादिमत्त्व, गतिहेतुत्व आदि। (८) पर्यायें कालक्रमभावी विशेष हैं। (९) पर्यायें चार प्रकारकी होती हैं—स्वभावद्रव्यव्यञ्जन पर्याय, विभावद्रव्यव्यञ्जन पर्याय, स्वभावगुणव्यञ्जन पर्याय, विभावगुणव्यञ्जन पर्याय। १० पर्यायोंसे गुणोंसे उत्पादादिसे द्रव्य जाना जाता है यों उनमें लक्ष्यलक्षणका भेद है, किन्तु द्रव्यमें स्वरूपभेद नहीं है, क्योंकि गुण पर्याय उत्पादादिसे द्रव्य मात्र लक्षित किया जाता है।

सिद्धान्त—(१) उत्पादादिसे द्रव्य मात्र लक्षित किया जाता है। (२) द्रव्य परमार्थतः स्वभावभेदरहित अखण्ड सत् है।

दृष्टि—१– उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४)। २– अभेद परमशुद्ध निश्चयनय (४४)।

अथ क्रमेणास्तित्वं द्विविधमभिदधाति स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति तत्रेदं स्वरूपास्तित्वाभिधानम्--

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं सगपज्जएहिं चित्तेहिं।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥ ९६ ॥

गुण व विविध पर्यायों-से उत्पाद व्यय ध्रौव्य धर्मोसे।
सर्वकाल वस्तूका सद्भाव स्वभाव कहलाता ॥ ९६ ॥

सद्भावो हि स्वभावो गुणै. स्वकपर्ययैश्चित्रैः। द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वै. ॥ ९६॥

अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततयाहेतुकयैकरूपया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद्विभावधर्मवैलक्षण्याच्च भावभाववद्भावान्नानात्वेऽपि प्रदेशभेदाभावाद्द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत्। तत्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुणपर्यायाणा न प्रत्येकं परिसमाप्यते। यतो हि परस्परसाधितसिद्धियुक्तत्वात्तेषामस्तित्वमेकमेव, कार्तस्वरवत्। यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात् पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण पीततादिगुणानां कुण्डलादिपर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च यदस्तित्व कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा

नामसंज्ञ--सब्भाव हि सहाव गुण सगपज्जय चित्त दव्व सव्वकाल उप्पादव्वयधुवत्त। धातुसंज्ञ--उव पज्ज गतौ, वि इ गतौ। प्रातिपदिक--सद्भाव हि स्वभाव गुण स्वकपर्याय चित्र द्रव्य सर्वकाल उत्पाद

[द्रव्यस्य सद्भावः] द्रव्यका अस्तित्व ही [हि] वास्तवमे [स्वभावः] स्वभाव है।

तात्पर्य—गुणोसे, पर्यायोसे, उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे सदाकाल द्रव्यका सद्भाव रहना द्रव्यका स्वभाव है।

टीकार्थ—वास्तवमे अस्तित्व द्रव्यका स्वभाव है; और वह अस्तित्व अन्य साधनसे निरपेक्ष होनेके कारण अनादि अनन्त होनेसे अहेतुक, एकरूप वृत्तिसे सदा ही प्रवृत्तपना होनेके कारण, विभावधर्मसे विलक्षणताके कारण, भाव और भाववानपना होनेसे अनेकत्व होनेपर भी प्रदेशभेद न होनेसे द्रव्यके साथ एकत्वको धारण करता हुआ, द्रव्यका स्वभाव ही क्यो न हो? वह अस्तित्व भिन्न-भिन्न द्रव्योकी तरह द्रव्य गुण पर्यायमे प्रत्येकमें समाप्त नही हो जाता, क्योंकि उनकी सिद्धि परस्पर होती है, इस कारण उनका अस्तित्व एक ही है; सुवर्णकी तरह। जैसे द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावसे सुवर्णसे पृथक् न पाये जाने वाले कर्ता-करण-अधिकरण रूपसे पीतत्वादि गुणोके और कुण्डलादि पर्यायोके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान

स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तै: कुण्डलाङ्ग· दपीततताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभाव:, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानै: कर्तृ करणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणा स्व· रूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यद· स्तित्व द्रव्यस्य स स्वभाव: । यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाङ्ग· दपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्य: पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृ करणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमु· पादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तै: कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पतियुक्तस्य कार्त· स्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादित यदस्तित्व स स्वभाव:, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्य: पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृ करणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपा· दाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्नि· ष्पादित यदस्तित्व स स्वभाव. ॥९६॥

व्ययध्रुवत्वै चित्तेहिं चित्रै –तृतीया वहुवचन । दव्वस्स द्रव्यस्य–षष्ठी एक० । सव्वकाल सर्वकाल–क्रिया· विशेषण अव्यय । (सदाकाल सद्भाव होना) । निरुक्ति–उत्पादन उत्पाद·, व्ययन व्यय , ध्रुवण ध्रुव तस्य भाव ध्रुवत्व । समास– उत्पाद व्यय ध्रुवत्व चेति उत्पादव्ययध्रुवत्वानि तै उत्पादव्ययध्रुवत्वै. ॥९६॥

सुवर्णका स्वभाव है । इसी प्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे या भावसे द्रव्यसे पृथक् नही पाये जाने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूपसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान द्रव्यके अस्तित्वसे निष्पादित निष्पत्तिसे युक्त उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योसे जो द्रव्यका अस्ति· त्व है वह उसका स्वभाव है।

अथवा, जैसे द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे व भावसे कुण्डलादि उत्पादोसे बाजूबंधादि व्ययो से और पीतत्वादि ध्रौव्योसे पृथक् न पाये जाने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूपसे सुवर्ण के स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान कुण्डलादि उत्पादो, बाजूबन्धादि व्ययो और पीतत्वादि ध्रौव्योसे निष्पादित निष्पत्तिसे युक्त सुवर्णका, मूल साधनपनेसे उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है, वह उसका स्वभाव है । इसी प्रकार द्रव्यसे, क्षेत्रसे, कालसे व भावसे उत्पाद-व्यय· ध्रौव्योसे पृथक् न पाये जाने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरणरूपसे द्रव्यके स्वरूपको धारण करके प्रवर्तमान उत्पाद-व्यय-ध्रौव्योसे निष्पादित निष्पत्तिसे युक्त द्रव्यका मूल साधनपनेसे उनसे निष्पन्न होता हुआ जो अस्तित्व है वह उसका स्वभाव है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे द्रव्यका लक्षण अस्तित्व सामान्यरूप अन्वय [illegible] था जो कि स्वरूपास्तित्व व सादृश्यास्तित्व इन दो प्रकारोसे समझा जाता है।

इद तु सादृश्यास्तित्वाभिधानमस्तीति कथयति—

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदिति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥६७॥

यहँ विविध लक्षणोंका, लक्षण सामान्य सत्व व्यापक है।
धर्म उपदेश कर्ता, जिनवर प्रभुने कहा है यों ॥ ६७ ॥

इह विविधलक्षणानां लक्षणमेकं सदिति सर्वगतम्। उपदिशता खलु धर्मं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम् ॥ ६७ ॥

इह किल प्रपञ्चितवैचित्र्येण द्रव्यान्तरेभ्यो व्यावृत्य वृत्तेन प्रतिद्रव्यं सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपञ्च

नामसंज्ञ—इह विविहलक्खण लक्खण एग सत् इति सव्वगय उवदिसत खलु धम्म जिणवरवसह पण्णत्त। धातुसंज्ञ—लक्ख अंकने, प ज्ञा अवबोधने। प्रातिपदिक—इह विविधलक्षण लक्षण एक सत् इति

अब इस गाथामें स्वरूपास्तित्वका कथन किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) अस्तित्व द्रव्यका स्वभाव है। (२) अस्तित्व स्वयंसिद्ध होता है, उसमें अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं होती। (३) अन्यसाधननिरपेक्ष होनेसे अस्तित्व अनादि अनन्त अहेतुक एकरूप वृत्तिसे नित्य प्रवृत्त रहता है। (४) अस्तित्व भावसे भाववान द्रव्य लक्षित होता है, किन्तु प्रदेशभेद न होनेसे अस्तित्व द्रव्यके साथ एकत्वको प्राप्त हुआ द्रव्यका स्वभाव ही है। (५) जैसे प्रत्येक द्रव्योंमें भिन्न भिन्न अस्तित्व है इस प्रकार गुण पर्यायोंके साथ भिन्न भिन्न अस्तित्व नहीं, क्योंकि द्रव्यगुणपर्यायात्मक है। (६) द्रव्यसे पृथक् न पाये जाने वाले गुण पर्यायोंके परिचय द्वारा जो अस्तित्व जाना जाता है वह द्रव्यका स्वभाव है।

सिद्धान्त—(१) गुणपर्यायवत्त्वके परिचयसे त्रैकालिक द्रव्यका परिचय होता है।

दृष्टि—१- अन्वय द्रव्यार्थिकनय [२७]।

प्रयोग—आत्मगुणपर्यायोंसे अपने आत्माका परिचय करके गुणपर्यायभेदमें पर अखण्ड चैतन्यात्मक अस्तित्वका अनुभव करना ॥ ६६ ॥

अब यह सादृश्य अस्तित्वका कथन है—[खलु] वास्तवमें [धर्म] धर्मका [उपदिशता] उपदेश करते हुये [जिनवरवृषभेण] जिनवरवृषभके द्वारा [इह] इस विश्वमें [विविधलक्षणानां] विविध लक्षण वाले द्रव्योंका [सत् इति] 'सत्' ऐसा [सर्वगत] सबमें पाया जाने वाला [लक्षणं] लक्षण [एकं] एक सादृश्यास्तित्व [प्रज्ञप्तम्] कहा गया है।

तात्पर्य—धर्मका उपदेश करते हुये जिनवरवृषभ द्वारा विविध लक्षण वाले द्रव्योंका सबमें पाया जाने वाला लक्षण सादृश्यास्तित्व कहा गया है।

प्रवृत्य वृत्तं प्रतिद्रव्यमासूत्रित सीमान भिन्दत्सदिति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूतं सादृश्यास्तित्व-मेक खल्ववबोधव्यम्। एव सदित्यभिधान सदिति परिच्छेदनं च सर्वार्थपरामर्शि स्यात्। यदि पुनरिदमेव न स्यात्तदा किंचित्सदिति किंचिदसदिति किंचित्सच्चासच्चेति किंचिदवाच्यमिति च स्यात्। तत्तु विप्रतिषिद्धमेव प्रसाध्यं चैतदनोकहवत्। यथा हि बहूनां बहुविधानामनोकहाना मात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्व, सामान्यलक्षण भूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति। तथा बहूनां बहुविधानां द्रव्याणा-मात्मीयात्मीयस्य विशेपलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं, सामान्यलक्षण-भूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति। यथा च तेपामनोकहाना सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितेनैवत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूत-स्य स्वरूपास्तित्वावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति, तथा सर्वद्रव्याणामपि सामान्यलक्षणभूतेन

सर्वगत, उपदिगत् खलु धर्म जिनवरवृपभ प्रज्ञप्त। **मूलधातु**—लक्ष दर्शनाङ्कनयो, प्र ज्ञप ज्ञापने। उभय-पदविवरण—इह इति खलु–अव्यय। विविहलक्खणाण विविधलक्षणाना–पष्ठी एकवचन। लक्खण लक्षण एग एक सत् सव्वगय सर्वगत–प्रथमा एकवचन। उवदिसदा उपदिशता–तृतीया एक०। धम्म धर्म पण्णत प्रज्ञप्त–द्वितीया एक०। जिणवरवसहेण जिनवरवृषभेण–तृ० ए०। **निरुक्ति**—धरति उत्तमे सुखे इति धर्मः

टीकार्थ—इस विश्वमे, विचित्रताको विस्तारित करते हुये अन्य द्रव्योसे पृथक् रहकर प्रवर्तमान और प्रत्येक द्रव्यकी सीमाको बांधते हुवे ऐसे विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्वसे लक्षित हो रहे भी सर्व द्रव्योका, विचित्रताके विस्तारको अस्त करता हुआ, सर्व द्रव्योमे प्रवृत्त होकर रहने वाला, और प्रत्येक द्रव्यकी बँधी हुई सीमाको तोड़ता हुआ, 'सत्' ऐसा जो सर्व-गत सामान्यलक्षणभूत सादृश्यास्तित्व है वह वास्तवमे एक ही जानना चाहिये। इस प्रकार 'सत्' ऐसा वचन और 'सत्' ऐसा ज्ञान सर्व पदार्थोका लक्ष करने वाला है। यदि वह ऐसा सर्वपदार्थपरामर्शी न हो तो कोई पदार्थ सत्, कोई असत्, कोई सत् तथा असत् और कोई अवाच्य होना चाहिये, किन्तु वह तो विरुद्ध ही है, और यह तथ्य वृक्षके दृष्टान्तकी तरह सिद्ध कर लेना चाहिये।

जैसे बहुतसे अनेक प्रकारके वृक्षोके अपने अपने विशेषलक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अव-लम्बनसे उत्थित होते (खड़े होते) अनेकत्वको, सामान्य लक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्वसे उत्थित होता एकत्व तिरोहित कर देता है इसी प्रकार बहुतसे, अनेक प्रकारके द्रव्योके अपने अपने विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्वके अवलम्बनसे उत्थित होते अनेकत्वको, सामान्यलक्षण-भूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पनेसे उत्थित होता एकत्व तिरोहित कर देता है। और जैसे उन वृक्षों के विषयमे सामान्यलक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्वसे उत्थित होते एकत्वसे तिरोहित हुआ भी

अथ द्रव्यैर्द्रव्यान्तरस्यारम्भं द्रव्यादर्थान्तरत्वं च सत्तायाः प्रतिहन्ति—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा ।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥९८॥

स्वतःसिद्ध सत् वस्तू, ऐसा प्रभुने कहा यथार्थतया ।
आगमसिद्ध भि ऐसा, न माने जो वह वहिर्दृष्टि ॥ ९८ ॥

द्रव्य स्वभावसिद्ध सदिति जिनास्तत्त्वत समाख्यातवन्त । सिद्ध तथा आगमतो नेच्छति य स हि परसमय.॥

न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भः, सर्वद्रव्याणां स्वाभावसिद्धत्वात् । स्वभावसिद्धत्व तु तेषामनादिनिधनत्वात् । अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते । गुणपर्यायामात्मानमात्मनः स्वभावमेव मूलसाधनमुपादाय स्वयमेव सिद्धसिद्धिमद्भूतं वर्तते । यत्तु द्रव्यैरारभ्यते न तद्‌द्रव्यान्तर कादाचित्कत्वात् स पर्यायः, द्व्यणुकादिवन्मनुष्यादिवच्च । द्रव्यं पुनरनवधि त्रिसमयावस्थायि न तथा स्यात् । अथैवं यथा सिद्धं स्वभावत एव द्रव्य तथा सदित्यपि तत्स्वभावत

नामसंज्ञ—दव्व सहावसिद्ध सत् इति जिण तच्चदो समक्खाद सिद्ध तध आगमदो ण ज त हि परसमय । धातुसंज्ञ—क्खा प्रकथने तृतीयगणी, इच्छ इच्छायां । प्रातिपदिक—द्रव्य स्वभावसिद्ध सत् इति जिन तत्त्वत समाख्यातवत् सिद्ध तथा आगमत न यत् तत् हि परसमय । मूलधातु—ख्या प्रकथने अदादि,

स्वभाव मूलसाधनको उपादान करके स्वयमेव सिद्ध हुआ वर्तता है । जो द्रव्योसे उत्पन्न होता है वह तो द्रव्यान्तर नही है, किन्तु कादाचित्कताके कारण पर्याय है; जैसे द्व्यणुक इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादि । द्रव्य तो अनवधि त्रिकालस्थायी होनेसे उत्पन्न नही होता । अब इस प्रकार जैसे द्रव्य स्वभावसे ही सिद्ध है उसी प्रकार द्रव्य 'सत् है' यह भी स्वभावसे ही सिद्ध है, ऐसा अवधारण कीजिये । कही क्योकि द्रव्य सत्तात्मक अपने स्वभावसे निष्पन्न निष्पत्तिमान भाव वाला है । द्रव्यसे अर्थान्तरभूत सत्ता नही बन सकती कि जिसके समवायसे वह द्रव्य 'सत्' हो । देखिये प्रथम तो सत्का व सत्ताका युतसिद्धपना होनेके कारण अर्थान्तरत्व नही है, क्योकि दण्ड और दण्डीकी तरह सत् और सत्तामे युतसिद्धता दिखाई नही देती । अयुतसिद्धपना होनेमे भी सत् और सत्तामे भी अर्थान्तरत्व नही बनता । प्रश्न— 'इसमे यह है अर्थात् द्रव्य मे सत्ता है' ऐसी प्रतीति होती है इस कारण अर्थान्तरत्व बन सकता है । उत्तर—'इसमे यह है' ऐसी प्रतीति किसके कारणसे होती है ? यदि ऐसा कहा जाय कि भेदके कारणसे अर्थात् द्रव्य और सत्तामे भेद होनेसे होती है तो, वह कौनसा भेद है ? प्रादेशिक या अताद्भाविक ? प्रादेशिक तो है नही, क्योकि युतसिद्धत्वका पहले ही निराकरण कर दिया गया है, और यदि अताद्भाविक कहा जाय तो वह ठीक ही है, क्योकि ऐसा वचन है कि 'जो द्रव्य है वह गुण

एव सिद्धमित्यवधार्यताम् । सत्तात्मनात्मन स्वभावेन निष्पन्ननिष्पत्तिमद्भावयुक्तत्वात् । न च द्रव्यादर्थान्तरभूता सत्तोपपत्तिमभिप्रपद्यत, यतस्तत्समवायात्तत्सदिति स्यात् । सत सत्तायाश्च न तावद्युतसिद्धत्वेनार्थान्तरत्व, तयोर्दण्डदण्डिवद्युतसिद्धस्यादर्शनात् । अयुतसिद्धत्वेनापि न तदुपपद्यते । इहेदमितिप्रतीतेरुपपद्यत इति चेत् किंनिबन्धना हीहेदमिति प्रतीति । भेदनिबन्धनेति चेत् को नाम भेद । प्रादेशिक अताद्भाविको वा । न तावत्प्रादेशिक, पूर्वमेव युतसिद्धत्वस्यापसारणात् । अताद्भाविकश्चेत् उपपन्न एव यद्द्रव्य तन्न गुण इति वचनात् । अय तु न खल्वेकान्तेनेहेदमितिप्रतीतेर्निबन्धन, स्वयमेवोन्मग्ननिमग्नत्वात् । तथाहि—यदैव पर्यायेणार्प्यते द्रव्य तदैव गुणवदिद द्रव्यमयमस्य गुण, शुभ्रमिदमुत्तरीयमयमस्य शुभ्रो गुण इत्यादिवदताद्भाविको भेद उन्मज्जति । यदा तु द्रव्येणार्प्यते द्रव्य तदास्तमितसमस्तगुणवासनोन्मेषस्य तथाविध द्रव्यमेव शुभ्रमुत्तरीयमित्यादिवत्प्रपश्यत समूल एवाताद्भाविको भेदो निमज्जति । एव हि भेदे

इषु इच्छायां । उभयपदविवरण—दव्व द्रव्य सहावसिद्ध स्वभावसिद्ध सत्–प्रथमा एक० । इति ण न तध तथा हि–अव्यय । जिणा जिना –प्रथमा बहु० । तच्चदो तत्त्वत –अव्यय पचम्यर्थे । समवगाना समाख्यात वत –प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । सिद्ध –द्वि० ए० । आगमदो आगमत –अव्यय पञ्चम्यर्थे । इच्छदि इच्छ

नही है ।' परन्तु यह अताद्भाविक भेद 'एकान्तसे इसमे यह है' ऐसी प्रतीतिका कारण नही है, क्योकि वह स्वयमेव उन्मग्न और निमग्न होता है । वह इस प्रकार है – जब ही पर्यायके द्वारा द्रव्य अर्पित किया जाता है तब ही 'शुक्ल यह वस्त्र है, यह इसका शुक्लत्व गुण है' इत्यादिकी तरह गुण वाला यह द्रव्य है, यह इसका गुण है' इस प्रकार अताद्भाविक भेद उछलता है, परन्तु जब द्रव्यके द्वारा द्रव्य अर्पित कराया जाय तब जिसके समस्त गुणवासना के उन्मेष अस्त हो गये है ऐसे उस जीवको—'शुक्ल वस्त्र ही है' इत्यादिकी तरह 'ऐसा द्रव्य ही है' इस प्रकार देखनेपर समूल ही अताद्भाविक भेद डूब जाता है । इस प्रकार भेदके निमग्न होनेपर उसके आश्रयसे होती हुई प्रतीति निमग्न होती है । उसके निमग्न होनेपर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरत्व निमग्न होता है, इस कारण समस्त ही एक द्रव्य ही होकर रहता है । और जब भेद उन्मग्न होता है, तब भेदके उन्मग्न होनेपर उसके आश्रयसे होती हुई प्रतीति उन्मग्न होती है, उसके उन्मग्न होनेपर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरत्व उन्मग्न होता है, तब भी द्रव्यके पर्यायरूपसे उन्मग्न होनेसे, जलराशिसे जलतरंगोकी तरह द्रव्यसे व्यतिरिक्त नही होता । ऐसा होनेपर स्वयमेव सत् द्रव्य है । जो ऐसा नही मानता वह वास्तवमे 'परसमय' (मिथ्यादृष्टि ही) माना जाना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे द्रव्योके सादृश्यास्तित्वका कथन किया गया था ।

निमज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिर्निमज्जति । तस्यां निमज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वं निमज्जति । ततः समस्तमपि द्रव्यमेवैकं भूत्वावतिष्ठते । यदा तु भेद उन्मज्जति, तस्मिन्नुन्मज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिरुन्मज्जति । तस्यामुन्मज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वमुन्मज्जति । तदापि तत्पर्यायत्वेनोन्मज्जज्जलराशेर्जलकल्लोल इव द्रव्यान्न व्यतिरिक्तं स्यात् । एवं सति स्वयमेव सद् द्रव्यं भवति । यस्त्वेवं नेच्छति स खलु परसमय एव द्रष्टव्यः ॥६८॥

ति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जो य सो स.–प्र० एक० । परसमओ परसमय –प्र० एक० । निरुक्ति--द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् पर्यायान् इति द्रव्य । समास—स्वभावेन सिद्धं स्वभावसिद्ध ॥६८॥

अब इस गाथामे बताया गया है कि न तो किसी द्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यका आरम्भ किया जा सकता है और न द्रव्यकी सत्ता उस द्रव्यसे भिन्न होती है ।

तथ्यप्रकाश—(१) समस्त द्रव्य स्वभावसे सिद्ध है अतः किसी भी द्रव्यकी सत्ता अन्य द्रव्यसे नही होती । (२) समस्त द्रव्य अनादिनिधन होनेसे स्वभावसिद्ध है । (३) अनादिनिधन तत्त्व अन्य साधनकी अपेक्षा नही करता । (४) द्रव्यके द्वारा जो आरम्भ होता है वह पर्याय है । (५) द्रव्य और सत्त्व भिन्न नही है फिर सत्त्वके समवायसे द्रव्य सत् होता है इस कल्पनाका परिश्रम करना व्यर्थ है । (६) द्रव्य और सत्तामे प्रादेशिक भेद नही है कि द्रव्यके प्रदेश अलग हो और सत्त्वके प्रदेश अलग हो । (७) द्रव्य और सत्त्वमें मात्र अताद्भाविक भेद है, क्योकि अतद्भाव समझे बिना भाव व भाववानकी समझ नही बन सकती । (८) पर्यायदृष्टिसे द्रव्य और सत्त्वमे अतद्भावका भेद जगता है । (९) द्रव्यदृष्टिसे द्रव्यके देखते पर अतद्भाव भेद भी विलीन हो जाता है । (१०) द्रव्य स्वयं ही सत् है, ऐसा न मानने वाले जीव परसमय कहलाते है ।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य अभेद स्वयमेव सत् है ।

दृष्टि—१– भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२३) ।

प्रयोग—स्वद्रव्यको अन्य सब द्रव्योसे विविक्त व अपने स्वरूपमात्र निरखना ॥६८॥

अब उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होनेपर भी 'सत् द्रव्य है' यह बतलाते है—[स्वभावे] स्वभावमे [अवस्थित] अवस्थित [द्रव्यं] द्रव्य [सत्] 'सत्' है [हि] वास्तवमे [द्रव्यस्य] द्रव्यका [यः] जो [स्थितिसंभवनाशसंबद्धः] उत्पादव्ययध्रौव्यसहित [परिणामः] परिणाम है [सः] वह [अर्थेषु स्वभावः] पदार्थोंका स्वभाव है ।

तात्पर्य—द्रव्य स्वभावमे अवस्थित है और उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है ।

टीकार्थ—यहाँ स्वभावमे नित्य अवस्थित होनेसे सत् यह द्रव्य है । स्वभाव द्रव्यका

योत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेऽपि सद्द्रव्यं भवतीति विभावयति—

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो ।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥९९॥

स्वभावस्थ होनेसे द्रव्य कहा सत् व द्रव्यपरिणाम नि ।
है अर्थका स्वभाव हि थितिसंभवनाश समवायी ॥ ९९ ॥

ण्डस्य संहारः, स एव कुम्भस्य सर्गः, अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनावभासनात्। यौ च कुम्भपिण्डयो. सर्गसंहारौ सैवमृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात्। यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसहारौ, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात्। यदि पुनर्नेदमेवमिष्येत तदान्यः सर्गोऽन्यः सहारः अन्या स्थितिरित्यायाति। तथा सति हि केवल

न विना ध्रौव्य अर्थ। मूलधातु—अस् भुवि। उभयपदविवरण—ण न वा वि अपि विणा विना-अव्यय। भवो भव भगविहीणो भङ्गविहीन भगो भग सभवविहीणो सभवविहीन. उप्पादो उत्पादः भगो भग-

---

टीकार्थ—वास्तवमे उत्पाद, व्ययके बिना नही होता और व्यय, उत्पादके बिना नही होता; उत्पाद और व्यय ध्रौव्यके बिना नही होते, और ध्रौव्य, उत्पाद तथा व्ययके बिना नही होता। जो उत्पाद है वही व्यय है, जो व्यय है वही उत्पाद है; जो उत्पाद और व्यय है वही ध्रौव्य है, जो ध्रौव्य है वही उत्पाद और व्यय है। स्पष्टीकरण—जो कुम्भका उत्पाद है वही मृत्पिण्डका व्यय है, क्योकि भावका भावान्तरके अभाव स्वभावसे अवभासन है। और जो मृत्पिण्डका व्यय है वही कुम्भका उत्पाद है, क्योकि अभावका भावान्तरके भावस्वभावसे अवभासन है, और जो कुभका उत्पाद और पिंडका व्यय है वही मृत्तिकाकी स्थिति है, क्योकि व्यतिरेकोके द्वारा ही अन्वय प्रकाशित है। और जो मृत्तिकाकी स्थिति है वही कुम्भका उत्पाद और पिण्डका व्यय है, क्योकि व्यतिरेक अन्वयका अतिक्रम नही करते। और फिर यदि ऐसा ही न माना जाय तो ऐसा सिद्ध होगा कि उत्पाद अन्य है, व्यय अन्य है, ध्रौव्य अन्य है। ऐसा होनेपर केवल उत्पाद खोजने वाले कुम्भकी उत्पत्तिके कारणका अभाव होनेसे उत्पत्ति ही नही होगी, अथवा असत्का ही उत्पाद होगा। और वहाँ, यदि कुम्भकी उत्पत्ति न होगी तो समस्त ही भावोकी उत्पत्ति ही नही होगी। अथवा यदि असत्का उत्पाद हो तो आकाश-पुष्प इत्यादिका भी उत्पाद होगा, और, केवल व्ययारम्भक मृत्पिण्डका, व्ययके कारणका अभाव होनेसे व्यय ही नही होगा, अथवा सत्का ही उच्छेद होगा। वहाँ यदि मृत्पिण्डका व्यय न होगा तो समस्त ही भावोंका व्यय ही न होगा, अथवा यदि सत्का उच्छेद होगा तो चैतन्य इत्यादिका भी उच्छेद हो जायगा, और केवल ध्रौव्य प्राप्त हो रही मृत्तिकाकी, व्यतिरेक सहित स्थितिके अन्वयका अभाव होनेसे, स्थिति ही नही होगी; अथवा क्षणिकको ही नित्यत्व आ जायगा। वहाँ यदि मृत्तिकाका ध्रौव्यत्व न हो तो समस्त ही भावोंका ध्रौव्य ही नही होगा, अथवा यदि क्षणिकका नित्यत्व हो तो चित्तके क्षणिक भावोका भी नित्यत्व हो बैठेगा। इस कारण उत्तर उत्तर व्यतिरेकोंकी उत्पत्तिके साथ, पूर्व पूर्वके व्यतिरेकोके संहारके साथ और अन्वयके अवस्थानके साथ अविनाभाव वाला द्रव्य अबाधित त्रिलक्षणतारूप चिह्न प्रकाशमान है जिसका ऐसा अवश्य सम्मत करना चाहिये।

ाद च नश्यतो जन्मक्षण स्थितिक्षणश्च न भवति । इत्युत्पादा-
-यभूमिमवतरति । अवतरत्येव यदि द्रव्यमात्मनवोत्पद्यत आत्म-
ऽभ्युपगम्यते । तत्तु नाभ्युपगतम् । पर्यायाणामेवोत्पादादय कुतः
ोलदण्डवक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एव वर्धमानस्य

प्रतय । मूलधातु—सम् अव इण गतौ स ना अवबाधन । उभयपदवि
त्तिदय तत्रितय-प्रथमा एक० । खु खलु न एव-अव्यय । समवट्ठिदि
नितार्थे-तृतीया बहु० । एक्कम्हि एकस्मिन् समये-सप्तमी एक० ।

है, वस्तुका जो स्थितिक्षण है वह वास्तवमे दोनोके अन्तराल
क्षणके बीच दृढतया रहता है, इस कारण ध्रौव्य जन्मक्षण
ो नाशक्षण है वह, उत्पन्न होकर और स्थिर रहकर नष्ट हो
तिक्षण नही है, इस प्रकार उत्पादादिकोका तर्कपूर्वक विचार
ममे अवतरित होता है ? उत्तर——उत्पादादिका क्षणभेद चित्त
ना जाय कि 'द्रव्य स्वय ही उत्पन्न होता है, स्वय ही ध्रुव
प्राप्त होता है ।' किन्तु ऐसा तो माना नही गया है, पर्यायोके
ोद कहासे हो सकता है ?

अथोत्पादादीनां क्षणभेदमुदस्य द्रव्यत्वं द्योतयति—

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥१०२॥

संभवथितिव्ययसज्ञित, अर्थोंसे रहे द्रव्य समवायी।
सो एक ही समयमें, तत्त्रितयात्मक हि द्रव्य हुआ ॥१०२॥

समवेत खलु द्रव्य सभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैं। एकस्मिन् चैव समये तस्माद्द्रव्य खलु तत्त्रितयम् ॥१०२॥

इह हि यो नाम वस्तुनो जन्मक्षण. स जन्मनैव व्याप्तत्वात् स्थितिक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च स्थितिक्षण: स खलूभयोरन्तरालदुर्ललितत्वाज्जन्मक्षणो नाशक्षणश्च न भवति।

नामसंज्ञ—समवेद खलु दव्व सभवठिदिणाससण्णिदट्ठ एक्क च एव समय त दव्व खु तत्तिदय। धातुसंज्ञ—सम् अव इ गतौ, स ज्ञा अवबोधने। प्रातिपदिक—समवेत खलु द्रव्य सभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थं

ध्रौव्य अंश धर्मरूप है। (६) उत्पाद पर्यायोमे है, यदि उत्पाद द्रव्यका ही माना जावे तो प्रत्येक उत्पाद द्रव्य वन जायगा तथा असत्का उत्पाद हो जायगा। (७) व्यय पर्यायाश्रय है, यदि व्यय द्रव्यका माना जावे तो सब शून्य हो जायगा। (८) ध्रौव्य पर्यायोके आश्रय है, यदि ध्रौव्य द्रव्यका ही माना जावे तो क्रमभावी पर्यायोका अभाव होनेसे द्रव्यका भी अभाव हो जायगा। (९) उत्पाद व्यय ध्रौव्योके द्वारा पर्यायें आलम्बित है। (१०) पर्यायोके द्वारा द्रव्य आलम्बित है। (११) उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायें सभी यह एक द्रव्य ही है।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है। (२) उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत् अखण्ड द्रव्य है।

दृष्टि—१— उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२५)। २— भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२३)।

प्रयोग—उत्पाद व्यय ध्रौव्य अंश धर्मोसे आत्मद्रव्यको पहिचानकर सर्व भेद कल्पनायें तजकर अपनेको चैतन्यस्वभावमात्र अनुभवना ॥१०१॥

अब उत्पादादिका क्षणभेद निराकृत करके उनका द्रव्यपना द्योतित करते है—[द्रव्य] द्रव्य [एकस्मिन् च एव समये] एक ही समयमे [संभवस्थितिनाशसंज्ञितार्थैः] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थोंके साथ [खलु] निश्चयत: [समवेतं] एकमेक है; [तस्मात्] इसलिये [तत् त्रितयं] यह तीनोंका समुदाय [खलु] वास्तवमे [द्रव्यं] द्रव्य है।

तात्पर्य—द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यमय है, अत. वह त्रितय द्रव्यरूप ही है।

टीकार्थ— प्रश्न—विश्वमे वस्तुका जो जन्मक्षण है वह जन्मसे ही व्याप्त होने

यश्च नाशक्षण स तूत्पद्यावस्थाय च नश्यतो जन्मक्षण स्थितिक्षणश्च न भवति । इत्युत्पादादीना वितर्क्यमाण क्षणभेदो हृदयभूमिमवतरति । अवतरत्येव यदि द्रव्यमात्मनैवोत्पद्यत आत्मनैवावतिष्ठते आत्मनैव नश्यतीत्यभ्युपगम्यते । तत्तु नाभ्युपगतम् । पर्यायाणामेवोत्पादादय कुतः क्षणभेद । तथाहि—यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एव वर्धमानस्य

एक च एव समय तत् द्रव्य खलु तत्त्रितय । मूलधातु—सम् अव इण गतौ स णा अवबोधन । उभयपदविवरण—समवेद समवत दव्व द्रव्य तत्तिदय तत्त्रितय-प्रथमा एक० । खु खलु च एव–अव्यय । सभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं सभवस्थितिनाशसज्ञितार्थैः–तृतीया बहु० । एक्कम्मि एकस्मिन् समये–सप्तमी एक० ।

स्थितिक्षण और नाशक्षण नही है, वस्तुका जो स्थितिक्षण है वह वास्तवमे दोनोके अन्तराल मे अर्थात् उत्पादक्षण और नाशक्षणके बीच दृढतया रहता है, इस कारण ध्रौव्य जन्मक्षण और नाशक्षण नही है, और जो नाशक्षण है वह, उत्पन्न होकर और स्थिर रहकर नष्ट हो रहे वस्तुका जन्मक्षण और स्थितिक्षण नही है, इस प्रकार उत्पादादिकोका तर्कपूर्वक विचार किया जा रहा क्षणभेद हृदयभूमिमे अवतरित होता है ? उत्तर—उत्पादादिका क्षणभेद चित्त में भी उतरता है जब यह माना जाय कि 'द्रव्य स्वय ही उत्पन्न होता है, स्वय ही ध्रुव रहता है और स्वय ही नाशको प्राप्त होता है ।' किन्तु ऐसा तो माना नही गया है, पर्यायोंके ही उत्पादादि है, फिर वहा क्षणभेद कहासे हो सकता है ? स्पष्टीकरण—जैसे कुम्हार, दण्ड, चक्र और चीवरसे आरोपित किये जाने वाले सस्कारकी उपस्थितिमे जो कलशका जन्मक्षण होता है वही मृत्पिण्डका नाशक्षण होता है, और वही दोनो कोटियाम रहने वाला मृत्तिकात्व का स्थितिक्षण होता है, इसी प्रकार अन्तरग और बहिरग साधनोंमे आरोपित किये जाने वाले सस्कारोकी उपस्थितिमे, जो उत्तरपर्यायका जन्मक्षण होता है वही पूर्व पर्यायका नाशक्षण होता है, और वही दोनो कोटियोमे रहने वाले द्रव्यत्वका स्थितिक्षण होता है । और जैसे कलशमें, मृत्तिकापिण्डमे और मृत्तिकात्वमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य एक एकमे वर्तते हुये भी त्रिस्वभावस्पर्शी मृत्तिकामें वे सम्पूर्णतया एक समयमे ही देखे जाते हैं, इसी प्रकार उत्तर पर्यायमे, पूर्व पर्यायमे और द्रव्यत्वमे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य एक एकमे प्रवर्तमान होनेपर भी त्रिस्वभावस्पर्शी द्रव्यमे वे सम्पूर्णतया एक समयमे ही देखे जाते हैं । और जैसे कलश, मृत्तिकापिण्ड तथा मृत्तिकात्वमे प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मिट्टी ही हैं, अन्य वस्तु नही, उसी प्रकार उत्तर पर्याय, पूर्व पर्याय और द्रव्यत्वमे प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य द्रव्य ही हैं, अन्य पदार्थ नही ।

प्रसगविवरण—अनतरपूर्व गाथामें उत्पाद आदिकोंकी द्रव्यसे भिन्नताका निराकरण

जातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च। समानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते। यथा चैको मनुष्यत्वलक्षणोऽसमानजातीयो द्रव्यपर्यायो विनश्यत्यन्यस्त्रिदशत्वलक्षणः प्रजायते तौ च जीवपुद्गलौ अविनष्टानुत्पन्नावेवावतिष्ठेते, तथा सर्वेऽप्यसमानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च असमानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते। एवमात्मना ध्रुवाणि द्रव्यपर्यायद्वारेणोत्पादव्ययीभूतान्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्याणि भवन्ति ॥ १०३ ॥

दव्व द्रव्य–प्रथमा एकवचन। दव्वस्स द्रव्यस्य–षष्ठी एक०। त तत्–प्र० एक०। पणट्ठ प्रणष्ट उप्पण्ण उत्पन्नं–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया। निरुक्ति—परि अयन पर्याय, प्रकर्षेण नष्टं प्रणष्ट ॥ १०३ ॥

तथ्यप्रकाश—(१) तीन अणु वाला आदि समानजातीय अनेक द्रव्य पर्याय नष्ट होता है, चार अणु वाला आदि समानजातीय पर्याय उत्पन्न होता है वहां वे अणु द्रव्य तो न नष्ट होते न उत्पन्न होते, अवस्थित ही है। (२) मनुष्यरूप आदि असमानजातीय द्रव्यपर्याय नष्ट होता है, देवरूप आदि असमानजातीय द्रव्यपर्याय उत्पन्न होता है, वहां वे जीव और पुद्गल द्रव्य न नष्ट होते, न उत्पन्न होते, अवस्थित ही है। (३) अपने द्रव्यपनेसे ध्रुव और द्रव्यपर्यायसे उत्पाद व्ययरूप द्रव्य ही उत्पादव्ययध्रौव्य है।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य सदा अवस्थित रहकर द्रव्यपर्यायरूपसे भी उत्पादव्यय करता है।

दृष्टि—१– सत्तासापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (३८)।

प्रयोग—अनेक द्रव्यपर्यायरूपसे अपना उत्पाद होना कलंक है यह जानकर उस कलंकसे हटनेके लिये अकलङ्क आत्मस्वभावमे आत्मत्व अनुभवना ॥ १०३ ॥

अब द्रव्यके उत्पाद व्यय ध्रौव्योको एक द्रव्य पर्यायके द्वारा विचारते है—[सदविशिष्टं] स्वरूपास्तित्वसे अभिन्न [द्रव्यं स्वयं] द्रव्य स्वयं ही [गुणतः गुणान्तरं] गुणसे गुणान्तररूप [परिणमते] परिणमित होता है, [तस्मात् च पुनः] इस कारणसे ही तब [गुणपर्यायाः] गुणपर्यायें [द्रव्यम् एव इति भणिताः] द्रव्य ही है इस प्रकार कहे गये है।

तात्पर्य—अपने स्वरूपास्तित्वसे अभिन्न द्रव्य गुणसे गुणान्तररूप परिणमता है सो गुणपर्यायें द्रव्य ही है।

टीकार्थ—गुणपर्यायें एक द्रव्यकी ही पर्यायें है, क्योंकि गुणपर्यायोको एकद्रव्यत्व है, उनका एकद्रव्यत्व आम्रफलकी तरह है। जैसे—स्वयं ही हरित भावसे पीतभावरूप परिणमित होता हुआ, प्रथम और पश्चात् प्रवर्तमान हरितभाव और पीतभावके पूर्वोत्तर गुणपर्यायों

अथ पृथक्त्वान्यत्वलक्षणमुन्मुद्रयति—

पविभत्तपदेसत्तं पुधुत्तमिदि सासणं हि वीरस्स ।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं ॥१०६॥

प्रविभक्तप्रदेशपने, को बतलाया पृथक्त्व शासनने ।
अन्यत्व अतद्भाव हि, न तद्भव एक कैसे हो ॥१०६॥

प्रविभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्वमिति शासन हि वीरस्य । अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवत् भवति कथमेकम् ॥१०६॥

प्रविभक्तप्रदेशत्व हि पृथक्त्वस्य लक्षणम् । तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्न संभाव्यते, गुणगुणिनोः प्रविभक्तप्रदेशत्वाभावात् शुक्लोत्तरीयवत् । तथाहि—यथा य एव शुक्लस्य गुणस्य प्रदेशास्त एवोत्तरीयस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः, तथा य एव सत्ताया गुणस्य प्रदेशास्त एव

नामसंज्ञ—पविभत्तपदेसत्त पुधत्त इति सासण हि वीर अण्णत्त अतब्भाव ण तब्भव कध एग। धातुसंज्ञ—साम शासने, हो सत्ताया। प्रातिपदिक—प्रविभक्तप्रदेशत्व पृथक्त्व इति शासन वीर अन्यत्व

---

(५) द्रव्य सत्तासे अभिन्न है सो उसमे सत्ता प्रकट है। (६) भाव व भाववान अपृथक् होनेसे द्रव्य स्वयं ही सत्स्वरूपसे जाना जाता है।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य स्वय ही स्वरूपतः सत् है।

दृष्टि—१- भेदकल्पनानिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२३)।

प्रयोग—स्वयको परिपूर्ण चैतन्यात्मक सत् निरखकर स्वयंको स्वयंमें अनुभवना ॥१०५॥

अब पृथक्त्वका और अन्यत्वका लक्षण उन्मुद्रित करते है—[**प्रविभक्तप्रदेशत्वं**] भिन्न भिन्न प्रदेशपना [**पृथक्त्वं**] पृथक्त्व है, [**इति हि**] ऐसा ही [**वीरस्य शासनं**] वीरका उपदेश है। [**अतद्भावः**] उसरूप न होना [**अन्यत्व**] अन्यत्व है। [**न तत् भवत्**] जो उसरूप न हो वह [**कथं एकम्**] एक कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य—भिन्न भिन्न प्रदेश होनेसे तो अन्यत्व जाना जाता है और तद्भाव न होनेसे अन्यत्व जाना जाता है।

टीकार्थ—भिन्न प्रदेशपना पृथक्त्वका लक्षण है। वह तो सत्ता और द्रव्यमे सभव नहीं है, क्योंकि गुण और गुणीमे विभक्तप्रदेशत्वका अभाव होता है—शुक्लत्व और वस्त्रकी तरह। स्पष्टीकरण—जैसे—जो ही शुक्लत्व गुणके प्रदेश है वे ही वस्त्र गुणीके है, इस कारण उनमें प्रदेशभेद नहीं है; इसी प्रकार जो सत्तागुणके प्रदेश है वे ही द्रव्य गुणीके है, इस कारण उनमें प्रदेशभेद नहीं है। ऐसा होनेपर भी उनमें अर्थात् सत्ता और द्रव्यमे अन्यत्व है, क्योंकि उनमें अन्यत्वके लक्षणका सद्भाव है। अतद्भाव अन्यत्वका लक्षण है। वह तो सत्ता और

द्रव्यस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभाग । एवमपि तयोरन्यत्वमस्तितल्लक्षणसद्भावात् । अत द्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षण, तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोस्तद्भावस्याभावात् शुक्लो त्तरीयवदेव । तथाहि—यथा य किलैकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमान समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचर-मतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवति, न खलु तदखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीय भवति, यच्च किलाखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीय भवति, न खलु स एकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमान सम-स्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्त शुक्लो गुणो भवतीति तयोस्तद्भावस्याभाव । तथा या कि-लाश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषण विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवति, न खलु तदनाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदित विशेष्य विधीयमान वृत्तिमत्स्वरूप च द्रव्य भवति

अतद्भाव न तद्भवत् कथ एक । मूलधातु—शासु अनुशिष्टौ अदादि, षच क्षपणे भू सत्तायाम् । उभयपदवि-वरण—पविभत्तपदेसत्त प्रविभक्तप्रदेशत्व पुधत्त पृथक्त्व सासण शासन अण्णत्त अन्यत्व अतब्भावो अत-द्भाव तब्भव तद्भवत् एग एक-प्रथमा एकवचन । वीरस्स वीरस्य-षष्ठी एकवचन । इदि इति हि ण न कध कथ-अव्यय । होदि भवति-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । निरुक्ति—प्रकर्षेण देशन प्रदेश,

द्रव्यके है ही, क्योंकि गुण और गुणीके तद्भावका अभाव होता है,—शुक्लत्व और वस्त्रकी तरह । वह इस प्रकार है कि जैसे एक चक्षुइन्द्रियके विषयमें आने वाला और अन्य सब इन्द्रियोंके समूहको गोचर न होने वाला शुक्लत्व गुण है वह समस्त इन्द्रियसमूहको गोचर होने वाला वस्त्र नहीं है, और जो समस्त इन्द्रियसमूहको गोचर होने वाला वस्त्र है वह एक चक्षु इन्द्रियके विषयमें आने वाला तथा अन्य समस्त इन्द्रियोंके समूहको गोचर न होने वाला शुक्लत्व गुण नहीं है, इस कारण उनके तद्भावका अभाव है, इसी प्रकार, किसीके आश्रय रहने वाली, निर्गुण, एक गुणरूप बनी हुई, विशेषणभूत विधायक और वृत्तिस्वरूप जो सत्ता है वह किसीके आश्रयके बिना रहनेवाला, गुणवाला, अनेक गुणोंसे निर्मित, विशेष्यभूत, वि-धीयमान और वृत्तिमान स्वरूप द्रव्य नहीं है, तथा जो किसीके आश्रयके बिना रहने वाला, गुण वाला, अनेक गुणोंसे निर्मित, विशेष्यभूत, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य है वह किसीके आश्रित रहने वाली, निर्गुण, एक गुणसे निर्मित, विशेषणभूत, विधायक और वृत्ति-स्वरूप सत्ता नहीं है, इसलिये उनके तद्भावका अभाव है । ऐसा होनेसे ही सत्ता और द्रव्य में कथंचित् अभिन्नपदार्थत्व होनेपर भी उनके सर्वथा एकत्व होगा ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि तद्भाव एकत्वका लक्षण है । जो उसरूप होता हुआ ज्ञात नहीं होता वह सर्वथा एक कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता । परन्तु गुण गुणीरूपसे अनेक ही है, यह अर्थ है ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सत्ता और द्रव्यमें अनर्थान्तरता दिखाई गई थी ।

यत्तु किलानाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति, न खलु साश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषण विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः। अत एव च सत्ताद्रव्ययोः कथंचिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्वं न शङ्कनीयं, तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम्। यत्तु न तद्भवद्विभाव्यते तत्कथमेकं स्यात्। अपि तु गुणगुणिरूपेणानेकमेवेत्यर्थ. ॥१०६॥

शास्यते अनेनेति शासन, विशिष्ठा ई लक्ष्मी राति ददाति इति वीर तस्य वीरस्य, अन्यस्य भाव अन्यत्व, तस्य भावः तद्भाव. न तद्भाव अतद्भाव, तद्भवतीति तद्भवत्। **समास**—प्रविभक्त च तत् प्रदेशत्व चेति प्रविभक्तप्रदेशत्व ॥ १०६॥

अब इस गाथामे उक्त तथ्यको समझनेके लिये पृथक्त्व और अन्यत्वका लक्षण प्रकट किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) जिनमे पृथक्पना होता है उनके प्रदेश एक दूसरेसे भिन्न होते है। (२) सत्ता और द्रव्यके भिन्न भिन्न प्रदेश नही है, क्योकि गुण और गुणीके पृथक् प्रदेशीपन नही होता है। (३) जो ही सत्ता गुणके प्रदेश है वे ही द्रव्य गुणीके प्रदेश है, अतः उन दोनोमे प्रदेशविभाग नही है। (४) सत्ता और द्रव्यमे पृथक्पना नही है, तो भी लक्षणकी दृष्टिसे अन्यपना है। (५) अतद्भाव (कथचित् उसरूप नही) होना अन्यत्वका लक्षण है। (६) सत्ता गुण है, द्रव्य गुणी है। (७) सत्ता गुणका लक्षण द्रव्यके आश्रय रहना, गुणरहित होना, एक गुणमात्र होना, एक विशेषतारूप होना, उत्पादव्ययध्रौव्यैकलक्षण वृत्तिरूप होना है। (८) द्रव्यका लक्षण किसीके आश्रय नही रहना, गुणवान होना, अनेकगुणसमुदित होना, विशेष्य (जिसकी अनेक विशेषतायें बने) होना, उत्पादव्ययध्रौव्यैकलक्षणसत्तामय होना है। (९) लक्षणभेदसे द्रव्य और सत्तामे अतद्भाव है। (१०) सत्ता और द्रव्यमें अभिन्नता होनेपर भी सर्वथा एकत्व नही, उनमे अतद्भाव है। (११) सर्वथा एकत्वका लक्षण तद्भाव है। (१२) सत्ता और द्रव्यमे गुणगुणिरूपसे अन्यपना है, प्रदेशभेद न होनेसे अनन्यपना है।

सिद्धान्त—(१) सत्ता और द्रव्यमे प्रदेशभेद न होनेसे द्रव्य सत्त्वमय है। (२) सत्ता और द्रव्यमे लक्षणभेद होनेसे उनमे अतद्भाव है।

दृष्टि—१- उत्पादव्ययसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२५)। २- गुणगुणिभेदक शुद्ध सद्भूत व्यवहार (६६८)।

प्रयोग—गुण गुणीकी भेदकल्पना छोडकर अपनेको स्वभावमात्र अनुभवना ॥१०६॥

अब अतद्भावको उदाहरणपूर्वक प्रसिद्ध करते है—[सत् द्रव्यं] 'सत्‌द्रव्य' [च सत्

अथातद्भावमुदाहृत्य प्रथयति—

सद्दव्व सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥१०७॥

सत् द्रव्य व सत् गुण है, सत् है पर्याय व्यक्त यह वर्णन।
अन्योन्य अभाव हि को, तदभाव व अतद्भाव कहा ॥१०७॥

सद्द्रव्य सच्च गुण सच्चव च पर्याय इति विस्तार। य खलु तस्याभाव स तदभावोऽतद्भाव ॥१०७॥

यथा खल्वेक मुक्ताफलस्रग्दाम, हार इति सूत्रमिति मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैक द्रव्य द्रव्यमिति गुण इति पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते। यथा चकस्य मुक्ताफलस्रग्दाम्नः शुक्लो गुण शुक्लो हार शुक्ल सूत्र शुक्ल मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथकस्य द्रव्यस्य सत्तागुण सद्द्रव्य सद्गुण सत्पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते। यथा चकस्मिन् मुक्ताफलस्रग्दाम्नि

नामसज्ञ—सत् दव्व सत् च गुण सत् च एव य पज्जअ त्ति वित्थार ज खलु त अभाव त तद्भाव अतब्भाव। धातुसज्ञ—परि इ गतौ, वि त्थर आच्छादन उपसर्गादथ परिवतन। प्रातिपदिक—सत् द्रव्य

गुण] और 'सत्गुण' [च] और [सत् एव पर्याय] 'सत् ही पर्याय' [इति] इस प्रकार [विस्तार] सत्तागुणका विस्तार है। [य खलु] और जो उनमे परस्पर [तस्य अभाव] 'उसका अभाव' अर्थात् उसरूप होनेका अभाव है सो [स] वह [तद्भाव] उसका अभाव [अतद्भाव] अतद्भाव है।

तात्पर्य—सत्को ही द्रव्य गुण पर्यायरूपमे समझाया जाता है वे स्वतन्त्र सत् नहीं हैं।

टीकार्थ—जैसे एक मोतियोकी माला हार है, धागा है और मोती है इस तरह तीन प्रकारसे विस्तारित की जाती है, उसी प्रकार एक द्रव्य, द्रव्य है, गुण है और पर्याय है इस तरह तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है। और जैसे एक मोतियोंकी मालाका शुक्लत्व गुण "शुक्ल हार", "शुक्ल धागा", और 'शुक्ल मोती",—यो तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है, उसी प्रकार एक द्रव्यका सत्तागुण सत द्रव्य 'सत् गुण' और 'सत् पर्याय'—यो तीन प्रकारसे विस्तारित किया जाता है। और जैसे एक मोतियोंकी मालामें जो शुक्लत्व गुण है वह हार नही है, धागा नही है या मोती नही है, और जो हार, धागा या मोती है वह शुक्लत्व गुण नही है,—इस प्रकार एक दूसरमें जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'तद्रूप होनेका अभाव' है सो वह 'तद् अभाव' लक्षण वाला 'अतद्भाव' है, जो कि अन्यत्वका कारण है। इसी प्रकार एक द्रव्यमें जो सत्ता गुण है वह द्रव्य नही है, अन्य गुण नही है या पर्याय नही

यः शुक्लो गुणः स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं यश्च हारः सूत्रं मुक्ताफलं वा स न शुक्लो गुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः। तथैकस्मिन् द्रव्ये यः सत्तागुणस्तन्न द्रव्यं नान्यो गुणो न पर्यायो यच्च द्रव्यमन्यो गुणः पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभावः स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूतः ॥१०७॥

सत् च गुण सत् च एव य पर्याय इति विस्तार यत् खलु तत् अभाव तदभाव अतद्भाव। मूलधातु—परि इण् गतौ, वि स्तृञ् आच्छादने उपसर्गादर्थपरिवर्तनं। उभयपदविवरण—सत् दव्व द्रव्य गुणो गुण· पज्जओ पर्याय· वित्थारो विस्तार, जो यः अभावो अभाव. तदभावो तद्भाव. अतब्भावो अतद्भाव –प्रथमा एक०। तस्स तस्य–षष्ठी एक०। च एव त्ति इति खलु–अव्यय। निरुक्ति—विस्तरण विस्तारः। समास—तस्य अभाव. तदभाव., तस्य भाव तद्भावः न तद्भाव. अतद्भावः ॥ १०७ ॥

है; और जो द्रव्य या अन्य गुण या पर्याय है वह सत्तागुण नही है—इस प्रकार एक दूसरेमें जो 'उसका अभाव' अर्थात् 'तद्रूप होनेका अभाव' है वह 'तद् अभाव' लक्षण वाला 'अतद्भाव' है जो कि अन्यत्वका कारण है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे पृथक्त्व व अन्यत्वका लक्षण बताया गया था। अब इस गाथामे उदाहरण देकर अतद्भावका स्पष्टीकरण किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) एक ही आवान्तर सत्को द्रव्य गुण पर्याय इन तीन रूपोंसे ज्ञान में फैलाया जाता है। (२) जैसे एक हारकी सफेदी गुणको सफेद हार है, सफेद सूत है, सफेद मोती है यो तीन प्रकारसे निरखा जाता है ऐसे ही एक द्रव्यके सत्ता गुणको सत् द्रव्य है, सत् गुण है, सत् पर्याय है यों तीन प्रकारसे निरखा जाता है। (३) एक हारमे जो सफेदी गुण है वह न हार है, न सूत है, न मोती है और जो हार सूत मोती है वह सफेदी गुण नही यो एकमे दूसरेका अभाव है ऐसा अभाव ही अतद्भाव कहलाता है। (४) एक द्रव्यमें जो सत्ता गुण है वह न द्रव्य है, न अन्य गुण है, न पर्याय है और जो द्रव्य, अन्यगुण व पर्याय है वह सत्ता गुण नही यो एकमे दूसरेका अभाव है ऐसा अभाव ही अतद्भाव कहलाता है। (५) अतद्भाव अन्यत्वके परिचयका कारणभूत है। (६) सत्ता व द्रव्यमे अतद्भाव तो है, किन्तु पृथक्त्व नहीं है।

सिद्धान्त—(१) द्रव्य गुणी है सत्ता गुण है इतना अतद्भाव इन दोनों अभिधेयोंमे है।

दृष्टि—१- गुणगुणिभेदक शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय (६९ब)।

प्रयोग—मात्र परिचयके लिये अतद्भावका प्रतिपादन जानकर अतद्भावको गौण कर [illegible] अनुभवना ॥१०७॥

अथ सर्वथाऽभावलक्षणत्वमतद्भावस्य निषेधयति—

जं दव्वं तण्ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥१०८॥

जो द्रव्य न वह गुण है जो गुण है वह न द्रव्य लक्षणसे।
अतद्भाव ऐसा है किन्तु सर्वथा अभाव नहीं॥ १०८ ॥

यद्द्रव्यं तन्न गुणो योऽपि गुणः स न तत्त्वमर्थात्। एष ह्यतद्भावो नैव अभाव इति निर्दिष्टः ॥ १०८ ॥

एकस्मिन्द्रव्ये यद्द्रव्यं गुणो न तद्भवति, यो गुणः स द्रव्यं न भवतीत्येवं यद्द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेण तेनाभवनं सोऽतद्भावः। एतावतैवान्यत्वव्यवहारसिद्धेः पुन-

---

नामसंज्ञ—जं दव्व त ण गुण ज वि गुण त ण तच्च अत्था एत हि अतब्भाव ण एव अभाव त्ति णिद्दिट्ठ। धातुसंज्ञ—निर दिस प्रक्षणे। प्रातिपदिक—यत् द्रव्य तत् न गुण यत् अपि गुण तत् न तत्त्व अर्थ एतत् हि अतद्भाव न एव अभाव इति निर्दिष्ट। मूलधातु—निस दिश अतिसर्जने। उभयपदविवरण—

अब अतद्भावके सर्वथा अभावरूप लक्षणपनेको निषिद्ध करते हैं—[यत् द्रव्यं] जो द्रव्य है [तत् न गुण] वह गुण नही है, [अपि यः गुण] और जो गुण है [स न तत्त्वं] वह द्रव्य नही है। [अर्थात्] शब्दार्थ लक्षणकी अपेक्षासे [एष हि अतद्भाव] यह ही अतद्भाव है, [न एव अभाव] सर्वथा अभाव अतद्भाव नही है, [इति निर्दिष्ट] ऐसा प्रभुके द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

तात्पर्य—द्रव्य, गुण, पर्यायमे शब्दार्थलक्षणकी अपेक्षा अतद्भाव है, सर्वथा अभाव रूप अतद्भाव नही।

टीकार्थ—एक द्रव्यमे जो द्रव्य है वह गुण नही है, जो गुण है वह द्रव्य नही है, इस प्रकार द्रव्यका गुणरूपसे न होना अथवा गुणका द्रव्यरूपसे न होना अतद्भाव है, क्योकि इतनेसे ही अन्यत्वरूप व्यवहार सिद्ध होता है। परन्तु द्रव्यका अभाव गुण है, गुणका अभाव द्रव्य है, ऐसे लक्षण वाला अभाव अतद्भाव नही है। ऐसा होनेपर एक द्रव्यके अनेकपना आ जायगा, उभयशून्यता हो जायगी, अथवा अपोहरूपता आ जायगी। स्पष्टीकरण—जैसे चेतन-द्रव्यका अभाव अचेतन द्रव्य है और अचेतन द्रव्यका अभाव चेतन द्रव्य है, इस प्रकार उनके अनेकपना है, उसी प्रकार द्रव्यका अभाव गुण, और गुणका अभाव द्रव्य है, इस प्रकार एक द्रव्यके भी अनेकपना आ जायगा। जैसे सुवर्णका अभाव होनेपर सुवर्णत्वका अभाव हो जाता है, और स्वर्णत्वका अभाव होनेपर सुवर्णका अभाव हो जाता है, इस प्रकार उभयशून्यत्व हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्यका अभाव होनेपर गुणका अभाव और गुणका अभाव होनेपर द्रव्य

गुणभूत एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः द्रव्यवृत्तेर्हि त्रिकोटिसमयस्पर्शिन्याः प्रतिक्षणं तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद्द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणामः । स त्वस्तित्वभूतद्रव्यवृत्त्यात्मकत्वात्सदविशिष्टो द्रव्यविधायको गुण एवेति सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावः सिद्धयति ॥१०६॥

परिणाम तत् गुण सदवशिष्ट सत् अवस्थित स्वभाव द्रव्य इति जिनोपदेश इदम् । **मूलधातु**— वि शिष असर्वोपयोगे चुरादि, अव ष्ठा गतिनिवृत्तौ । **उभयपदविवरण**—जो यः दव्वसहावो द्रव्यस्वभाव. परिणामो परिणाम. सो स. सदवसिट्ठो सदवशिष्ट सदवट्ठिद सदवस्थित दव्व द्रव्यं जिणोपदेसो जिनोपदेश अयं- प्रथमा एकवचन । सहावे स्वभावे-सप्तमी एक० । खलु त्ति इति-अव्यय । **निरुक्ति**—परिणमनं परिणाम, उपदेशन उपदेश. । **समास**-स्वस्य भाव. स्वभाव द्रव्यस्य स्वभाव द्रव्यस्वभाव , जिनस्य उपदेश. जिनोपदेश ॥१०६॥

वाली द्रव्यवृत्तिका प्रतिक्षण उस उस स्वभावरूप परिणमन होनेसे भले प्रकार द्रव्यका स्वभावभूत ही परिणाम है; और वह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणाम अस्तित्वभूत द्रव्यकी वृत्ति स्वरूप होनेसे, 'सत्' के अविशिष्ट, द्रव्यका रचयिता गुण ही है । इस प्रकार सत्ता और द्रव्य का गुण-गुणी भाव सिद्ध होता है ।

प्रसंगविवरण—अनतरपूर्व गाथामे बताया गया था कि द्रव्य व गुणमे जो अतद्भाव कहा गया है सो उसका लक्षण सर्वथा अभाव नही है । अब इस गाथामें सत्ता व द्रव्यमे गुण-गुणिभावको सिद्ध किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्य स्वभावमे नित्य अवस्थित रहनेसे सत् है । (२) द्रव्यका स्वभाव परिणाम है । (३) जो द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम है वही सत्ता है और वह अस्तित्वमे अविशिष्ट है । (४) द्रव्यार्थिककी प्रधानतासे द्रव्यके स्वरूपका वृत्तिभूत अस्तित्व ही सत् कहा जाता है । (५) पर्यायार्थिककी प्रधानतासे उस अस्तित्वसे अनन्य गुण ही द्रव्यका परिणाम कहा जाता है । (६) सत्ता और द्रव्यका गुणगुणिभाव युक्तिसे सिद्ध है ।

सिद्धान्त—(१) निर्विकल्प वस्तुके परिचयका प्रारम्भ गुणगुणिभेदके व्यवहारसे होता है ।

दृष्टि—१- गुणगुणिभेदक शुद्ध सद्भूत व्यवहार (६६ब) ।

प्रयोग—गुणगुणिभेदसे आत्मवस्तुका मौलिक परिचयका संकेत पाकर अभेद आत्मस्वभावमें मग्न विश्राम पानेके लिये भेदकल्पना छोड़कर चैतन्यमात्र आत्मवस्तुको अनुभवनेका स्वतः होने देना ॥१०६॥

अब गुण और गुणीके नानापनका खण्डन करते हैं—[इह] इस विश्वमे [गुणः इति वा कश्चित्] गुण ऐसा कुछ [पर्यायः इति वा] या पर्याय ऐसा कुछ [द्रव्यं विना नास्ति] द्रव्यके बिना नहीं होता; [पुनः द्रव्यत्वं भावः] और द्रव्यत्व उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक

अथ गुणगुणिनोर्नानात्वमुपहन्ति—

णत्थि गुणो त्ति व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं ।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥ ११० ॥

द्रव्य बिना कोई गुण, अथवा पर्याय कोइ कुछ नहि है ।
द्रव्यत्व भाव उसका, अत द्रव्य है स्वय सत्ता ॥ ११० ॥

नास्ति गुण इति वा कश्चित् पर्याय इतीह वा विना द्रव्यम् । द्रव्यत्व पुनर्भावस्तस्माद्द्रव्य स्वय सत्ता ॥११०॥

न खलु द्रव्यात्पृथग्भूतो गुण इति वा पर्याय इति वा कश्चिदपि स्यात् । यथा सुवर्णात्पृथग्भूत तत्पीतत्वादिकमिति वा तत्कुण्डलत्वादिकमिति वा । अथ तस्य तु द्रव्यस्य स्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वाख्य यद्द्रव्यत्व स खलु तद्भावाख्यो गुण एव भवन् किं हि द्रव्यात्पृथग्भूतत्वेन वर्तते । न वर्तत एव । तर्हि द्रव्य सत्ताऽस्तु स्वयमेव ॥ ११० ॥

नामसज्ञ—ण गुण त्ति व कोई पज्जाअ त्ति इह वा विणा दव्व दव्वत्त पुण भाव त दव्व सय सत्ता । धातुसज्ञ—अस सत्तायां । प्रातिपदिक—न गुण इति वा कश्चित् पर्याय इति वा विना द्रव्य द्रव्यत्व पुनर् भाव तत् द्रव्य स्वय सत्ता । मूलधातु—अस् भुवि । उभयपदविवरण—ण न त्ति इति व वा इह वा विणा विना पुण पुन सय स्वय-अव्यय । गुणो गुण पज्जाओ पर्याय दव्वत्त द्रव्यत्व भावो भाव दव्व द्रव्यं सत्ता-प्रथमा एकवचन । दव्व द्रव्य (विना द्रव्य)-द्वितीया एकवचन । अत्थि अस्ति-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । निरुक्ति—गुण्यते भिद्यते द्रव्य प्रतिबोधनाय यस्ते गुणा । द्रव्यस्य भाव द्रव्यत्व, भवन भाव ॥ ११० ॥

सद्भाव है [तस्मात्] इस कारण [द्रव्य स्वय सत्ता] द्रव्य स्वय सत्तारूप है ।

तात्पर्य—गुणपर्यायवान व उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होनेसे द्रव्य स्वय सत्स्वरूप है ।

टीकार्थ—वास्तवमे द्रव्यसे पृथग्भूत गुण या पर्याय ऐसा कुछ भी नही होता, जैसे—सुवर्णसे पृथग्भूत उसका पीलापन आदि या उसका कुण्डलत्वादि नही होता । अब उस द्रव्य का स्वरूपका वृत्तिभूत अस्तित्व नामसे कहा जाने वाला जो द्रव्यत्व है वह वास्तवमे तद्भाव नामसे कहा जाने वाला गुण ही होता हुआ क्या उस द्रव्यसे पृथक्रूपसे रहता है ? नही रहता । तब फिर द्रव्य सत्ता होओ स्वय ही ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे सत्ता और द्रव्यमें गुणगुणिभावको सिद्ध किया गया था । अब इस गाथामे गुणगुणीके भेदको नष्ट किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्यसे अलग कुछ भी गुण नही होता । (२) द्रव्यसे अलग कहीं भी कुछ भी पर्याय नही होता । (३) द्रव्यका स्वरूप वृत्तिभूत जो अस्तित्वसे प्रसिद्ध द्रव्यत्व है वह द्रव्यका भावरूप गुण है । (४) द्रव्यका भावरूप गुण द्रव्यसे पृथक् नही रहता । (५)

त्तौ पर्यायनिष्पादिकास्तास्ता व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाः पर्यायान् द्रवीकुर्युः, यथाङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिर्यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाभिरङ्गदादिपर्याया अपि हेमीक्रियेरन् । द्रव्याभिधेयतायामपि सदुत्पत्तौ द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तयः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्यं पर्यायीकुर्युः । यथा हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिः क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकमापन्नाभिर्हेमाङ्गदादिपर्यायमात्रो क्रियेत । ततो द्रव्यार्थादेशात्सदुत्पादः, पर्यायार्थादेशादसत् इत्यनवद्यम् ॥१११॥

सद्भावणिबद्ध सदसद्भावनिबद्ध पादुब्भाव प्रादुर्भाव–द्वितीया एकवचन । लभदि लभते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । निरुक्ति—प्रादुर्भवनं प्रादुर्भाव । समास—द्रव्य अर्थः प्रयोजन यस्य स. द्रव्यार्थः, पर्याय अर्थ प्रयोजन यस्य स पर्यायार्थ, द्रव्यार्थश्च पर्यायार्थश्च द्रव्यार्थपर्यायार्थौ ताभ्या द्र०, सच्च असच्च सदसती तयो भाव सदसद्भाव तेन निबद्धं सदसद्भावनिबद्ध ॥ १११ ॥

करना है । द्रव्यकी अभिधेयताके समय भी सत्-उत्पादमे द्रव्यकी उत्पादक अन्वयशक्तिया क्रमप्रवृत्तिको प्राप्त करके उस उस व्यतिरेकव्यक्तित्वको प्राप्त होती हुई द्रव्यको पर्यायरूप करती है; जैसे कि सुवर्णकी उत्पादक अन्वयशक्तियाँ क्रमप्रवृत्ति प्राप्त करके उस उस व्यतिरेकव्यक्तिताको प्राप्त होती हुई सुवर्णको बाजूबंधादि पर्यायमात्ररूप करती है । इस कारण द्रव्यार्थिकनयके आदेशसे सत्का उत्पाद है, पर्यायार्थिकनयके आदेशसे असत्का उत्पाद है, यह तथ्य [illegible] है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे गुणगुणीके नानापनको मिटाया गया था । अब [illegible] गाथामें द्रव्यपरिणामकी सिद्धिके लिये द्रव्यके सदुत्पादमें व उसीके असदुत्पादमे अविरोध [illegible] है ।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्यार्थिक दृष्टिसे द्रव्यका सदुत्पाद है । (२) पर्यायार्थिक दृष्टिसे [illegible] असदुत्पाद है । (३) द्रव्यके ही निरूपणमे अन्वयशक्तियो द्वारा क्रमभावी व्यतिरेक[illegible] होनेसे द्रव्यका सद्भावनिबद्ध ही प्रादुर्भाव अर्थात् विद्यमानका ही उत्पाद ज्ञात [illegible] । (४) पर्यायोंके ही निरूपणमे उत्पादविनाशचिह्न वाली व्यतिरेकव्यक्तियो द्वारा [illegible] हो जानेसे द्रव्यका असद्भावनिबद्ध ही प्रादुर्भाव अर्थात् अविद्यमानका [illegible] ज्ञात होता है । (५) पर्यायार्थिकप्रधानतामे असदुत्पाद ज्ञात होनेपर भी वे व्यति[illegible] है । (६) द्रव्यार्थिकप्रधानतामें सदुत्पाद ज्ञात होनेपर भी जो द्रव्य है [illegible] है । (७) द्रव्यार्थिकदृष्टिसे सदुत्पाद है । (८) पर्यायार्थिकदृष्टिसे असदुत्पाद है ।

[illegible]—(१) सामान्य दृष्टिमे त्रैकालिक उत्पाद व्ययोंका आधार वही एक सत् [illegible] उत्पाद है ।

अथ सदुत्पादमनन्यत्वेन निश्चिनोति—

जीवो भव भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो ।
किं दव्वत्त पजहदि ण जह अण्णो कह होदि ॥११२॥

जीव परिणामके वश, नृसुरादिक हो व अन्य पदमे हो ।
द्रव्यत्वको न तजता, तब फिर वह अन्य कसे हो ॥ ११२ ॥

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरो वा परो भूत्वा पुन । किं द्रव्यत्व प्रजहाति न जहदन्य कथ भवति ॥११२॥

द्रव्य हि तावद्द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्ति नित्यमप्यपरित्यजद्भवति सदेव । यस्तु द्रव्यस्य पर्यायभूताया व्यतिरेकव्यक्ते प्रादुर्भाव तस्मिन्नपि द्रव्यत्वभूताया अन्वयशक्तेरप्रच्यवनात् द्रव्यमनन्यदेव । ततोऽनन्यत्वेन निश्चीयते द्रव्यस्य सदुत्पाद । तथाहि—जीवो द्रव्य भवन्नार

नामसज्ञ—जीव भवत णर अमर वा पर पुणो किं दव्वत्त ण जह अण्ण कह । धातुसज्ञ—भव सत्ताया प जहा त्यागे, हो सत्ताया । प्रातिपदिक—जीव भवत् नर अमर वा पर पुनर् किं द्रव्यत्व न जहत् अन्य कथ । मूलधातु—प्र ओहाक् त्यागे, भू सत्ताया । उभयपदविवरण—जीवो जीव णरो नर अमरो अमर परो पर अण्णो अन्य –प्रथमा एकवचन । भव भवन्–प्रथमा एक० कृदन्त । भविस्सदि भविष्यति–भविष्य

दृष्टि—१– ऊर्ध्वसामान्यनय (१९९) । २– ऊर्ध्वविशेषनय (२००) ।

प्रयोग—जिस मुझने पहिले अज्ञानचेष्टा की वह मैं आज ज्ञानस्वरूपको निहार रहा हू और आगामी कालमे योग्य नरभव पाकर जिनदीक्षा ग्रहण कर निश्चयरत्नत्रयजातानन्दा नन्दमें तृप्त होऊँगा वह मैं एक आत्मद्रव्य हू अन्य नही, हा अज्ञान पर्याय अन्य है व रत्न त्रयात्मक पर्याय अन्य है ऐसा जानकर सब पर्यायमें गुजरने वाले एक चैतन्यस्वरूप अन्तस्तत्त्व की उपासना करना ॥ १११ ॥

अब सत्‌उत्पादको सब पर्यायोंमें द्रव्यके अनन्यत्वके द्वारा निश्चित करते हैं—[जीव] जीव [भवन्] परिणमता हुआ [नर] मनुष्य, [अमर] देव [वा] अथवा [पर] अन्य कुछ [भविष्यति] होगा, [पुन] परन्तु [भूत्वा] मनुष्य देवादि होकर [किं] क्या वह [द्रव्यत्वं प्रजहाति] द्रव्यत्वको छोड देता है ? [न जहत्] नही छोडता हुआ वह [अन्य कथ भवति] अन्य कैसे हो सकता है ?

तात्पर्य—अपने अनेक पर्यायोंमें परिणमता हुआ द्रव्य द्रव्यत्वको न छोडनेके कारण वह वही रहता है, अन्य नही हो जाता ।

टीकार्थ—द्रव्य तो द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिको कभी भी न छोडता हुआ सत् ही है । और जो द्रव्यके पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्तिका उत्पाद है उसमे भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिका अच्युतपना होनेसे द्रव्य अनन्य ही है, इसलिये अनन्यत्वके द्वारा द्रव्यका सदुत्पाद निश्चित

कतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वानामन्यतमेन पर्यायेण द्रव्यस्य पर्यायदुर्ललितवृत्तित्वादवश्यमेव भवि· ष्यति । स हि भूत्वा च तेन किं द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिमुज्झति, नोज्झति । यदि नोज्झति कथमन्यो नाम स्यात्, येन प्रकटितत्रिकोटिसत्ताकः स एव न स्यात् ॥ ११२ ॥

अन्य पुरुप एकवचन क्रिया । भवीय भूत्वा–असमाप्तिकी क्रिया । वा पुणो पुन. कि ण कह कथ–अव्यय। दव्वत्त द्रव्यत्व–द्वितीया एक० । पजहदि प्रजहाति–वर्तमान अन्य पुरुप एकवचन क्रिया । जह जहत्–प्रथमा एक० कृदन्त । होदि भवति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । निरुक्ति—न मरतीति अमर (आयुप पूर्वं न मरति), द्रव्यस्य भाव. द्रव्यत्वम् ॥ ११२ ॥

होता है । स्पष्टीकरण—जीव द्रव्य परिणमता हुआ नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वमे से किसी एक पर्यायमे अवश्य ही होगा, क्योकि द्रव्यका पर्यायमें होना अनिवार्य है। परन्तु वह जीव उस पर्यायरूप होकर क्या द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्तिको छोड़ता है ? नही छोडता यदि नही छोडता तो वह अन्य कैसे हो सकता है कि जिससे त्रैकालिक अस्तित्व प्रगट है जिसके ऐसा वह जीव वही न हो ?

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें द्रव्यके सदुत्पाद व असदुत्पादमे अविरोध सिद्ध किया गया था । अब इस गाथामे सदुत्पादका द्रव्यके अनन्यपनेसे निश्चित किया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) वास्तवमे द्रव्य सदैव सत् है, क्योकि वह द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को कभी भी नही छोडता । (२) द्रव्यकी अवस्थाके उत्पादमे भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति कभी नही हटती, अतः प्रत्येक पर्यायमे द्रव्य वहीका वही अनन्य है । (३) द्रव्यका सदुत्पाद अनन्य· पनेमे ही है । (४) कुछ भी पर्याय हो क्या द्रव्य वह न रहा ? क्या अन्य हो गया ? नही, अतः प्रतिपर्यायमे वही है । (५) द्रव्यान्वयशक्तिरूपसे जो ही सद्भावनिबद्ध उत्पाद द्रव्यसे अभिन्न है ।

सिद्धान्त—(१) जो भी पर्याय होती है वह अन्वित द्रव्यका विशेप है सो वह पर्याय द्रव्यसे अन्य नही है ।

दृष्टि—१– अन्वय द्रव्यार्थिकनय (२७) ।

प्रयोग—संसारअवस्था व मुक्तिअवस्थामे मैं ही होता हूं वह कोई अन्य नही, अतः [illegible] केवल ही रहूं एतदर्थ अपनेमे केवल चैतन्यस्वरूपकी उपासना करना।११२।

अब आगे उत्पादको अन्यत्वके द्वारा निश्चित करते है—[मनुजः] मनुष्य [देवः न भवति] देव नही है, [वा] अथवा [देवः] देव [मानुषः वा सिद्धः वा] मनुष्य या सिद्ध [illegible] [किं भवन्] सो ऐसा न होता हुआ वह [अनन्यभावं कथं लभते] अनन्यभावको [illegible] सकता है ?

अथासदुत्पादमन्यत्वेन निश्चिनोति—

मणुवो ण होदि देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा ।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं लहदि ॥ ११३ ॥

नर नहिं सुर सिद्धादिक, सुर नहिं नर सिद्ध आदि परिणतिमें ।
इक अन्यमय न होता, तब उनमें एकता कैसे ॥ ११३ ॥

तथाहि—न हि मनुजस्त्रिदशो वा सिद्धो वा स्यात् न हि त्रिदशो मनुजो वा सिद्धो वा स्यात्। एवमसन् कथमनन्यो नाम स्यात् येनान्य एव न स्यात्। येन च निष्पद्यमानमनुजादिपर्यायं जायमानवलयादिविकार काञ्चनमिव जीवद्रव्यमपि प्रतिपदमन्यन्न स्यात् ॥ ११३ ॥

भू सत्ताया, डुलभष् प्राप्तौ। **उभयपदविवरण**—मणुवो मनुज देवो देव. माणुसो मानुष सिद्धो सिद्ध-प्रथमा एक०। अहोज्जमाणो अभवन्–प्रथमा एकवचन कृदन्त। अण्णणभाव अनन्यभाव–द्वितीया एक०। ण न वा व कध कथ–अव्यय। होदि भवति लहदि लभते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। निरुक्ति-मनो जात मनुज, दिव्यतीति देव, सिद्धचतिस्म इति सिद्ध। **समास**—न अन्य. अनन्य अनन्यस्य भाव अनन्यभाव त ॥ ११३ ॥

भिन्न वस्तु नही वह उसरूप परिणत द्रव्य ही है, अतः असत्के उत्पादकी दृष्टिमे वह द्रव्य भी अन्य अन्य हुआ समझा जाता है। (५) यह एक परमात्मद्रव्य परमार्थतः मनुष्य व देवादि पर्यायसे विलक्षण है सो सब पर्यायोमे यह परमात्मद्रव्य एक है, तो भी मनुष्य देवादिक नही। (६) किसी एक पर्यायमे दूसरा पर्याय नही पाया जाता। (७) पर्यायें सब भिन्न-भिन्न अपने-अपने कालमे होते है। (८) कोई भी पर्याय दूसरे पर्यायके कालमे न होनेसे सब पर्यायें अन्य अन्य ही है। (९) द्रव्यका हुआ असदुत्पाद पूर्वपर्यायसे भिन्न है।

सिद्धान्त—(१) प्रत्येक पर्याय विनाशीक है व अन्य पर्यायोसे भिन्न है।

दृष्टि—१- सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (३७)।

प्रयोग—विभावपर्यायको हेय जानकर व स्वाभाविक पर्यायको उपादेय जानकर स्वाभाविक पर्यायके स्रोतभूत चैतन्यस्वभावकी उपासना करना ॥ ११३ ॥

अब एक ही द्रव्यके अन्यत्व और अनन्यत्वके विरोधको दूर करते है—[द्रव्यार्थिकेन] द्रव्यार्थिक नयसे [तत् सर्वं] वह सब [द्रव्यं] द्रव्य [अनन्यत्] अनन्य है; [पुनः च] और [पर्यायार्थिकेन] पर्यायार्थिक नयसे [तत्] वह (सब द्रव्य) [अन्यत्] अन्य-अन्य है, [तत्काले तन्मयत्वात्] क्योंकि उस समय द्रव्यकी पर्यायसे तन्मयता है।

तात्पर्य—प्रत्येक एक ही द्रव्य अपने नाना पर्यायोको क्रमशः करता रहता है, अतः द्रव्यदृष्टिसे वह वही एक है, पर्यायदृष्टिसे वह अन्य अन्य है।

टीकार्थ—वास्तवमें सभी वस्तुओंकी सामान्यविशेपात्मकता होनेसे वस्तुका स्वरूप देखने वालेके क्रमशः सामान्य और विशेषको जानने वाली दो आंखें—(१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक हैं। इनमेंसे पर्यायार्थिक चक्षुको सर्वथा बन्द करके जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक [illegible] देखा जाता है तब नारकत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व–पर्यायस्वरूप [illegible] जीवसामान्यको देखने वाले और विशेषोको न देखने वाले जीवोंको

अथैकद्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वविप्रतिषेधमुद्धुनोति—

दव्वट्ठिएण सव्वं दव्वं तं पज्जयट्ठिएण पुणो ।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥ ११४ ॥

द्रव्य द्रव्यार्थनयसे, सब हैं अन्य अनन्य पर्ययी नयसे ।
क्योंकि उन उन विशेषों-के क्षणमें द्रव्य तन्मय है ॥ ११४ ॥

द्रव्यार्थिकेन सर्वं द्रव्यं तत्पर्यायार्थिकेन पुनः । भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात् ॥ ११४ ॥

सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति । तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं

नामसंज्ञ—दव्वट्ठिय सव्व दव्व त पज्जयट्ठिय पुणो य अण्ण अणण्ण तक्काल तम्मयत्त । धातुसंज्ञ—हव सत्तायां । प्रातिपदिक—द्रव्यार्थिक सर्व द्रव्य तत् पर्यायार्थिक पुनर् च अन्य अनन्य तत्काल तन्मयत्व । मूलधातु—भू सत्तायां । उभयपदविवरण—दव्वट्ठिएण द्रव्यार्थिकेन पज्जयट्ठिएण पर्यायार्थिकेन—तृतीया एक० । सव्वं सर्वं दव्वं द्रव्यं तं तत् अण्णं अन्यत् अणण्णं अनन्यत्—प्रथमा एकवचन । हवदि भवति—वर्तमान अन्य पुरुष

'वह सब जीव द्रव्य है' ऐसा भासित होता है । और जब द्रव्यार्थिक चक्षुको सर्वथा बंद करके मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षुके द्वारा देखा जाता है तब जीवद्रव्यमें रहने वाले नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्याय स्वरूप अनेक विशेषोंको देखने वाले और सामान्यको न देखने वाले जीवोंको वह जीवद्रव्य अन्य अन्य भासित होता है, क्योंकि द्रव्य उन-उन विशेषोंके समय तन्मय होनेसे उन उन विशेषोंसे अनन्य है—कंडे, घास पत्ते और काष्ठमय अग्निकी तरह । और जब उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आंखोंको एक ही साथ खोलकर इनसे अर्थात् द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक चक्षुओंसे देखा जाता है तब नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्यायोंमें रहने वाला जीवसामान्य तथा जीव सामान्यमें रहने वाले नारकत्व, तिर्यक्त्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्वपर्यायस्वरूप विशेष एक ही साथ दिखाई देते हैं । वहाँ एक आंखसे देखा जाना एकदेश अवलोकन है और दोनों आंखोंसे देखना सम्पूर्ण अवलोकन है । इस कारण सर्वावलोकनमें द्रव्यके अन्यत्व और अनन्यत्व विरोधको प्राप्त नहीं होते ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें द्रव्यके असदुत्पादको अन्यत्वसे निश्चित किया गया था । अब इस गाथामें एक ही द्रव्यके अन्यत्व व अनन्यत्वके विरोधका परिहार किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक है । (२) पदार्थका सामान्य

विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्याया-त्मकेषु विशेषेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यमेकमवलोकयतामनवलोकितविशेषाणां तत्सर्वजीवद्रव्य-मिति प्रतिभाति । यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलित केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यस्थितान्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकान् विशेषाननेकावलोकयतामन-वलोकितसामान्यानामन्यदन्यत्प्रतिभाति । द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेनान-न्यत्वात् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत् । यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यका-लोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायेषु व्यवस्थित जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते । तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनं । तत. सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते ॥ ११४ ॥

एकवचन क्रिया । तक्काले तत्काले–सप्तमी एकवचन । तम्मयत्तादो [तन्मयत्वात्–पचमी एकवचन । निरु-क्ति—द्रवतीति द्रव्य तेन निर्वृत्त तन्मय तस्य भाव तन्मयत्व तस्मात् । समास—द्रव्य अर्थ प्रयोजन यस्य स द्रव्यार्थिक तेन द्र०, पर्याय अर्थ प्रयोजन यस्य स पर्यायार्थिक. तेन प० ॥ ११४ ॥

स्वरूप त्रैकालिक है । (३) पदार्थका विशेषस्वरूप क्षण क्षणमे नया नया है । (४) सामान्य स्वरूपको जानने वाला नेत्र द्रव्यार्थिकनय है । (५) विशेषस्वरूपको जानने वाला नेत्र पर्याया-र्थिक नय है । (६) पर्यायार्थिक नेत्रको वंद कर केवल द्रव्यार्थिक नेत्रसे देखनेपर नारक, तिर्य-ञ्च, मनुष्य, देव सिद्ध पर्यायविशेषोमे एक जीवद्रव्य ही प्रतिभान होता है, क्योकि यहां विशेष देखे नहीं गये । (७) द्रव्यार्थिक नेत्रको वंद कर केवल पर्यायार्थिक नेत्रसे जीवद्रव्यमे व्यवस्थित नारकादि पर्यायोंको देखनेपर वे सब विशेष अन्य अन्य ही ज्ञात होते है, क्योकि यहां जीव-सामान्य देखा नहीं गया । (८) जब द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक दोनो नेत्रोको एक साथ खोल-कर देखा जाय तब नारकादि पर्यायोमे व्यवस्थित जीवद्रव्य व जीवद्रव्यमे व्यवस्थित नारकादि पर्यायें एक साथ देखे जाते है। (९) एक नय नेत्रसे देखनेपर एकदेश दिखाई देता है। (१०) दोनों नय नेत्रोंसे देखनेपर सब दिखाई देता है। (११) सबके अवलोकनमे द्रव्यका अन्यत्व व अनन्यत्व अविरोध सुविदित होता है। (१२) द्रव्यार्थिक नयसे पर्यायसन्तानरूपमे द्रव्य एक ही विदित होना। (१३) पर्यायार्थिकनयसे द्रव्य पर्यायरूपमें भिन्न-भिन्न विदित होना। (१४) [illegible] दोनों नयोंसे एक साथ निरखनेपर द्रव्यका एकत्व व अनेकत्व एक साथ विदित होना।

सिद्धान्त—(१) एक ही द्रव्य प्रतिसमय अनिवारित विशेषमय निरखा जाता है।

अथ सर्वविप्रतिषेधनिषेधिका सप्तभङ्गीमवतारयति—

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥ ११५ ॥

द्रव्य कइ दृष्टियोंसे, अस्ति नास्ति अवक्तव्य होता है ।
उभय तीन व त्रयात्मक, यों सब मिल सप्त भंग हुए ॥ ११५ ॥

अस्तीति च नास्तीति च भवत्यवक्तव्यमिति पुनर्द्रव्यम् । पर्यायेण तु केनचित् तदुभयमादिष्टमन्यद्वा ॥११५॥

स्यादस्त्येव १ स्यान्नास्त्येव २ स्यादवक्तव्यमेव ३ स्यादस्तिनास्त्येव ४ स्यादस्त्यवक्तव्यमेव ५ स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव ६ स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेव ७ । स्वरूपेण १ पररूपेण २ स्वपररूपयौगपद्येन ३ स्वपररूपक्रमेण ४ स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ५ पररूपस्वपररूपयौग-

---

नामसंज्ञ—त्ति ण य पुणो दु वि वा अवत्तव्व दव्व पज्जाय क तदुभय अण्ण अण्ण । धातुसंज्ञ—अस सत्तायां, हव सत्तायां । प्रातिपदिक—इति न च पुनर् तु अपि वा अवक्तव्य द्रव्य पर्याय किं तदुभय

दृष्टि—१- अन्वयद्रव्यार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (८३), सत्तासापेक्ष नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिक प्रतिपादक व्यवहार (६४) ।

प्रयोग—जो हो मैं यहाँ संसारावस्थामें आकुल रहता हूं यही मैं मुक्तावस्थामें शाश्वत अनाकुल रहूंगा ऐसे निर्णयपूर्वक मुक्तिके लिये अविकार चैतन्यस्वभावमय अद्वैत अन्तस्तत्त्वकी भावना करना ॥११४॥

अब समस्त विरोधोंको दूर करने वाली सप्तभंगीको उतारते हैं— [द्रव्य] द्रव्य [केनचित् पर्यायेण तु] किसी पर्यायसे तो [अस्ति इति च] 'अस्ति' [नास्ति इति च] और किसी पर्यायसे 'नास्ति' [पुन] और [अवक्तव्यम् इति भवति] किसी पर्यायसे 'अवक्तव्य' है, [तदुभय] और किसी पर्यायसे 'अस्ति नास्ति, (दोनों) [वा] अथवा [अन्यत् आदिष्टम्] किसी पर्यायसे अन्य तीन भंगरूप कहा गया है ।

टीकार्थ—द्रव्य (१) स्यात् अर्थात् स्वरूपसे अस्ति, (२) 'स्यात् अर्थात् पररूपसे नास्ति', (३) 'स्यात् अर्थात् स्वरूप पररूपके यौगपद्यसे अवक्तव्य', (३) 'स्यात् स्वपररूपक्रमसे अस्ति-नास्ति', (५) 'स्यात् स्वरूपसे व स्वपररूपयौगपद्यसे अस्ति अवक्तव्य', (६) स्यात् अर्थात् पररूपसे व स्वपररूपयौगपद्यसे नास्ति अवक्तव्य', और (७) 'स्यात् स्वरूपसे, पररूपसे व स्वपररूपयौगपद्यसे अस्ति नास्ति अवक्तव्य' है ।

स्वरूपसे, पररूपसे, स्वपररूपके यौगपद्यसे स्वरूप और पररूपके क्रमसे स्वरूप और स्वरूप-पररूपके यौगपद्यसे पररूपसे और स्वरूपपररूपके यौगपद्यसे, स्वरूपसे, पररूपसे

पद्याभ्यां ६ स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैरादिश्यमानस्य स्वरूपेण सतः, पररूपेणासतः, स्वपररूपाभ्यां युगपद्वक्तुमशक्यस्य, स्वपररूपाभ्यां क्रमेण सतोऽसतश्च, स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां सतो वक्तुमशक्यस्य च, पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यामसतो वक्तुमशक्यस्य च, स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैः सतोऽसतो वक्तुमशक्यस्य चानन्तधर्मणो द्रव्यस्यैकैक धर्ममाश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधिप्रतिषेधाभ्यामवतरन्ती सप्तभङ्गिकैवकारविश्रान्तमश्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधविषमोहमुदस्यति ॥ ११५ ॥

आदिष्ट अन्य । **मूलधातु**—भू सत्तायां, अस् भुवि । **उभयपदविवरण**—त्ति इति ण न पुणो पुनः तु दु वि अपि वा–अव्यय । अवत्तव्व अवक्तव्य पज्जायेण पर्यायेन–तृतीया एकवचन । केण केन–तृ० ए० । तदुभय आदिट्ठ आदिष्ट अण्ण अन्य–प्र० एक० । अत्थि अस्ति हवदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । निरुक्ति—वक्तु योग्य वक्तव्य न वक्तव्यं इति अवक्तव्य, परि अयनं पर्यायः । **समास**—तयो उभय तदुभयम् ॥ ११५ ॥

और स्वरूपपररूपके यौगपद्यसे कहे जा रहे स्वरूपसे सत्, पररूपसे असत्, स्वपररूपसे युगपत् कहा जानेके लिये अशक्य, स्वपररूपोके द्वारा क्रमसे सत् व असत्, स्वरूप और स्वपररूपयौगपद्य द्वारा सत् अवक्तव्य, पररूप व स्वपररूपयौगपद्यके द्वारा असत् अवक्तव्य, स्वरूप व पररूप व स्वपररूपयौगपद्यसे सत्-असत् अवक्तव्य—ऐसे अनन्त धर्मो वाले द्रव्यके एक एक धर्मका आश्रय लेकर विवक्षित-अविविक्षितके विधिनिषेधके द्वारा प्रगट होने वाली सप्तभंगी सतत सम्यक्तया उच्चारण किये जा रहे स्यात्कार रूपी अमोघ मंत्र पदके द्वारा एवकारमे रहने वाले समस्त विरोध-विषके मोहको दूर करती है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे एक द्रव्यके सदुत्पाद व असदुत्पादका विरोध बताया गया था । अब इस गाथामे सर्वविरोधको दूर करने वाली सप्तभगीका अवतार किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है अतः किसी भी धर्मी वस्तुमे किसी विवक्षासे जो धर्म कहना हो उसमे उसका प्रतिपक्षभूत धर्म भी अन्य दृष्टिसे साधा जाता है । (२) द्रव्यार्थिक दृष्टिसे व पर्यायार्थिक दृष्टिसे जब दो धर्म स्वतंत्र परखे गये तब एक साथ कहे न जा सकनेके कारण एक अवक्तव्य धर्म भी हो जाता है । (३) जहां ३ धर्म हो उनके द्विसंयोगी धर्म तीन हो जाते है । (४) जहां ३ धर्म हो उनका त्रिसंयोगी धर्म एक हो जाता है । (५) एक एक धर्म ३, द्विसंयोगी धर्म ३ व त्रिसंयोगी धर्म १, इस प्रकार सप्त भंगोका [illegible] हो जाता है । (६) जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य ही है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य ही है, [illegible] ही है, क्रमशः द्रव्य पर्यायदृष्टि नित्य और अनित्य ही है क्रमसे

अथ निर्धार्यमाणत्वेनोदाहरणीकृतस्य जीवस्य मनुष्यादिपर्यायाणां क्रियाफलत्वेनान्यत्वं द्योतयति—

एमो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता ।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥११६॥

या नहीं कि संसारी, जीवोंकी क्रिया प्राकृतिक न बने ।
क्रिया भवफलरहित नहिं, धन्य परम धम यों निष्फल ॥११६॥

एष इति नास्ति कश्चिन्न नास्ति क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता । क्रिया हि नास्त्यफला धर्मो यदि निष्फलः परमः ॥

इह हि संसारिणो जीवस्यानादिकर्मपुद्गलोपाधिसन्निधिप्रत्ययप्रवर्तमानप्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति । ततस्तस्य मनुष्यादिपर्यायेषु न कश्चनाप्येष एवेति

नामसंज्ञ—एत त्ति ण कोई किरिया सहावणिव्वत्ता अफला धम्म जदि णिप्फल परम । धातुसंज्ञ—अस सत्तायां कर करणे । प्रातिपदिक—एतत् इति न कश्चित् क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता क्रिया हि अफला

द्रव्य युगपदुभय दृष्टिसे नित्य अवक्तव्य ही है, क्रमशः पर्याय युगपदुभयदृष्टिसे अनित्य अवक्तव्य ही है, क्रमशः द्रव्य पर्याय व युगपदुभयदृष्टिसे नित्य अनित्य अवक्तव्य ही है । (७) सप्त भंगोंके प्रत्येक भंगोंमें अपेक्षा और निश्चय दोनों होनेसे उनका क्रममें कुछ भी विरोध नहीं है और न रंच संदेह है ।

सिद्धान्त—(१) वस्तुकी ज्ञप्ति सात भंगोंमें होती है ।

दृष्टि—१-७— अस्तित्वनय, नास्तित्वनय, अवक्तव्यनय, अस्तित्वनास्तित्वनय, अस्तित्वावक्तव्यनय, नास्तित्वावक्तव्यनय, अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्यनय (१५४–१६०) ।

प्रयोग—विविध नयोंसे अपना परिचय प्राप्त करके सब नयोंसे अतीत सहज अन्तस्तत्त्वके अनुभवका पौरुष होने देना ॥ ११५ ॥

अब निर्णय किये जानेके रूपसे उदाहरणरूप किये गये जीवके मनुष्यादि पर्यायोंका क्रियाफलपनेके रूपमें उनका अन्यत्व प्रकाशित करते हैं—[एष इति कश्चित् नास्ति] सदा यही है ऐसी संसारमें कोई पर्याय नहीं है, [स्वभाव निर्वृत्ता क्रिया नास्ति न] और विभाव पर्याय स्वभावसे निष्पन्न अर्थात् प्रकृतिनिष्पन्न क्रिया नहीं हो सो भी बात नहीं है, [क्रिया हि अफला नास्ति] विकारक्रिया नरनारकादि पर्यायरूप फल देनेसे रहित नहीं है, [यदि हि परमः धर्मः निष्फलः] जब कि निर्विकार परमात्माकी उपलब्धिरूप धर्म मनुष्यादिपर्यायरूप फल देने वाला नहीं है ।

तात्पर्य—विकार क्रियायें नाना सांसारिक पर्यायरूप फलोंको देती है और वे पर्यायें

टङ्कोत्कीर्णोऽस्ति, तेषां पूर्वपूर्वोपमर्दप्रवृत्तक्रियाफलत्वेनोत्तरोत्तरोपमर्द्यमानत्वात् । फलमभिल· प्येत वा मोहसंवलनाविलयनात् क्रियाया. । क्रिया हि तावच्चेतनस्य पूर्वोत्तरदशाविशिष्टचैत· न्यपरिणामात्मिका । सा पुनरणोरण्वन्तरसंगतस्य परिणतिरिवात्मनो मोहसंवलितस्य द्व्यणुक· कार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्य निष्पादकत्वात्सफलैव । सैव मोहसंवलनविलयने पुनरणोरुच्छिन्ना· ण्वन्तरसंगमस्य परिणतिरिव द्व्यणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्यानिष्पादकत्वात् परमद्रव्यस्वभाव· भूततया परमधर्माख्या भवत्यफलैव ॥ ११६ ॥

धर्म यदि परम । मूलधातु—अस भुवि, डुकृञ करणे । उभयपदविवरण—एसो एष –प्र० एक० । त्ति इति ण न हि जदि यदि–अव्यय । कोई कश्चित्–अव्यय अन्तः प्रथमा एक० । अत्थि अस्ति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । किरिया क्रिया सहावणिव्वत्ता स्वभावनिर्वृत्ता अफला–प्रथमा एकवचन । धम्मो धर्मः णिप्फलो निष्फल· परमो परम –प्रथमा एकवचन । निरुक्ति—करण क्रिया, भवन भाव·, धरण धर्म. । समास—स्वभावेन निर्वृत्ता स्वभावनिर्वृत्ता, न फल विद्यते यस्या. सा अफला, निर्गत फलं यस्मात् स निष्फल, परा मा विद्यते यत्र स. परम ॥ ११६ ॥

नानाविध अन्य अन्य है ।

टीकार्थ—इस विश्वमे अनादिकर्मपुद्गलकी उपाधिके सद्भावके कारणसे जिसके प्रति· क्षण विपरिणमन होता रहता है ऐसे संसारी जीवकी क्रिया वास्तवमे प्रकृति निष्पन्न ही है; इसलिये उसके मनुष्यादि पर्यायोमे से कोई भी पर्याय 'यही' है ऐसी टंकोत्कीर्ण नही है; क्योंकि वे पर्यायें पूर्व पूर्व पर्यायोके नाशमे प्रवृत्त क्रियाफलरूप होनेसे उत्तर-उत्तर पर्यायोके द्वारा नष्ट होती हैं अथवा मोहके साथ मिलनका नाश न होनेसे क्रियाका फल तो मानना ही चाहिये । वास्तवमे क्रिया चेतनकी पूर्वोत्तर दशासे विशिष्ट चैतन्यपरिणामस्वरूप है । और, वह क्रिया [illegible] अणुके साथ युक्त अणुकी परिणति द्व्यणुक कार्यकी निष्पादक होनेकी तरह [illegible] मिलित आत्माकी परिणतिमे, मनुष्यादि कार्यकी निष्पादक होनेसे सफल ही है, और [illegible] अणुके साथका सम्बन्ध जिसका नष्ट हो गया है, ऐसे अणुकी परिणति द्व्य· [illegible] नही है, उसी प्रकार मोहके साथ मिलनका नाश होनेपर द्रव्यकी पर· [illegible] 'परमधर्म' नामसे कही जाने वाली वही क्रिया मनुष्यादि कार्यकी निष्पा· [illegible] ही है ।

[illegible]—तदनन्तरपूर्व गाथामे सर्वविरोधपरिहारिणी सप्तभगीका अवतार किया [illegible] यह बताया गया है कि जीवकी मनुष्यादि पर्यायें कर्माधीन होनेसे [illegible] द्रव्यार्थिकनयसे जीवस्वरूप नही है और क्रिया फलपनेके कारण उनका [illegible]

अथ मनुष्यादिपर्यायाणां जीवस्य क्रियाफलत्वं व्यनक्ति—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण ।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥११७॥

नामकर्मकी प्रकृती, शुद्धात्मस्वभावको दबा करके ।
मनुज तिर्यञ्च नारक, व देव पर्यायमय करता ॥११७॥

कर्म नामसमाख्यं स्वभावमथात्मनः स्वभावेन । अभिभूय नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं करोति ॥ ११७ ॥

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म, तत्कार्यभूता मनुष्यादिपर्याया जीवस्य क्रियाया मूलकारणभूताया प्रवृत्तत्वात् क्रियाफलमेव स्युः । क्रियाऽभावे पुद्गलानां कर्मत्वाभावात्तत्कार्यभूतानां तेषामभावात् । अथ कथं ते कर्मणः कार्य-

नामसंज्ञ—कम्म णामसमक्ख सहाव अध अप्प सहाव णर तिरिय णेरइय वा सुर । धातुसंज्ञ—अभि भव सत्तायां, कुण करणे । प्रातिपदिक—कर्मन् नामसमाख्य स्वभाव अथ आत्मन् स्वभाव नर तिर-

तथ्यप्रकाश—(१) संसारी जीवकी पर्याय क्रिया कर्मोपाधिसन्निधिका निमित्त पाकर होनेसे प्रकृतिरचित ही हैं । (२) संसारी जीवके मनुष्यादि पर्यायोंमें कुछ भी पर्याय परिणमन स्थिर नहीं है, विनश्वर ही है । (३) संसारी जीवोंके उत्तर उत्तर पर्यायोंमें पूर्व पूर्व पर्याय नष्ट होते जाते हैं, क्योंकि पूर्व पूर्व पर्यायोंका क्रियाफल ही इस प्रकार है । (४) संसारी जीवोंकी पर्यायोंकी क्रियाका फल संसारभ्रमण है, क्योंकि वहाँ मोहका मिलन नष्ट नहीं हुआ । (५) संसारी जीवोंकी क्रियायें सफल हैं याने संसारभ्रमणरूप फल देने वाली हैं । (६) निर्मोह रत्नत्रयपरिणत अन्तरात्माका परम धर्म निष्फल है याने संसरणफल देने वाला नहीं है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धनयसे जीव द्रव्य रागादिविभावरूप नहीं परिणमता है । (२) अशुद्धनिश्चयनयसे जीव मिथ्यात्व रागादिरूप परिणमता है ।

दृष्टि—१-शुद्धनय, प्रतिपक्ष शुद्धनय (४६, ४९ ब) । २-अशुद्धनिश्चयनय (४७) ।

प्रयोग—दुःखप्रसूत, नैमित्तिक, अस्वभावभूत मनुष्यादिपर्यायोंका अनात्मा जानकर केवल चैतन्यस्वरूपमात्र अन्तस्तत्त्वमें आत्मत्व अनुभवनेका पौरुष होने देना ॥ ११६ ॥

अब मनुष्यादि पर्यायें जीवकी क्रियाके फल हैं यह व्यक्त करते हैं—[अथ] वहाँ [नामसमाख्यं कर्म] 'नाम' संज्ञा वाला कर्म [स्वभावेन] अपने कर्मस्वभावसे [आत्मनः स्वभावं अभिभूय] आत्माके स्वभावको दबाकर [नरं तिर्यञ्चं नैरयिकं वा सुरं] मनुष्य, तिर्यंच, नारक अथवा देवरूप [करोति] कर देता है ।

स्वभावमुपलभते तत् स्वकर्मपरिणमनात् पयःपूरवत् । यथा खलु पयःपूरः प्रदेशस्वादाभ्या पिचुमन्दचन्दनादिवनराजी परिणमन्न द्रव्यत्वस्वादुत्वस्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरुपरागविशुद्धिमत्त्वस्वभावमुपलभते ॥ ११८ ॥

निर्वृत्त न हि तत् लब्धस्वभाव परिणममान स्वकर्मन् । **मूलधातु**—जीव प्राणधारणे, डुलभष् प्राप्तौ। उभयपदविवरण—णरणारयतिरियसुरा नरनारकतिर्यक्सुरा. जीवा जीवा. णामकम्मणिव्वत्ता नामकर्मनिर्वृत्ता न लद्धसहावा लब्धस्वभावा. परिणममाणा परिणममाना –प्रथमा बहुवचन । सकम्माणि स्वकर्माणि–द्वितीया बहुवचन । **निरुक्ति**—जीवन्तीति जीव । **समास**—नरश्च नारकश्च तिर्यक् च सुरश्च नरनारकतिर्यक्सुराः, नामकर्मणानिर्वृत्ता इति नामकर्मनिर्वृत्ताः, लब्ध स्वभाव यैस्ते लब्धस्वभावा ॥११८॥

स्वभावका अभिभव नही है । जो वहाँ जीव स्वभावको उपलब्ध नही करता, अनुभव नही करता सो स्वकर्मरूप परिणमन होनेसे है, पानीके पूरकी तरह । जैसे—पानीका पूर प्रदेशसे और स्वादसे निम्ब-चन्दनादि वन पंक्तिरूप परिणमता हुआ अपने द्रवत्व और स्वादुत्वरूप स्वभावको उपलब्ध नही करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेशसे और भावसे स्वकर्मरूप परिणमन होनेसे अपने अमूर्तत्व और निरूपराग-विशुद्धिमत्वरूप स्वभावको उपलब्ध नही करता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे मनुष्यादि पर्यायोको जीवकी विभावक्रियाका फल बताया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि मनुष्यादि पर्यायोमे जीवके स्वभावका अभिभव किस कारण होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) ये मनुष्यादि पर्याय नामकर्मके द्वारा रचे गये है । (२) मनुष्यदेहमे आत्मा ठहर रहा है इतने मात्रसे जीवके स्वभावका अभिभव नही होता जैसे कि अगूठीमे हीरा जड़ा है इतने मात्रसे हीराकी ज्योतिका अभिभव नही है । (३) जीव वहाँ अपनी विभावक्रियामे परिणम रहा है इस कारण जीवके स्वभावका अभिभव है जैसे कि जलका पूर नीम व चन्दनके पेड़के संगमे पेड़रूप परिणम कर अपने द्रवत्व व स्वादको खो बैठता है। (४) जीव पौद्गलकर्मविपाक प्रतिफलनके प्रसंगमे विभावक्रियारूप परिणमनेसे अविकार स्वरूप चैतन्यमात्र स्वभावको तिरस्कृत कर देता है । (५) स्वपरभावभेदविज्ञानी जीव पौद्गलकर्मविपाकप्रतिफलनके समय ज्ञानदृष्टिके बल द्वारा बुद्धिपूर्वक विभावक्रियारूप न परिणमनेसे अवि

अथ जीवस्य द्रव्यत्वेनावस्थितत्वेऽपि पर्यायैरनवस्थितत्वं द्योतयति—

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई ।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति ते णाणा ॥११९॥

उपजे नहीं न विनशे, तथापि क्षण हि क्षण सर्ग लय होते ।
जो भव वह लय अथवा संभव लय अन्य अन्य हुए ॥११९॥

जायते नैव न नश्यति क्षणभङ्गसमुद्भवे जनः कश्चित् । यो हि भवः स विलयः संभवविलयाविति तौ नाना ॥

इह तावन्न कश्चिज्जायते न म्रियते च । अथ च मनुष्यदेवतिर्यङ्नारकात्मको जीवलोकः प्रतिक्षणपरिणामित्वादुत्संगितक्षणभङ्गोत्पादः न च विप्रतिषिद्धमेतत्, संभवविलययोरेकत्वनानात्वाभ्याम् । यदा खलु भङ्गोत्पादयोरेकत्वं तदा पूर्वपक्षः, यदा तु नानात्वं तदोत्तरः ।

नामसंज्ञ—ण एव क्षणभंगसमुब्भव जण कोई ज हि भव त विलअ संभवविलय त्ति त णाणा । धातुसंज्ञ—जा प्रादुर्भावे नस्स नाशे । प्रातिपदिक—न एव क्षणभङ्गसमुद्भव जन कश्चित् यत् हि भव त

प्रयोग—स्वभावघातसे बचनेके लिये स्वभाव विभावका भेदविज्ञान कर स्वभावका दर्शन होनेका अन्त पौरुष होने देना ॥ ११८ ॥

अब जीवकी द्रव्यरूपसे स्थिरता होनेपर भी पर्यायोंसे अस्थिरताको प्रकाशते हैं—[क्षणभङ्गसमुद्भवे जने] प्रतिक्षण विनाश और उत्पाद वाले जीवलोकमें [कश्चित्] कोई [न एव जायते] न तो उत्पन्न होता, और [न नश्यति] न नष्ट होता है, [हि] क्योंकि [यः भवः सः विलयः] जो जीव उत्पादरूप है वही विनाशरूप है [संभवविलयौ इति तौ नाना] फिर भी उत्पाद उत्पाद है, विनाश विनाश ही है । इस प्रकार वे उत्पाद और व्यय नाना हैं अर्थात् भिन्न भिन्न हैं ।

तात्पर्य—द्रव्यदृष्टिसे जीव वही एक अवस्थित है, पर्यायदृष्टिसे अनवस्थित है ।

टीकार्थ—वास्तवमें यहाँ न कोई जन्म लेता है और न मरता है, और ऐसा अवस्थित होनेपर भी मनुष्य देव तिर्यंच नारकात्मक जीवलोक प्रतिक्षण परिणामी होनेसे क्षण क्षण होने वाले विनाश और उत्पादके साथ जुड़ा हुआ है । और यह विरोधको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उत्पाद और विलयका एकत्व और अनेकत्व है जब उत्पाद और विलयका एकत्व है तब पूर्वपक्ष है, और जब अनेकत्व है तब उत्तरपक्ष है । इसीका स्पष्टीकरण— जैसे — जो घड़ा है वही कुण्ड है' ऐसा कहा जानेपर, घड़े और कुण्डके स्वरूपका एकत्व असम्भव होनेसे उन दोनोंकी आधारभूत मिट्टी प्रगट होती है, उसी प्रकार 'जो उत्पाद है वही विनाश है' ऐसा कहा जानेपर उत्पाद और विनाशके स्वरूपका एकत्व असम्भव होनेसे उन दोनोंका आधारभूत

स्वभावमुपलभते तत् स्वकर्मपरिणमनात् पय:पूरवत् । यथा खलु पय:पूर: प्रदेशस्वादाभ्या पिचु-मन्दचन्दनादिवनराजी परिणमन्न द्रव्यत्वस्वादुत्वस्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरुपरागविशुद्धिमत्त्वस्वभावमुपलभते ॥ ११८ ॥

निर्वृत्त न हि तत् लब्धस्वभाव परिणममान स्वकर्मन् । मूलधातु—जीव प्राणधारणे, डुलभष् प्राप्तौ। उभयपदविवरण—णरणारयतिरियसुरा नरनारकतिर्यक्सुरा जीवा जीवा: णामकम्मणिव्वत्ता नामकर्म-निर्वृत्ता ते लद्धसहावा लब्धस्वभावा परिणममाणा परिणममाना—प्रथमा बहुवचन । सकम्माणि स्व-कर्माणि—द्वितीया बहुवचन । निरुक्ति—जीवन्तीति जीव. । समास—नरश्च नारकश्च तिर्यक् च सुरश्च नर-नारकतिर्यक्सुरा:, नामकर्मणानिर्वृत्ता इति नामकर्मनिर्वृत्ता., लब्ध स्वभाव. यैस्ते लब्धस्वभावा ॥११८॥

स्वभावका अभिभव नही है । जो वहाँ जीव स्वभावको उपलब्ध नही करता, अनुभव नहीं करता सो स्वकर्मरूप परिणमन होनेसे है, पानीके पूरकी तरह । जैसे—पानीका पूर प्रदेशसे और स्वादसे निम्ब-चन्दनादि वन पंक्तिरूप परिणमता हुआ अपने द्रवत्व और स्वादुत्वरूप स्वभावको उपलब्ध नही करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेशसे और भावसे स्वकर्मरूप परि-णमन होनेसे अपने अमूर्तत्व और निरूपराग-विशुद्धिमत्वरूप स्वभावको उपलब्ध नही करता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे मनुष्यादि पर्यायोको जीवकी विभावक्रियाका फल बताया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि मनुष्यादि पर्यायोमे जीवके स्वभावका अभिभव किस कारण होता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) ये मनुष्यादि पर्याय नामकर्मके द्वारा रचे गये है । (२) मनुष्यादि-मे आत्मा ठहर रहा है इतने मात्रसे जीवके स्वभावका अभिभव नही होता जैसे कि अगूठी-[illegible] जड़ा है इतने मात्रसे हीराकी ज्योतिका अभिभव नही है । (३) जीव वहाँ अपनी विभाव-[illegible] परिणम रहा है इस कारण जीवके स्वभावका अभिभव है जैसे कि जलका पूर नीम व चन्दनके पेड़के सगमे पेड़रूप परिणम कर अपने द्रवत्व व स्वादको खो बैठता है । (४) [illegible] पौद्गलकर्मविपाक प्रतिफलनके प्रसंगमे विभावक्रियारूप परिणमनेसे अविकार स्व-[illegible] स्वभावको तिरस्कृत कर देता है । (५) स्वपरभावभेदविज्ञानी जीव पौद्गलकर्मके [illegible] समय ज्ञानदृष्टिके बल द्वारा बुद्धिपूर्वक विभावक्रियारूप न परिणमनेसे [illegible] [illegible] स्वभावका दर्शक होता है जिसकी दृढ़ताके बलसे स्वभावका आविर्भाव [illegible] ।

अथ जीवस्यानवस्थितत्वहेतुमुद्योतयति—

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति ससारे ।
ससारो पुण किरिया ससारमाणस्स दव्वस्स ॥१२०॥

इस कारणसे कोई, ससारमे न स्वभावसमवस्थित ।
ससरण क्रिया होती, ससरमाण हि द्रव्यको है ॥१२०॥

तस्मात् नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति ससार । ससार पुन क्रिया ससरतो द्रव्यस्य ॥ १२० ॥

यत खलु जीवो द्रव्यत्वेनावस्थितोऽपि पर्यायैरनवस्थित, तत प्रतीयते न कश्चिदपि

नामसज्ञ—त दु ण कोई सहावसमवट्ठिद त्ति ससार पुण किरिया ससरमाण दव्व । धातुसज्ञ—अस सत्तायां, अव ट्ठा गतिनिवृत्तौ । प्रातिपदिक—तत् तु न कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति ससार पुनर् क्रिया

एक शाश्वत रहता है, अत जीव द्रव्यपनेसे अवस्थित है । (२) जहाँ मनुष्यपर्याय विलीन हुआ और पर्याय उत्पन्न हुआ तो वहाँ जो उत्पाद है वही विलय है सो दोनोका आधारभूत ध्रौव्यवान जीवद्रव्य अवस्थित रहा । (३) पर्यायदृष्टिसे देखे जानेपर जहाँ देवपर्याय उत्पन्न हुआ मनुष्यपर्याय विलीन हुआ तो उत्पाद अन्य है विलय अन्य है सो देवजीव अन्य रहा, मनुष्यजीव अन्य रहा यो जीव पर्यायोसे अनवस्थित रहा । (४) जैसे जीवद्रव्य पर्यायोसे प्रति क्षण अनवस्थित है ऐसे ही सभी द्रव्य पर्यायोसे अनवस्थित हैं । (५) जब जीव पुद्गल स्व भावपर्यायमे होते हैं व धर्मादिक शेष द्रव्य सदैव स्वभावपर्यायमे होते है तो वहाँ समपरिणमन होनेसे पर्यायोसे द्रव्यकी अनवस्थितत्व भान नही होती है । (६) द्रव्यार्थिकनयसे जीव नित्य है, पर्यायार्थिकनयसे जीव अनित्य है । (७) जहाँ मोक्षपर्यायका उत्पाद है और ससारपर्याय का विनाश है वहाँ उत्पाद विनाश ही भिन्न है, किन्तु उन दोनोका आधारभूत सहज परमा त्मद्रव्य वहीका वही एक है ।

सिद्धान्त—(१) जीव पर्यायोके रूपसे अनवस्थित है ।

दृष्टि—१- सत्तागौणोत्पादव्ययग्राहक नित्य अशुद्ध पर्यायार्थिकनय (३७) ।

प्रयोग—पर्यायोसे अन्य अन्य होकर भी पर्यायोके आधारभूत एक आत्मद्रव्यकी दृष्टि द्वारा पर्यायोको सहज स्वभावानुरूप होने देनेका ज्ञानानुभूतिरूप पौरुष होने देना ॥ ११६ ॥

अब जीवके अनवस्थितपनाका हेतु प्रगट करते हैं—[तस्मात् तु] इसी कारण [ससारे] ससारमे [स्वभावसमवस्थित इति] स्वभावसे अवस्थित ऐसा [कश्चित् नास्ति] कोई नही है, [पुन] और [ससरत] ससरण अर्थात् गतियोमे भ्रमण करते हुए [द्रव्यस्य] जीव द्रव्य की [क्रिया] क्रिया हो तो [ससार] ससार है ।

संसारे स्वभावेनावस्थित इति । यच्चात्रानवस्थितत्वं तत्र संसार एव हेतुः । तस्य मनुष्यादि-पर्यायात्मकत्वात् स्वरूपेणैव तथाविधत्वात् । अथ यस्तु परिणममानस्य द्रव्यस्य पूर्वोत्तरदशा-परित्यागोपादानात्मकः क्रियाख्यः परिणामस्तत्संसारस्य स्वरूपम् ॥ १२० ॥

[illegible]सरत् द्रव्य । मूलधातु—अस भुवि । उभयपदविवरण—तम्हा तस्मात्–पचमी एक० । दु तु ण न ति [illegible]ति पुण पुन –अव्यय । अत्थि अस्ति–वर्तमान अन्य पुरुप एकवचन क्रिया । कोई कश्चित्–अव्यय अन्त प्रथमा एकवचन । सहावसमवट्ठिदो स्वभावसमवस्थित –प्र० एक० । ससारे–सप्तमी एक० । ससारो [illegible]सार –प्र० एक० । किरिया क्रिया–प्र० एक० । ससरमाणस्स ससरत –षष्ठी एक० । दव्वस्स द्रव्यस्य–[illegible] एक० । निरुक्ति—ससरण ससार । समास–स्वभावे समवस्थित. इति स्वभावसमवस्थित ॥१२०॥

तात्पर्य—सांसारिक पर्यायोमे भ्रमण करने वाला जीव स्थिर एकरूप नही रह पाता।

टीकार्थ—वास्तवमे जीव द्रव्यत्वसे अवस्थित होता हुआ भी पर्यायोसे अनवस्थित है, [illegible]समे यह प्रतीत होता है कि संसारमे कोई भी स्वभावसे अवस्थित नही है और यहाँ जो अन-[illegible]स्थितपना है उसमे संसार ही हेतु है; क्योकि वह संसार मनुष्यादि पर्यायात्मक होनेके कारण स्वरूपसे ही वैसा है । और जो परिणमन करते हुये द्रव्यका पूर्वोत्तर दशाका त्याग ग्रहणात्मक क्रिया नामक परिणाम है सो वह संसारका स्वरूप है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि जीव द्रव्यरूपसे अवस्थित होनेपर भी पर्याय रूपसे अनवस्थित है । अब इस गाथामे जीवके अनवस्थितपनेका कारण बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) संसारमे कोई भी जीव स्वभावसे अवस्थित नही है । (२) जीवकी अनवस्थिततामे कारण संसारभाव ही है । (३) परिणमते हुए जीवद्रव्यका पूर्व विभावदशाका परित्याग व उत्तरविभावदशाका ग्रहणरूप क्रिया नामक जो परिणाम वही संसारका [illegible] है । (४) मनुष्यादिविभावपर्यायपरिणतिरूप क्रिया निष्क्रिय निर्विकल्प शुद्धात्मपरि[illegible] [illegible] है । (५) नरनारकादिपर्यायरूप संसार स्वभावविघातका कारण है ।

सिद्धान्त—(१) कर्मविपाकज संसारभावोसे जीवस्वभाव विघातक भाव होते हैं।

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष नित्याशुद्ध पर्यायार्थिकनय (६१) ।

प्रयोग—अनवस्थित विभावोसे उपयोग हटाकर सदा अवस्थित चैतन्यस्वरूप [illegible] [illegible] रहना ॥१२०॥

अथ परिणामात्मके संसारे कुत पुद्गलश्लेषो येन तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वमित्यत्र समाधानमुपवर्णयति—

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तो सिलसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो ॥१२१॥

कर्ममलीमस आत्मा, कर्मनिबद्ध परिणाम पाता है ।
उससे कर्म सिलिसते, इससे परिणाम कर्म हुआ ॥१२१॥

आत्मा कर्ममलीमस परिणाम लभते कर्मसंयुक्तम् । तत श्लिष्यति कर्म तस्मात् कर्म, तु परिणाम ॥१२१॥

यो हि नाम संसारनामायमात्मनस्तथाविध परिणाम स एव द्रव्यकर्मश्लेषहेतु । अथ तथाविधपरिणामस्यापि को हेतु, द्रव्यकर्म हेतु तस्य, द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वेनैवोपलम्भात् । एव

नामसंज्ञ—अत्त कम्ममलीमस परिणाम कम्मसंजुत्त तत्तो कम्म त कम्म तु परिणाम । धातुसंज्ञ—लभ प्राप्तौ, सिलीस आलिंगन । प्रातिपदिक—आत्मन् कर्ममलीमस परिणाम कर्मसंयुक्त तत कर्मन् तत् कर्मन् तु परिणाम । मूलधातु— डुलभष् प्राप्तौ, श्लिष आलिङ्गने दिवादि । उभयपदविवरण—आत्मा आत्मा

[लभते] प्राप्त करता है, [तत] उस कर्मसंयुक्त परिणामके निमित्तसे [कर्म श्लिष्यति] कर्म चिपक जाता है । [तस्मात्] इस कारण [परिणाम तु कर्म] अशुद्ध परिणाम ही कर्म है अर्थात् द्रव्यकर्मके बन्धका निमित्त होनेसे मूलरूप तो अशुद्ध परिणाम ही कर्म है ।

तात्पर्य—भवधारणके कारणभूत द्रव्यकर्मके बन्धका कारण जीवका अशुद्ध परिणाम

टीकार्थ—जो यह 'संसार' नामक आत्माका उस प्रकारका परिणाम है वही द्रव्यकर्म चिपकनेका हेतु है । अब उस प्रकारके परिणामका भी हेतु कौन है ? द्रव्यकर्म उसका हेतु है क्योंकि द्रव्यकर्मकी संयुक्ततासे ही उस प्रकारका परिणाम देखा जाता है । प्रश्न—ऐसा होनेसे इतरेतराश्रय दोष आ जायगा । उत्तर—नहीं आयगा क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्मके साथ संबद्ध आत्माका जो पूर्वका द्रव्यकर्म है उसको वहाँ हेतुरूपसे स्वीकार किया गया है । इस प्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कार्यभूत है और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा आत्माका तथाविधपरिणाम उपचारसे द्रव्यकर्म ही है, और आत्मा भी अपने परिणामका कर्ता होनेसे द्रव्यकर्मका कर्ता भी उपचारसे है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें जीवकी अनवस्थितताका कारण बताया गया था । अब इस गाथामें यह बताया गया है कि परिणामात्मक संसारमें कर्ममलिन यह जीव विकारपरिणाम करता है इससे पुद्गलसम्बन्ध होता है और इससे मनुष्यादिक पर्याय होते हैं ।

नवीनरेतराश्रयदोपः न हि । अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसवद्धस्यात्मनःप्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात् । एव कार्यकारणभूतनवपुराणद्रव्यकर्मत्वादात्मनस्तथाविधपरिणामो द्रव्यकर्मैव। तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद्द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात् ॥१२१॥

कम्ममलिमसो कर्ममलीमस –प्रथमा एक० । परिणाम कम्मसजुत्त कर्मसयुक्त–द्वितीया एक० । तत्तो ततः–अव्यय पञ्चम्यर्थे । लहदि लभते सिलिसदि श्लिष्यति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । कम्म कर्म परिणामो परिणाम –प्रथमा एक० । तम्हा तस्मात्–पचमी एक० । निरुक्ति–अतति सतत गच्छति जानाति इति आत्मा । समास–कर्मणा मलीमस. कर्ममलीमस , कर्मणा सयुक्त कर्मसयुक्त त कर्मसयुक्तम् ॥१२१॥

तथ्यप्रकाश—(१) जीवका विकार परिणाम द्रव्यकर्मबन्धका निमित्त है। (२) द्रव्यकर्मका विपाक जीवके विकारपरिणामका निमित्त है । (३) अनादिपरम्परासे जीवविकार व कर्मदशामें निमित्तनैमित्तिक प्रसंग चला आ रहा है । (४) जीवविकारका कार्य (नैमित्तिक) कर्मदशा है, जीवविकारका कारण (निमित्त) कर्मदशा है, इस कारण जीवविकार उपचारसे द्रव्यकर्म ही है । (५) जीवविकारके निमित्तसे द्रव्यकर्मका आस्रव बन्ध होता है अतः जीवविकार उपचारसे द्रव्यकर्मका कर्ता है । (६) द्रव्यकर्मविपाकके निमित्तसे जीवविकार होता है, अतः द्रव्यकर्म उपचारसे जीवविकारका कर्ता है । (७) द्रव्यकर्मविपाकके होनेपर ही जीवविकार होता है, अतः जीवविकार उपचारसे द्रव्यकर्मका कार्य है । (८) जीवविकारके होनेपर ही द्रव्यकर्मका आस्रवबन्ध होता है, अतः द्रव्यकर्म उपचारसे जीवका कार्य है ।

सिद्धान्त—(१) जीवविकार व द्रव्यकर्मदशामे परस्पर निमित्तनैमित्तिक योग है। (२) जीव विभावरूप संसारका कर्ता है । (३) जीव द्रव्यकर्मका कर्ता है । (४) जीवविकार द्रव्यकर्मका कार्य है । (५) द्रव्यकर्म जीवविकारका कर्ता है । (६) द्रव्यकर्म जीवका कार्य है।

दृष्टि—१– निमित्तदृष्टि (५३अ) । २– अशुद्धनिश्चयनय (४७) । ३– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार (१२६) । ४– परकर्मत्व असद्भूत व्यवहार (१३०) । ५– परकर्तृत्व अनुपचरित असद्भूत व्यवहार (१२६) । ६–परकर्मत्व असद्भूत व्यवहार (१३०)।

अथ परमार्थादात्मनो द्रव्यकर्माकर्तृत्वमुद्योतयति —

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया ।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता ॥१२२॥

परिणाम स्वय आत्मा, परिणाम जीवमयी क्रिया ही है ।
क्रिया कर्म सो आत्मा, नहीं द्रव्यकर्मका कर्ता ॥ १२ ॥

परिणाम स्वयमात्मा सा पुन क्रियेति भवति जीवमयी । क्रिया कर्मेति मता तस्मात्कर्मणो न तु कर्ता ॥

आत्मपरिणामो हि तावत्स्वयमात्मैव परिणामिन परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात् । यश्च तस्य तथाविध परिणामः सा जीवमय्येव क्रिया सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात् । या च क्रिया सा पुनरात्मना स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म । ततस्तस्य परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता न तु पुद्गलपरिणामात्म-

नामसंज्ञ—परिणाम सय अत्त ता पुण किरिया त्ति जीवमया किरिया कम्म त्ति मदा त कम्म ण दु कत्तार । धातुसंज्ञ—हो सत्तायां मन्न अवबोधने । प्रातिपदिक—परिणाम स्वय आत्मन् तत् पुनर् क्रिया

तात्पर्य—जीवके द्वारा जो किया जाय वह कर्म है, जीवके द्वारा भाव ही किया जाता है, अत जीवका कर्म द्रव्यकर्म नही अर्थात् द्रव्यकर्मका कर्ता जीव नही ।

टीकार्थ—निश्चयत आत्माका परिणाम वास्तवमे स्वय आत्मा ही है क्योकि परिणामी परिणामके स्वरूपका कर्ता होनेसे परिणामसे अनन्य है, और जो उस आत्माका तथाविध परिणाम है वह जीवमयी ही क्रिया है, क्योकि सब द्रव्योकी परिणामलक्षणक्रियाके आत्ममयपना स्वीकार किया गया है । और फिर, जो जीवमयी क्रिया है वह आत्माके द्वारा स्वतन्त्रतया प्राप्य होनेसे कर्म है । इस कारण परमार्थत आत्मा अपने परिणामस्वरूप भावकर्मका ही कर्ता है, किन्तु पुद्गलपरिणामस्वरूप द्रव्यकर्मका नही । प्रश्न—तब फिर द्रव्यकर्मका कर्ता कौन है ? उत्तर—निश्चयत पुद्गलका परिणाम वास्तवमे स्वय पुद्गल ही है क्योकि परिणामी परिणामके स्वरूपका कर्ता होनेसे परिणामसे अनन्य है, और जो उस पुद्गलका तथाविध परिणाम है वह पुद्गलमयी ही क्रिया है क्योकि सब द्रव्योकी परिणामस्वरूप क्रियाके निजमयपना स्वीकार किया गया है, और फिर, जो पुद्गलमयी क्रिया है वह पुद्गलके द्वारा स्वतन्त्रतया प्राप्य होनेसे कर्म है । इस कारण परमार्थत पुद्गल अपने परिणामस्वरूप उस द्रव्यकर्मका ही कर्ता है किन्तु आत्माके परिणामस्वरूप भावकर्मका नही । इससे यह जानना चाहिये कि आत्मा आत्मस्वरूपसे परिणमता है, पुद्गलस्वरूपसे नही परिणमता है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि विकारभावके कारण द्रव्य

अथैवमात्मनो ज्ञेयतामापन्नस्य शुद्धत्वनिश्चयात् ज्ञानतत्त्वसिद्धौ शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भो भवतीति तमभिनन्दन् द्रव्यसामान्यवर्णनामुपसहरति—

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥१२६॥

कर्ता करण कर्म फल, चारों ही जीवको सुनिश्चित कर।
परमे न परिणमे जो, वह पाता शुद्ध आत्माको ॥१२६॥

कर्ता करणं कर्म कर्मफल चात्मेति निश्चितवान् श्रमण। परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मान लभते शुद्धम् ॥

यो हि नामैवं कर्तारं करणं कर्म कर्मफल चात्मानमेव निश्चित्य न खलु परद्रव्य परिणमति स एव विश्रान्तपरद्रव्यसपर्कं द्रव्यान्तःप्रलीनपर्यायं च शुद्धमात्मानमुपलभते, न पुनरन्यः।

नामसंज्ञ—कत्तार करण कम्म फल च अप्प त्ति णिच्छिद समण ण एव अण्ण जदि अप्प सुद्ध। धातुसंज्ञ—परि नम नम्रीभावे, लभ प्राप्तौ। प्रातिपदिक—कर्तृ करण कर्मन् फल च आत्मन् इति निश्चित

दृष्टि—१- उपादानदृष्टि (४९ ब)।

प्रयोग—परको न मैं करता हूं, परको न मैं भोगता हूं, जो कुछ मेरा होता है वह मुझसे ही मुझमें होता है यह जानकर निर्विकल्प होकर जो अपनेमें सहज हो उसे होने देना ॥ १२५ ॥

अब इस प्रकार ज्ञेयत्वको प्राप्त आत्माकी शुद्धताके निश्चयसे ज्ञानतत्त्वकी सिद्धि होने पर शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार उसका अभिनन्दन करते हुये द्रव्यसामान्यके वर्णनका उपसंहार करते हैं—[यदि] यदि [कर्ता, करणं, कर्म, कर्मफलं च आत्मा] 'कर्ता, करण, कर्म और कर्मफल आत्मा है' [इति निश्चितः] ऐसा निश्चय कर चुका [श्रमणः] श्रमण [अन्यत्] अन्यरूप [न एव परिणमति] नही परिणमता है तो वह [शुद्धं आत्मानं] शुद्ध आत्माको [लभते] प्राप्त करता है।

तात्पर्य—आत्मा ही सर्वस्व है, अन्य कुछ नही, ऐसा मानने वाला शुद्ध आत्माको

तथाहि—यदा नामानादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसंनिधिप्रधावितोपरागरंजितात्मवृत्ति जपापुष्पसंनिधिप्रधावितोपरागरंजितात्मवृत्ति स्फटिकमणिरिव परारोपितविकारोऽहमासं संसारी तदापि न नाम मम कोऽप्यासीत्, तदाप्यहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तासम्, अहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन साधकतमः करणमासम् अहमेक एवोपरक्तचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मासम्, अहमेक एव चोपरक्तचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यं सौख्यविपर्यस्तलक्षणं दुःखाख्यं कर्मफलमासम् । इदानीं पुनरनादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसंनिधि

श्रमण न एव अन्यत् यदि आत्मन् शुद्ध । मूलधातु—परि नम नम्रीभावे डुलभष प्राप्तौ । उभयपदविवरण—कत्ता कर्ता कम्म कर्म फल करण अप्पा आत्मा–प्रथमा एकवचन । णिच्छिदो निश्चितवान्–प्रथमा

मैं जपा कुसुमकी निकटतासे उत्पन्न हुई लालिमासे रंजित स्फटिक मणिकी भांति–परके द्वारा आरोपित विकार वाला होनेसे संसारी था तब भी (अज्ञानदशामें भी) वास्तवमें मेरा कोई भी नहीं था । तब भी मैं अकेला ही कर्ता था, क्योंकि मैं अकेला ही विकृत चैतन्यस्वरूप स्वभाव से स्वतन्त्र कर्ता था, मैं अकेला ही करण था, मैं अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभावके द्वारा साधकतम कारण था, मैं अकेला ही उपरक्त चित्परिणमन स्वभावके कारण अपने द्वारा प्राप्य कर्म था, और मैं अकेला ही उपरक्त चित्परिणमन स्वभावका निष्पाद्य उत्पन्न सौख्यसे विपरीत लक्षण वाला दुःख नामक कर्मफल था । और अब अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्मकी बंधनरूप उपाधिकी संनिधिके नाशसे जिसकी सुविशुद्ध सहज स्वपरिणति प्रगट हुई है ऐसा मैं जपा कुसुमकी निकटताके नाशसे जिसकी सुविशुद्ध सहज स्वपरिणति प्रगट हुई हो ऐसे स्फटिकमणि की भाँति जिसका परके द्वारा आरोपित विकार बंद हो गया है, ऐसा केवल मोक्षार्थी हूं । इस मुमुक्षु दशामें भी वास्तवमें मेरा कोई भी नहीं है । अभी भी मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्यरूप स्वभावसे स्वतन्त्र कर्ता हूं मैं अकेला ही सुविशुद्ध चित्स्वभावसे साधकतम करण हूं, मैं अकेला ही सुविशुद्ध चित्परिणमन स्वभावसे आत्माके द्वारा प्राप्य कर्म हूं, और मैं अकेला ही सुविशुद्ध चित्परिणमन स्वभावका निष्पाद्य अनाकुलता लक्षण वाला सौख्य नामक कर्मफल हूं । इस प्रकार बंधमार्गमें तथा मोक्षमार्गमें अकेले आत्माको ही भाने वाले एकत्वपरिणमनके उन्मुख परमाणुकी तरह किसी समय परद्रव्यरूप परिणति नहीं होती । और एकत्वभावसे परिणत परमाणुकी तरह एकत्वको भाने वाला आत्मा परके साथ संबद्ध नहीं होता, तदनन्तर परद्रव्य के साथ असंबद्धताके कारण वह सुविशुद्ध होता है । और कर्ता, करण, कर्म तथा कर्मफलको आत्मरूपसे भाता हुआ वह आत्मा पर्यायोंसे संकीर्ण नहीं होता, और इस कारण पर्यायोंके द्वारा संकीर्ण न होनेसे सुविशुद्ध होता है ।

ध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिर्जपापुष्पसंनिधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव विश्रान्तपरारोपितविकारोऽहमेकान्तेनास्मि मुमुक्षुः, इदानीमपि न नाम मम कोऽप्यस्ति, इदानीमप्यहमेक एव सुविशुद्धचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्स्वभावेन साधकतमः करणमस्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणामनस्वभावस्य निष्पाद्यमनाकुलत्वलक्षणं सौख्याख्य कर्मफलमस्मि । एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मानमेकमेव भावयतः

पुरा० कृदन्त क्रिया । समणो श्रमण –प्र० एक० । परिणमदि परिणमति लहदि लभते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । अण्ण अन्यत्–द्वि० एक० । अप्पाण आत्मान सुद्ध शुद्ध–द्वितीया एक० । निरुक्ति—करो-

---

अब इसी आशयको व्यक्त करनेके लिये काव्य कहते है—**द्रव्यान्तर** इत्यादि । **अर्थ**—अन्य द्रव्यसे भिन्नताके द्वारा हटा लिया है आत्माको जिसने तथा समस्त विशेषोके समूहको सामान्यमे लीन किया है जिसने ऐसा जो यह, उद्धत मोहकी लक्ष्मीको लूट लेने वाला शुद्धनय है, उसने उत्कट विवेकके द्वारा आत्मस्वरूपको विविक्त किया है ।

अब शुद्धनयके द्वारा शुद्ध आत्मस्वरूपको प्राप्त करने वाले आत्माकी महिमा बतानेके लिये काव्य कहते हैं **इत्युच्चेदात्** इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार परपरिणतिके उच्छेदसे तथा कर्ता कर्म इत्यादि भेदोकी भ्रांतिके नाशसे भी सुचिरकालसे जिसने शुद्ध आत्मतत्त्वको उपलब्ध किया है, ऐसा विराममान सहज महिमा वाला यह आत्मा, चैतन्यमात्ररूप निर्मल तेजमे लीन होता हुआ सर्वदा मुक्त ही रहेगा ।

अब द्रव्यविशेषके वर्णनकी सूचनाके लिये श्लोक कहते है, द्रव्य इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार द्रव्यसामान्यका विज्ञान मूलमे है जिसके ऐसा मनोभाव करके, अब द्रव्यविशेषके परिणामका विस्तार किया जाता है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे ज्ञान, कर्म व कर्मफलको आत्मरूपसे निश्चित किया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि सर्व स्थितियोमे व सर्व कारकोमे शुद्ध [illegible] आत्मतत्त्वकी ही उपलब्धि होती है ।

तथ्यप्रकाश—(१) वस्तुतः कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यको परिणमानेमे असमर्थ है । [illegible], जो कर्ता [illegible] कर्म व कर्मफल सब आत्मा ही है यह निश्चित कर लेता है वह [illegible] परिणमता ही नहीं करता । (३) जो अपने सब कारकोमे स्वयं है [illegible] है और [illegible] भी परद्रव्यरूप नहीं परिणमता वही परसंपर्करहित विलीन पर्या-

परमाणोरिवैकत्वभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते । परमाणुरिवभावितैकत्वश्च परेण नो सपृच्यते । ततः परद्रव्यासपृक्तत्वात्सुविशुद्धो भवति । कर्तृकरणकर्मकर्मफलानि चात्मत्वेन भावयन् पर्यायैर्न सकीर्यते, ततः पर्यायासकीर्णत्वाच्च सुविशुद्धो भवतीति ॥ द्रव्यान्तरव्यतिकरादपसारितात्मामामान्यमज्जितसमस्तविशेषजात । इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मीलुण्टाक उत्कटविवेकविविक्ततत्त्व ॥७॥ इत्युच्छेदात्परपरिणतेः कर्तृकर्मादिभेदभ्रान्तिध्वसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्व । सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽय स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ॥८॥ द्रव्यसामान्यविज्ञाननिम्न कृत्वेति मानसम् । तद्विशेषपरिज्ञानप्राग्भारः क्रियतेऽधुना ॥९॥ इति द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनम् ॥ १२६ ॥

क्रीति कर्ता, क्रियते अनेनेति करण क्रियते यत् कर्म ॥ १२६ ॥

शुद्ध आत्माको ही प्राप्त होता है । (४) ज्ञानीके चिन्तनमें केवल आत्मा ही सब कारकरूप है । (५) जब मैं कर्मविपाकसे आरोपित विकार वाला था तब भी मैं ही अकेला उपरक्त चित्स्वभावसे परिणमता हुआ स्वतन्त्र कर्ता था । (६) विकारपरिणमनके समय मैं ही अकेला उपरक्त चित्स्वभावसे साधकतम करण था । (७) विकारपरिणमनके समय मैं ही विकार-परिणमनरूप हुआ अकेला अपने द्वारा प्राप्य कर्म था । (८) विकारपरिणमनके समय मैं ही अकेला उपरक्तचित्परिणमन स्वभावका निष्पाद्य क्लेशरूप कर्मफल था। (९) अब मैं उपाधि-विध्वसन प्रकट सहजात्मवृत्ति वाला परारोपित विकारसे अनाश्रान्त मोक्षाभिलाषी हुआ हू सो इस समय भी मैं अकेला ही विशुद्ध चित्स्वभावसे स्वतन्त्र कर्ता हू । (१०) विकारप्रशमनके समय मैं ही अकेला विशुद्धचित्स्वभावसे साधकतम करण हू । (११) विकारप्रशमनके समय मैं ही अकेला विशुद्ध चित्स्वभावरूप परिणमने वाला आत्मा द्वारा प्राप्य कर्म हू । (१२) विकारप्रशमनके समय मैं ही अकेला विशुद्ध चित्स्वभावका निष्पाद्य अनाकुल स्वरूप सहज आनन्दरूप कर्मफल हू । (१३) बन्धपद्धति व मोक्षपद्धतिमें कारकभूत यह मैं एक ही आत्मा हू। (१४) बन्धपद्धति व मोक्षपद्धतिमें एक आत्माको ही निरखने वाले भव्यात्माके परद्रव्य परिणति नही होती है । (१५) एकत्वनिश्चयगत जीवके परद्रव्यसपर्क नही होता । (१६) आत्मा परद्रव्यसपर्करहित हो जानेसे शुद्ध हो जाता है । (१७) कर्ता, करण, कर्म व कर्मफल को आत्मरूपसे भाने वाला पर्यायोंसे सकीर्ण नही होता । (१८) पर्यायोंसे सकीर्ण न होने वाला जीव सुविशुद्ध होता है ।

सिद्धान्त—(१) सोपाधि स्थितिमें कर्ता करण कर्म कर्मफल परारोपित विकार वाला यह जीव है । (२) निरुपाधि स्थितिमें कर्ता करण कर्म कर्मफल यह निर्विकार जीव है ।

अथ द्रव्यविशेषप्रज्ञापनं तत्र द्रव्यस्य जीवाजीवत्वविशेषं निश्चिनोति—

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य अज्जीवं ॥१२७॥

द्रव्य सु जीव अजीव हि, जीव सदा चेतनोपयोगमयी :
पुद्गलद्रव्यादि अचे-तन द्रव्य अजीव कहलाते ॥१२७॥

द्रव्यं जीवोऽजीवो जीवः पुनश्चेतनोपयोगमयः। पुद्गलद्रव्यप्रमुखोऽचेतनो भवति चाजीवः ॥१२७॥

इह हि द्रव्यमेकत्वनिबन्धनभूतं द्रव्यत्वसामान्यमनुज्झदेव तदधिरूढविशेषलक्षणसद्भावादन्योन्यव्यवच्छेदेन जीवाजीवत्वविशेषमुपढौकते। तत्र जीवस्यात्मद्रव्यमेवैका व्यक्तिः। अजीवस्य पुनः पुद्गलद्रव्यं धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं कालद्रव्यमाकाशद्रव्यं चेति पञ्च व्यक्तयः। विशेषलक्षणं जीवस्य चेतनोपयोगमयत्वं, अजीवस्य पुनरचेतनत्वम्। तत्र यत्र स्वधर्मव्यापकत्वात्स्व-

---

नामसंज्ञ—दव्व जीव अजीव जीव पुण चेदणोवओगमअ पोग्गलदव्वप्पमुह अचेदण य अजीव। धातुसंज्ञ—हव सत्तायां। प्रातिपदिक—द्रव्य जीव अजीव जीव पुनर् चेतनोपयोगमय पुद्गलद्रव्यप्रमुख अचेतन च अजीव। मूलधातु—भू सत्तायां। उभयपदविवरण—दव्व द्रव्य जीव जीव अजीव अजीव

दृष्टि—१– अशुद्ध निश्चयनय (४७)। २– शुद्ध निश्चयनय (४६)।

प्रयोग—सर्वत्र अपना एकत्व निरखकर सहज एकत्वमे रमनेका पौरुष होने देना ॥१२६॥

अब द्रव्यविशेषका प्रज्ञापन होता है—उसमे पहिले द्रव्यके जीवाजीवस्वरूप विशेषको निश्चित करते है—[द्रव्यं] द्रव्य [जीवः अजीवः] जीव और अजीव है। [पुनः] उनमे [चेतनोपयोगमयः] चेतनास्वरूप ज्ञान दर्शन उपयोग वाला तो [जीवः] जीव है, [च] और [पुद्गलद्रव्यप्रमुखः अचेतनः] पुद्गलद्रव्यादिक चेतनारहित द्रव्य [अजीवः भवति] अजीव है।

तात्पर्य—द्रव्यके दो प्रकार है—जीव और अजीव, उनमे चेतन तो जीव है और अचेतन पुद्गल धर्म अधर्म आकाश व काल अजीव है।

रूपत्वेन द्योतमानयानपायिन्या भगवत्या संवित्तिरूपया चेतनया तत्परिणामलक्षणेन द्रव्यवृत्तिरूपेणोपयोगेन च निवृत्तत्वमवतीर्णं प्रतिभाति स जीवः । यत्र पुनरुपयोगसहचरिताया यथोदितलक्षणायाश्चेतनाया अभावाद्बहिरन्तश्चाचेतनत्वमवतीर्णं प्रतिभाति सोऽजीवः ॥१२७॥

जीवा जाव चेदणोवओगमओ चेतनोपयोगमय पोग्गलदव्वप्पमुह पुद्गलद्रव्यप्रमुख अचेदण अचेतन अजीव अजीव –प्रथमा एकवचन । हवदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । निरुक्ति—द्रवति द्रोष्यति अदुद्रुवत् यदिति द्रव्य, जीवति जीविष्यति अजीवत् यः असौ जीव । समास—पुद्गलद्रव्य प्रमुखं येषु स पुद्गलद्रव्यप्रमुख ॥ १२७ ॥

तरित प्रतिभासता है वह जीव है । और जिसमे उपयोगके साथ रहने वाली, यथोक्त लक्षण वाली चेतनाका अभाव होनेसे बाहर तथा भीतर अचेतनत्व अवतरित प्रतिभासता है, वह अजीव है ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे मात्र ज्ञानस्वरूपकी प्राप्ति होनेपर शुद्धात्माकी उपलब्धि होना बताया गया था । अब इस गाथासे द्रव्यविशेषका प्रज्ञापन किया जायगा जिसमे इस गाथामे द्रव्यके जीव व अजीव ये दो प्रकार बताये गये हैं ।

तथ्यप्रकाश—१– द्रव्य द्रव्य सब द्रव्य हैं इस दृष्टिसे द्रव्यमे द्रव्यत्व सामान्य है । २– द्रव्यमे विशेषलक्षणका सद्भाव अवश्य है जिसके कारण एकद्रव्य दूसरे द्रव्यसे अन्य है यह जाना जाता है । ३– द्रव्यमे अन्योन्यव्यवच्छेद होनेसे द्रव्यके मूलमे जीव व अजीव ये दो प्रकार हैं । ४– जीव तो सब आत्मद्रव्य है । ५– अजीवके ५ प्रकार हैं—पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य व कालद्रव्य । ६– जीवका विशेष लक्षण चेतना एव उपयोग है, क्योकि जीवद्रव्य भगवती चेतनाके द्वारा व चेतनाके परिणामस्वरूप उपयोग द्वारा रचित है । ७– अजीवका विशेष लक्षण अचेतनपना है, क्योकि उसमे चेतनाका अभाव होनेसे शक्ति व व्यक्ति दोनोमे अचेतनपना है ।

सिद्धान्त—१– लक्षणभेदसे जीव व अजीवमे विलक्षणता ज्ञात होती है ।

दृष्टि—१– वलक्षण्यनय (२०३) ।

प्रयोग—अपना लक्षण निरखकर अपनेको पहचानकर अलक्षण अन्य तत्त्वोंसे विविक्त स्वलक्षणमात्र अन्तस्तत्त्वकी उपासना करना ॥१२७॥

अब लोकालोकपनेके विशेषको निश्चित करते हैं [आकाशे] आकाशमें [य] जो भाग [पुद्गलजीवनिबद्ध] पुद्गल और जीवसे निबद्ध है, तथा [धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य वर्तते] धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और कालद्रव्यसे युक्त है [स] वह [सर्वकाले तु] सदा ही

अथ लोकालोकत्वविशेषं निश्चिनोति--

पोग्गलजीवणिवद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥१२८॥

जितने नभमें रहते, धर्म अधर्म काल जीव व पुद्गल ।
लोकाकाश हि उतनी, अवशिष्ट तथा अलोक सदा ॥१२८॥

पुद्गलजीवनिबद्धो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य । वर्तते आकाशे यो लोक स सर्वकाले तु ॥ १२८ ॥

अस्ति हि द्रव्यस्य लोकालोकत्वेन विशेषविशिष्टत्वं स्वलक्षणसद्भावात् । स्वलक्षणं हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वं, अलोकस्य पुनः केवलाकाशात्मकत्वम् । तत्र सर्वद्रव्यव्यापिनि परममहत्याकाशे यत्र यावति जीवपुद्गलौ गतिस्थितिधर्माणौ गतिस्थिती आस्कन्दतस्तद्गति-स्थितिनिबन्धनभूतौ च धर्माऽधर्मावभिव्याप्यावस्थितौ, सर्वद्रव्यवर्तनानिमित्तभूतश्च कालो नित्य-

नामसंज्ञ—पोग्गलजीवणिवद्ध धम्माधम्मत्थिक्कायकालड्ढ आगास ज लोग त सव्वकाल दु। धातुसंज्ञ-णि बंध बंधने, वत्त वर्तने । प्रातिपदिक—पुद्गलजीवनिबद्ध धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य आकाश

[लोकः] लोक है ।

तात्पर्य—आकाशके जितने क्षेत्रमे जीव पुद्गल धर्म अधर्म व कालद्रव्य है वह लोक है ।

दुललितस्तत्तावदाकाश शेषाण्यशेषाणि द्रव्याणि चेत्यमीषां समवाय आत्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य स लोक यत्र यावति पुनराकाशे जीवपुद्गलयोगतिस्थिती न सभवतो धर्माधर्मों नावस्थितौ न कालो दुललितस्तावत्केवलमाकाशमात्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य सोऽलोक ॥१२८॥

यत् लोक तत् सवकाल तु । मूलधातु—नि बध बधने वृतु वतने। उभयपदविवरण—पोग्गलजीवणिबद्धो पुद्गलजीवनिबद्ध धम्माधम्मात्थिकायकालड्ढो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य-प्रथमा एकवचन। आगासे आकाशे-सप्तमी एकवचन। जो य लोगो लाक सो स-प्रथमा एकवचन। सव्वकाले सवकाले-सप्तमी एकवचन। दु तु-अव्यय। वट्टदि वतते-वतमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। निरुक्ति—पूयते गलयते इति पुद्गल, जीवतीति जीव, धरति गतौ जीवपुद्गलान् इति धम (द्रव्यम्), कलयति सर्वाणीति काल, आकाशन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स आकाश लोक्यते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स लोक, सरतीति सव। समास—पुद्गला जीवाश्चेति पुद्गलजीवा त निबद्ध पुद्गलजीवनिबद्ध, धमश्च अधमश्च धमाधर्मौ धर्माधर्मौ च तौ अस्तिकायौ चेति धर्माधर्मास्तिकायौ धर्माधर्मास्तिकायौ च कालश्चेति धर्माधर्मास्तिकाला तै आढ्य इति धर्माधर्मास्तिकाय कालाढ्य ॥ १२८ ॥

है। ३-चेतनालक्षण जीव है। ४-अचेतनालक्षण अजीव है। ५- गतिस्थिति धर्मात्मक जीव पुद्गलकी गतिमे निमित्तभूत द्रव्य धमद्रव्य है। ६- गतिस्थितिधर्मात्मक जीव पुद्गलकी स्थितिमे निमित्तभूत द्रव्य अधमद्रव्य है। ७- सवद्रव्योंके परिणमनमें निमित्तभूत पदाथ काल द्रव्य है। ८- जीव, पुद्गल, धम, अधम, काल ये द्रव्य जितने आकाशमे अवस्थित हों वह लोक है। ९- जितने आकाशमे जीव पुद्गलकी गतिस्थिति सभव नहीं, धम, अधर्म, कालद्रव्य अवस्थित नही उतना केवल आकाश अलोक है।

सिद्धान्त—१- परके सयोग वियोगसे एक ही द्रव्य दो रूप विदित होता है।

दृष्टि—१- पर सपक सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय (२६५)।

प्रयोग—आकाशके असीम परिमाण व लोकके विशाल परिमाणको जानकर बिन्दुमात्रके अनुपातसे भी कम परिचित क्षेत्रका व्यामोह न कर आत्मप्रदेशोंमें आत्मस्वरूपका अनुभव अनुभवना ॥१२८॥

अब 'क्रिया' रूप और 'भाव' रूप द्रव्यके भावोका भेद निश्चित करते हैं—[पुद्गल जीवात्मकस्य लोकस्य] पुद्गल जीवात्मक लोकके [परिणामात्] परिणमनसे, और [सघातात् वा भेदात्] मिलने और पृथक् होनेसे [उत्पादस्थितिभगा] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय [जायन्ते] होते हैं।

तात्पय—पुद्गल व जीव ये दो प्रकारके द्रव्य क्रियावान व भाववान है शेषके द्रव्य

अथ लोकालोकत्वविशेषं निश्चिनोति—

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥१२८॥

जितने नभमे रहते, धर्म अधर्म काल जीव व पुद्गल ।
लोकाकाश हि उतनी, अवशिष्ट तथा अलोक सदा ॥१२८॥

पुद्गलजीवनिबद्धो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य । वर्तते आकाशे यो लोक: स सर्वकाले तु ॥ १२८ ॥

अस्ति हि द्रव्यस्य लोकालोकत्वेन विशेषविशिष्टत्वं स्वलक्षणसद्भावात् । स्वलक्षणं हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वं, अलोकस्य पुन: केवलाकाशात्मकत्वम् । तत्र सर्वद्रव्यव्यापिनि परममहत्याकाशे यत्र यावति जीवपुद्गलौ गतिस्थितिधर्माणौ गतिस्थिती आस्कन्दतस्तद्गति-स्थितिनिबन्धनभूतौ च धर्माऽधर्मावभिव्याप्यावस्थितौ, सर्वद्रव्यवर्तनानिमित्तभूतश्च कालो नित्य-

---

नामसंज्ञ—पोग्गलजीवणिबद्ध धम्माधम्मत्थिक्कायकालड्ढ आगास ज लोग त सव्वकाल दु । धातुसंज्ञ—णि बध बधने, वत्त वर्तने । प्रातिपदिक—पुद्गलजीवनिबद्ध धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य आकाश

[लोक:] लोक है ।

तात्पर्य—आकाशके जितने क्षेत्रमे जीव पुद्गल धर्म अधर्म व कालद्रव्य है वह लोक है ।

दुललितस्तावदाकाश शेषाण्यशेषाणि द्रव्याणि चेत्यमीषां समवाय आत्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य स लोक यत्र यावति पुनराकाशे जीवपुद्गलयोर्गतिस्थिती न संभवतो धर्माधर्मौ नावस्थितौ न कालो दुर्ललितस्तावत्केवलमाकाशमात्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य सोऽलोक ॥१२८॥

यत् लोक तत् सर्वकाल तु । मूलधातु—नि बध बधने वृतु वर्तने । उभयपदविवरण—पोग्गलजीवणिबद्धो पुद्गलजीवनिबद्ध धम्माधम्मात्थिकायकालड्ढो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य–प्रथमा एकवचन । आगासे आकाशे–सप्तमी एकवचन । जो य लोगो लोक सो स–प्रथमा एकवचन । सव्वकाले सर्वकाले–सप्तमी एकवचन । दु तु–अव्यय । वट्टदि वर्तते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । निरुक्ति—पूयते गलयते इति पुद्गल, जीवतीति जीव धरति गतौ जीवपुद्गलान् इति धर्म (द्रव्यम्), कलयति सर्वाणीति काल, आकाशन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स आकाश लोक्यन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स लोक, सरतीति सर्व । समास—पुद्गला जीवाश्चेति पुद्गलजीवा त निबद्ध पुद्गलजीवनिबद्ध, धर्मश्च अधर्मश्च धर्माधर्मौ धर्माधर्मौ च तौ अस्तिकायौ चेति धर्माधर्मास्तिकायौ धर्माधर्मास्तिकायौ च कालश्चेति धर्माधर्मास्तिकाया त आढ्य इति धर्माधर्मास्तिकाय कालाढ्य ॥ १२८ ॥

है । ३–चेतनालक्षण जीव है । ४–अचेतनालक्षण अजीव है । ५– गतिस्थिति धर्मात्मक जीव पुद्गलकी गतिमे निमित्तभूत द्रव्य धर्मद्रव्य है । ६– गतिस्थितिधर्मात्मक जीव पुद्गलकी स्थितिमे निमित्तभूत द्रव्य अधर्मद्रव्य है । ७– सर्वद्रव्योंके परिणमनमें निमित्तभूत पदार्थ काल द्रव्य है । ८– जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल ये द्रव्य जितने आकाशमे अवस्थित हों वह लोक है । ९– जितने आकाशमे जीव पुद्गलकी गतिस्थिति संभव नहीं, धर्म, अधर्म, कालद्रव्य अवस्थित नहीं उतना केवल आकाश अलोक है ।

सिद्धान्त—१– परके सयोग वियोगसे एक ही द्रव्य दो रूप विदित होता है ।

दृष्टि—१– पर सपक सापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय (२६ब) ।

प्रयोग—आकाशके असीम परिमाण व लोकके विशाल परिमाणको जानकर बिन्दुमात्रके अनुपातसे भी कम परिचित क्षेत्रका व्यामोह न कर आत्मप्रदेशोंमें आत्मस्वरूपका वैभव अनुभवना ॥१२८॥

अब 'क्रिया' रूप और 'भाव' रूप द्रव्यके भावोंका भेद निश्चित करते हैं—[पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य] पुद्गल जीवात्मक लोकके [परिणामात्] परिणमनसे, और [सघातात् वा भेदात्] मिलने और पृथक् होनेसे [उत्पादस्थितिभगा] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय [जायन्ते] होते हैं ।

तात्पर्य—पुद्गल व जीव ये दो प्रकारके द्रव्य क्रियावान व भाववान हैं शेषके द्रव्य

अथ लोकालोकत्वविशेषं निश्चिनोति—

पोग्गलजीवणिवद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो ।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥१२८॥

जितने नभमें रहते, धर्म अधर्म काल जीव व पुद्गल ।
लोकाकाश हि उतनी, अवशिष्ट तथा अलोक सदा ॥१२८॥

पुद्गलजीवनिवद्धो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य: । वर्तते आकाशे यो लोक स सर्वकाले तु ॥ १२८ ॥

अस्ति हि द्रव्यस्य लोकालोकत्वेन विशेषविशिष्टत्वं स्वलक्षणसद्भावात् । स्वलक्षणं हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वं, अलोकस्य पुनः केवलाकाशात्मकत्वम् । तत्र सर्वद्रव्यव्यापिनि परममहत्याकाशे यत्र यावति जीवपुद्गलौ गतिस्थितिधर्माणौ गतिस्थिती आस्कन्दतस्तद्गति-स्थितिनिबन्धनभूतौ च धर्माऽधर्माविभिव्याप्यावस्थितौ, सर्वद्रव्यवर्तनानिमित्तभूतश्च कालो नित्य-

नामसंज्ञ—पोग्गलजीवणिवद्ध धम्माधम्मत्थिक्कायकालड्ढ आगास ज लोग त सव्वकाल दु। धातुसंज्ञ—णि बध बंधने, वत्त वर्तने । प्रातिपदिक—पुद्गलजीवनिबद्ध धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य आकाश

[लोकः] लोक है ।

तात्पर्य—आकाशके जितने क्षेत्रमे जीव पुद्गल धर्म अधर्म व कालद्रव्य है वह लोक है ।

त्वात् परिणामेनोपात्तान्वय यतिरेकाण्यवतिष्ठमानोत्पद्यमानभज्यमानानि भाववन्ति भवन्ति । पुद्गलास्तु परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन भिन्ना सघातेन सहता पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमाना क्रियावन्तश्च भवन्ति । तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तै सह सघातेन सहता: पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमाना क्रियावन्तश्च भवन्ति ॥ १२६ ॥

भेदात्-पचमी एकवचन । जायते जायन्ते-वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । निरुक्ति-उत्पादन उत्पाद, स्थान स्थिति, भज्जन भङ्ग, सहनन सघात भेदन भेद । समास--उत्पादश्च स्थितिश्च भङ्गश्च उत्पादस्थितिभङ्गा ॥ १२६ ॥

पृथक् हुए, वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें द्रव्यका लोक अलोकपनेका विशेष निश्चित किया था । अब इस गाथामें द्रव्यके भावोंका क्रियारूप व भावरूप भेद निश्चित किया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) सब द्रव्योंमें कुछ द्रव्य तो क्रियावान व भाववान हैं और कुछ द्रव्य क्रियावान नहीं, किन्तु केवल भाववान हैं । (२) जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य क्रियावान भी हैं व भाववान भी हैं, क्योंकि इन द्रव्योंमें परिस्पन्द भी है और परिणाम भी है । (३) धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य केवल भाववान हैं क्योंकि इनमें परिस्पन्द नहीं है, केवल परिणमन ही है ।

सिद्धान्त—(१) पदार्थोंकी क्रियाका आधार क्रियावती शक्ति है । (२) भावरूप परिणमनका आधार भाववती शक्ति है ।

दृष्टि—१- क्रियावती शक्ति दर्शक अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२७ अ) । २- भाववती शक्ति दर्शक अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२७ ब) ।

प्रयोग—निर्विकल्प आनन्दकी प्राप्तिके लिये भाववती शक्तिका आश्रय कर अपनेको भावमात्र निरखना ॥ १२६ ॥

अब यह बतलाते हैं कि गुणोंके भेदसे द्रव्योंका भेद होता है—[ये लिंगं] जिन लिंगोंसे [द्रव्य] द्रव्य [जीव अजीव च] जीव और अजीवके रूपमें [विज्ञात भवन्ति] ज्ञात होता है, [ते] वे [तद्भावविशिष्टा] तद्भाव विशिष्ट उस उस स्वरूपसे युक्त [मूर्तामूर्ता] मूर्त अमूर्त [गुणा] गुण [ज्ञेया] जानने चाहियें ।

तात्पर्य—जिन जिन लक्षणोंसे जीवादिक पदार्थ ज्ञात होते हैं उन लक्षणोंरूप वे गुण कहलाते हैं ।

टीकार्थ—द्रव्यका आश्रय लेकर और परके आश्रयके बिना प्रवर्तमान जिनके द्वारा

अथ द्रव्यविशेषो गुणविशेषादिति प्रज्ञापयति—

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं ।
ते तब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया ॥ १३० ॥

जिन चिह्नोसे जाना, जाता जीव य अजीव द्रव्योको ।
वे तद्भावविशेषित, मूर्त अमूर्त गुण वहां जानो ॥१३०॥

लिङ्गैर्यैर्द्रव्यं जीवोऽजीवश्च भवति विज्ञातम् । ते तद्भावविशिष्टा मूर्तामूर्ता गुणा ज्ञेया. ॥ १३० ॥

द्रव्यमाश्रित्य परानाश्रयत्वेन वर्तमानैर्लिङ्ग्यते गम्यते द्रव्यमेतैरिति लिङ्गानि गुणाः । ते च यद्द्रव्यं भवति न तद्गुणा भवन्ति, ये गुणा भवन्ति ते न द्रव्यं भवतीति द्रव्यादतद्भावेन

नामसंज्ञ—लिंग ज दव्व जीव अजीव च विण्णाद त तब्भावविसिट्ठ मुत्तामुत्त गुण णेय । धातुसंज्ञ—हव सत्ताया, णा अवबोधने । प्रातिपदिक—लिङ्ग यत् द्रव्य जीव अजीव च विज्ञात तत् तद्भावविशिष्ट मूर्तामूर्त गुण ज्ञेय । मूलधातु—भू सत्तायां, ज्ञा अवबोधने । उभयपदविवरण—लिंगेहिं लिङ्गैः. जेहिं यैः-

द्वारा पहचाना जा सकता है, ऐसे लिंग गुण है । वे (गुण), 'जो द्रव्य है वे गुण नही है और जो गुण हैं वे द्रव्य नही हैं' इस अपेक्षासे द्रव्यसे अतद्भावके द्वारा भिन्न रहते हुये, लिंग और लिंगीके रूपमे परिचयके समय द्रव्यके लिगत्वको प्राप्त होते है । अब वे द्रव्यका 'यह जीव है, यह अजीव है' ऐसा भेद उत्पन्न करते है, क्योकि स्वयं भी तद्भावके द्वारा विशिष्ट होनेसे विशेषको प्राप्त है । जिस जिस द्रव्यका जो जो स्वभाव हो उस उसका उस उसके द्वारा विशिष्टपना होनेसे उनमे भेद है, और इसीलिये मूर्त तथा अमूर्त द्रव्योका मूर्तत्व-अमूर्तत्वरूप तद्भावसे विशिष्टता होनेसे उनमे 'यह मूर्त गुण है और यह अमूर्त गुण है' इस प्रकार उनका भेद निश्चित करना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे क्रियावान व भाववान पदार्थोंका विशेषपना ज्ञात कराया गया था । अब इस गाथामे जीव अजीव द्रव्योके अपनी-अपनी विशेषताके कारण मूर्त अमूर्त गुण ज्ञात कराये गये हैं ।

विशिष्ट ? सन्तो लिङ्गलिङ्गिप्रसिद्धौ तल्लिङ्गत्वमुपढौकन्ते । अथ त द्रव्यस्य जीवोऽयमजीवोऽय मित्यादिविशेषमुत्पादयन्ति, स्वयमपि तद्भावविशिष्टत्वेनोपात्तविशेषत्वात् । यतो हि यस्य यस्य द्रव्यस्य यो य स्वभावस्तस्य तस्य तेन तेन विशिष्टत्वात्तेषामस्ति विशेषः । अत एव च मूर्ता नाममूर्तानां च द्रव्याणां मूर्तत्वेनामूर्तत्वेन च तद्भावेन विशिष्टत्वादिमे मूर्ता गुणा इमे अमूर्ता इति तपा विशेषो निश्चेयः ॥ १३० ॥

तृतीया बहु० । दव्व द्रव्य जीव जीव अजीव अजीव-प्रथमा एक० । हवदि भवति-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । विण्णाद विज्ञात-प्रथमा एक० कृदन्त । ते तब्भावविसिट्ठा तद्भावविशिष्टा मुत्ता मुत्ता मूर्तामूर्ता गुणा गुणा -प्रथमा बहुवचन । णेया ज्ञेया -प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया रूपे । निरुक्ति-लिङ्गन लिङ्ग । समास—तस्य भाव तद्भाव तेन विशिष्टा तद्भावविशिष्टा, मूर्ताश्च अमूर्ताश्च मूर्ता मूर्ता ॥ १३० ॥

द्रव्योमे मूर्तत्वसे विशिष्टता है अत ये मूर्त गुण हैं ऐसा जाना जाता है । (७) अमूर्त द्रव्योमे अमूर्तत्वसे विशिष्टता है, अत ये अमूर्त गुण है ऐसा जाना जाता है ।

सिद्धान्त—(१) मूर्त पर्यायोका आधार मूर्तत्व गुण है । (२) अमूर्त पर्यायोका आधार अमूर्तत्व गुण है ।

दृष्टि—१– मूर्तत्वशक्तिदर्शक अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय (२३ अ) । २– अमूर्तत्वशक्ति-दर्शक अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२३ ब) ।

प्रयोग—मूर्त द्रव्योंसे व अमूर्त परद्रव्योंसे उपयोग हटाकर निज अमूर्त चैतन्यस्वरूप में उपयोग लगाना ॥१३०॥

अब मूर्त और अमूर्त गुणोका लक्षण तथा सबध कहते है — [इन्द्रियग्राह्या] इन्द्रिय ग्राह्य [पुद्गलद्रव्यात्मका] पुद्गल द्रव्यात्मक [अनेक विधा] अनेक प्रकारके [गुणा मुत्ता मुणेदव्वा] गुण मूर्त जानना चाहिये और [अमूर्तानां द्रव्याणां] अमूर्त द्रव्योंके [गुणा] गुण [अमूर्ता ज्ञातव्या] अमूर्त जानना चाहिये ।

तात्पर्य—पुद्गलद्रव्योंके गुण मूर्त और शेष सभी द्रव्योंके गुण अमूर्त जानना चाहिये।

टीकार्थ—मूर्त गुणोका लक्षण इन्द्रियग्राह्यत्व हैं, और अमूर्त गुणोंका लक्षण उससे विपरीत है और वे मूर्त गुण पुद्गलद्रव्यके हैं, क्योंकि पुद्गल ही एक मूर्त है और अमूर्त गुण शेष द्रव्योंके हैं, क्योकि पुद्गलके अतिरिक्त शेष सभी द्रव्य अमूर्त हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे गुणविशेषसे द्रव्यविशेषका ज्ञापन कराया गया था । अब इस गाथामें मूर्त अमूर्त गुणोका लक्षण तथा सम्बन्ध बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जिनकी पर्याय इन्द्रियों द्वारा ग्रहणमें आ सकने योग्य हैं। व गु—

अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसंबन्धमाख्याति--

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा ।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥१३१॥

मूर्त ग्राह्य इन्द्रियसे, वे है पुद्गल पदार्थ नानाविध ।
द्रव्य अमूर्तोंके गुण, अमूर्त इन्द्रियाग्राह्य कहे ॥१३१॥

[illegible] इन्द्रियग्राह्या पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधा. । द्रव्याणाममूर्तानां गुणा अमूर्ता ज्ञातव्या. ॥ १३१ ॥

मूर्तानां गुणानामिन्द्रियग्राह्यत्वं लक्षणम् । अमूर्तानां तदेव विपर्यस्तम् । ते च मूर्ता: पुद्गलद्रव्यस्य, तस्यैवेकस्य मूर्तत्वात् । अमूर्ता: शेषद्रव्याणां, पुद्गलादन्येषां सर्वेषामप्यमूर्तत्वात् ॥१३१॥

नामसंज्ञ—मुत्त इंदियगेज्झ पोग्गलदव्वप्पग अणेगविध दव्व अमुत्त गुण अमुत्त मुणेदव्व । धातुसंज्ञ—[illegible] । प्रातिपदिक—मूर्त इन्द्रियग्राह्य पुद्गलद्रव्यात्मक अनेकविध द्रव्य अमूर्त गुण अमूर्त ज्ञातव्य । मूलधातु—ज्ञा अवबोधने । उभयपदविवरण—मुत्ता मूर्ता इंदियगेज्झा इन्द्रियग्राह्या पोग्गलदव्वप्पगा पुद्गलद्रव्यात्मका अणेगविधा अनेकविधा गुणा गुणा अमुत्ता अमूर्ता –प्रथमा बहुवचन । दव्वाण द्रव्याणां [illegible] अमूर्तानां–षष्ठी बहुवचन । मुणेदव्वा ज्ञातव्या.–प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया । निरुक्ति—[illegible] इन्द्रिय । समास–इन्द्रियेण ग्राह्या इन्द्रियग्राह्या , पुद्गल द्रव्य एव आत्मा येषां ते पुद्गलद्रव्यात्मका ॥ १३१ ॥

[illegible] । ([illegible]) जिनकी पर्याय कभी भी इन्द्रियो द्वारा ग्राह्य न हो सके वे गुण अमूर्त है । (३) [illegible] गुण पुद्गलद्रव्यके है । (४) अमूर्त गुण पदगलको छोडकर शेष पांच प्रकारके द्रव्योके है ।

अथ मूर्तस्य पुद्गलद्रव्यस्य गुणान् गृणाति—

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो ।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥१३२॥

सूक्ष्म व बादर पुद्गल के वर्ण स्पर्श गंध रस होते ।
क्षित्यादिक सब ही के, शब्द विविध पुद्गलदशायें ॥१३२॥

वर्णरसगंधस्पर्शा विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मात् । पृथिवीपर्यन्तस्य च शब्दः स पौद्गलश्चित्रः ॥ १३२ ॥

इन्द्रियग्राह्याः किल स्पर्शरसगन्धवर्णास्तद्विषयत्वात्, ते चेन्द्रियग्राह्यत्वव्यक्तिशक्तिवशात् गृह्यमाणा अगृह्यमाणाश्च आ एकद्रव्यात्मकसूक्ष्मपर्यायात्परमाणोः आ अनेकद्रव्यात्मकस्थूल

नामसंज्ञ—वण्णरसगंधफास पुग्गल सुहुम पुढवीपरियंत य सद्द त पोग्गल चित्त । धातुसंज्ञ—विज्ज सत्तायां । प्रातिपदिक—वर्णरसगंधस्पर्श पुद्गल सूक्ष्म पृथ्वीपर्यन्त च शब्द तत् पौद्गल चित्र । मूलधातु—विद सत्तायां । उभयपदविवरण—वण्णरसगंधफासा वर्णरसगंधस्पर्शाः-प्रथमा बहुवचन । विज्जंते

टीकार्थ—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन्द्रियग्राह्य हैं क्योंकि वे इन्द्रियोंके विषय हैं और इन्द्रियग्राह्यताकी व्यक्ति और शक्तिके वशसे इन्द्रियोंके द्वारा गृह्यमाण या अगृह्यमाण वे गुण एक द्रव्यात्मक सूक्ष्मपर्याय वाले परमाणुसे लेकर अनेकद्रव्यात्मक स्थूल पर्यायरूप पृथ्वी स्कंध तकके समस्त पुद्गलके, अविशेषतया विशेष गुणोंके रूपमें होते हैं, और मूर्तपना होनेके कारण ही पुद्गलके अतिरिक्त शेष द्रव्योंके न होनेसे वे गुण पुद्गलका परिचय कराते हैं। यहाँ ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये कि इन्द्रियग्राह्यपना होनेसे शब्द गुण होगा, क्योंकि प्रसिद्ध किया है विविधताके द्वारा अपना नानापन जिसने ऐसे शब्दको भी अनेकद्रव्यात्मक पुद्गलपर्यायके रूपमें स्वीकार किया जाता है। प्रश्न—यदि शब्दको गुण माना जाय, तो वह क्यों योग्य नहीं है ? उत्तर—(१) शब्द अमूर्त द्रव्यका गुण नहीं है, क्योंकि गुण गुणीमें अभिन्न प्रदेशपना होनेसे, वे गुण गुणी एकवेदनसे वेद्य होनेसे अमूर्त द्रव्य भी श्रवणेन्द्रियका विषयभूत बन बैठेगा। (२) पर्यायके लक्षणसे गुणका लक्षण उत्खात होनेसे शब्द मूर्त द्रव्यका गुण भी नहीं है। पर्यायका लक्षण अनित्यत्व है और गुणका लक्षण नित्यत्व है, इस कारण अनित्यत्वसे नित्यत्वके उत्खात होनेसे शब्द गुण नहीं है। और जो वहाँ नित्यत्व है वह (शब्दको उत्पन्न करने वाले पुद्गलोंका और उनके स्पर्शादिक गुणोंका ही है शब्द पर्यायका नहीं, इस प्रकार अति दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना चाहिये। "यदि शब्द पुद्गलकी पर्याय हो तो वह पृथ्वीस्कंधकी तरह स्पर्शनादिक इन्द्रियोंका विषय होना चाहिये" ऐसा भी नहीं है, क्योंकि पुद्गलकी पर्याय होनेपर भी जल घ्राणेन्द्रियका विषय नहीं है अग्नि घ्राणेन्द्रिय तथा रस

अथामूर्तानां शेषद्रव्याणां गुणान् गृणाति—

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं ।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥१३३॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो ।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥१३४॥ जुगलं ।

नभका गुण अवगाहन, धर्मद्रव्यका गमनहेतुपना ।
अधर्मद्रव्यका थानक-हेतुपना गुण कहे इनके ॥१३३॥
कालका वर्तना गुण, उपयोग गुण कहा है आत्माका ।
जानो संक्षेप तथा, गुण उक्त अमूर्त द्रव्योंके ॥१३४॥

[illegible] धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वम् । धर्मेतरद्रव्यस्य तु गुण पुन स्थानकारणता ॥ १३३ ॥ [illegible] वर्तना स्यात् गुण उपयोग इति आत्मनो भणित । ज्ञेया. सक्षेपाद्गुणा हि मूर्तिप्रहीणानाम् ॥१३४॥ युगलम् ।

[illegible]ता है । २२–जैसे रागादि स्नेहरहित चैतन्यस्वरूपमात्र शुद्धात्मतत्वके ध्यानसे ज्ञानादिचतु[illegible] शुद्धता होती है, इसी प्रकार स्निग्धगुणके अभावमे वन्धनके न होनेपर परमाणुपुद्गला[illegible] स्पर्शादिचतुष्टयकी शुद्धता होती है । २३–जैसे जीवकी नर नारक आदि पर्यायें विभाव [illegible] है, इसी प्रकार शब्द पुद्गलद्रव्योकी विभावपर्याय है । २४– शब्द भाषात्मक व अभा[illegible] [illegible] अनेक भेदोसे नाना प्रकारके होते है ।

सिद्धान्त—(१) भाषावर्गणात्मबद्ध अनेक पुद्गलोकी पर्याय होनेसे शब्द समानजातीय [illegible] पर्याय है ।

दृष्टि—१– समानजातीयविभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याय (२१५) ।

प्रयोग—[illegible] उपयोग रखनेके लिये दृश्य अदृश्य समस्त पुद्गलो व पु[illegible] [illegible] निजब्रह्ममे उपयोग लगाना ॥ १३२ ॥
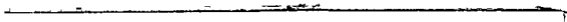
सीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य, विरुद्धकार्यहेतुत्वाद्धर्मस्य चासंभवदधर्ममधिगमयति। तथा अशेष-शेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायसमयवृत्तिहेतुत्वं कारणान्तरसाध्यत्वात्समयविशिष्टाया वृत्तेः स्वतस्तेषामसंभवत्कालमधिगमयति। तथा चैतन्यपरिणामश्चेतनत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवन् जीवमधिगमयति। एवं गुणविशेषाद्द्रव्यविशेषोऽधिगन्तव्यः ॥१३३-१३४॥

[illegible]–षष्ठी एकवचन। अवगाहो अवगाह गमणहेदुत्त गमनहेतुत्व गुणो गुण ठाणकारणदा स्थानकार-[illegible] वट्टना वर्तना गुणो गुण उवओगो उपयोगः दु तु पुणो पुन. त्ति इति हि–अव्यय। अप्पणो आत्मन–[illegible] एकवचन। भणिदो भणित –प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया। णेया ज्ञेया –प्रथमा बहुवचन कृदन्त [illegible]। [illegible] संक्षेपात्–पंचमी एकवचन। गुणा गुणा –प्रथमा बहुवचन। मुत्तिप्पहीणाण मूर्तिप्रही-णाना–षष्ठी बहुवचन। निरुक्ति–आकाशन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स आकाश, अवगाहन अवगाह, हिनो-[illegible] संक्षेपन संक्षेप। समास—गमनस्य हेतु गमनहेतु तस्य भाव गमनहेतुत्वम्, स्थानस्यकारण [illegible] तस्य भाव स्थानकारणता ॥१३३-१३४॥

[illegible] अधर्मद्रव्यको बतलाता है; क्योकि काल और पुद्गल अप्रदेशी है, इसलिये उनके वह [illegible] नहीं है, जीव समुद्घातको छोडकर लोकके असख्यातवे भाग मात्र है, इसलिये उसके [illegible] संभव नहीं है, लोक और अलोककी सीमा अचलित होनेसे आकाशके वह सभव नहीं है, और [illegible] कार्यका हेतु होनेसे धर्मके वह संभव नही है। इसी प्रकार शेष समस्त द्रव्योंके [illegible] पर्यायमे समयवृत्तिका हेतुत्व कालको बतलाता है, क्योकि उनके, समयविशिष्टवृत्ति [illegible] साध्य होनेसे स्वतः उनके समयवृत्तिहेतुत्व संभवित नही है। इसी प्रकार [illegible] परिणाम जीवको बतलाता है, क्योकि वह चेतन है, इसलिये शेष द्रव्योके वह संभव [illegible] है। इस प्रकार गुण विशेषसे द्रव्यविशेष जानना चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे पुद्गलद्रव्यके गुणो आदिका कथन किया था। [illegible] गाथाओंमें अमूर्त द्रव्योंके गुणोंको (लक्षणोंको) बताया गया है।

अथ द्रव्याणां प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वविशेषं प्रज्ञापयति—

जीवा पोग्गलकाया धम्माऽधम्मा पुणो य आगासं ।
सपदेसेहिं असंखादा णत्थि पदेस त्ति कालस्स ॥ १३५ ॥

जीव व पुद्गल धर्म व, अधर्म आकाश है बहुप्रदेशी ।
किस ही कालाणू के एकाधिक भी प्रदेश नहीं ॥ १३५ ॥

जीवाः पुद्गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम् । स्वप्रदेशैरसंख्याता न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य ॥१३५॥

प्रदेशवन्ति हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानि अनेकप्रदेशवत्त्वात् । अप्रदेशः कालाणु प्रदेशमात्रत्वात् । अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशापरित्यागाज्जीवस्य द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपर्यायेणानवधारितप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वात् धर्मस्य सकललोकव्याप्यसंख्येय

नामसंज्ञ—जीव पोग्गलकाय धम्माधम्म पुणो य आगास सपदेस असंखाद ण पदेस त्ति काल । धातुसंज्ञ—अस सत्तायां । प्रातिपदिक—जीव पुद्गलकाय धर्माधर्म पुनः च आकाश स्वप्रदेश असंख्यात न प्रदेश इति काल । मूलधातु—अस भुवि । उभयपदविवरण—जीवा जीवाः पोग्गलकाया पुद्गलकायाः—प्रथमा बहुवचन । धम्माधम्मा–प्र० बहु० । धर्माधर्मौ–प्र० द्वि० । पुणो पुनः य च ण न त्ति इति–अव्यय ।

दृष्टि—स्वद्रव्यादि ग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८) ।

प्रयोग—असाधारण लक्षणोंसे स्वद्रव्य परद्रव्यका भेद जान कर पर द्रव्योंसे उपयोग हटा कर स्वसहजतत्त्वमें ही उपयुक्त रहना ॥१३३–१३४॥

अब द्रव्योंके प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्वरूप विशेषको बतलाते हैं— [जीवाः] जीव [पुद्गलकायाः] पुद्गलकाय [धर्माधर्मौ] धर्म अधर्म [पुनः च] और [आकाशं] आकाश [स्वप्रदेशैः] स्वप्रदेशोंकी अपेक्षासे [असंख्याताः] असंख्यात अर्थात् अनेक हैं, [कालस्य] कालके [प्रदेशाः इति] प्रदेश [न सन्ति] नहीं हैं ।

तात्पर्य—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म व आकाश, ये पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं, काल द्रव्य अस्तिकाय नहीं ।

टीकार्थ— जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म और आकाश अनेक प्रदेश वाले होनेसे प्रदेशवान हैं । कालाणु एकप्रदेशी होनेसे अप्रदेशी है । संकोच विस्तारके होनेपर भी जीव लोकाकाशतुल्य असंख्य प्रदेशोंको नहीं छोड़ता इसलिये वह प्रदेशवान है । पुद्गल यद्यपि द्रव्य अपेक्षासे एकप्रदेशी होनेसे अप्रदेशी है तथापि दो प्रदेशोंसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्तप्रदेशोंवाली पर्यायोंकी अपेक्षासे अनिश्चित प्रदेश वाला होनेसे प्रदेशवान है, सकल

संवर्तविस्ताराभ्यामनवस्थितप्रमाणस्यापि शुष्कार्द्रत्वाभ्यां चर्मण इव जीवस्य स्वांशाल्पबहुत्वा-भावादसंख्येयप्रदेशत्वमेव । अमूर्तसंवर्तविस्तारसिद्धिश्च स्थूलकृशशिशुकुमारशरीरव्यापित्वादस्ति स्वसंवेदनसाध्यैव । पुद्गलस्य तु द्रव्येणैकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वे यथोदिते सत्यपि द्विप्रदेशाद्युद्भवहेतुभूततथाविधस्निग्धरूक्षगुणपरिणामशक्तिस्वभावात्प्रदेशोद्भवत्वमस्ति । तत पर्यायेणानेकप्रदेशत्वस्यापि संभवात् द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वमपि न्याय्यं पुद्गलस्य ॥१३७॥

पदेशाणाम्–षष्ठी बहु० । अपदेसो अप्रदेश परमाणू परमाणु–प्रथमा एक० । तेण तेन–तृतीया एक० । पदुब्भवो प्रदेशोद्भव–प्रथमा एक० । भणिदो भणित –प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । निरुक्ति–शेषयन शेष, अण्यते इति अणु । समास– नभस प्रदेशा. इति नभ प्रदेशा, प्रदेशाना उद्भव इति प्रदेशोद्भव ॥१३७॥

टीकार्थ—ग्रन्थकार स्वय ही १४० वी गाथा द्वारा कहेगे कि आकाशके प्रदेशका लक्षण एक परमाणुसे व्याप्त होना है, और इस गाथामे 'जिस प्रकार आकाशके प्रदेश है उसी प्रकार शेष द्रव्योके प्रदेश है' इस प्रकार प्रदेशके लक्षणकी एक प्रकारता कही जाती है । इसलिये, जैसे एक परमाणुसे व्याप्य हो ऐसे अशके द्वारा गिने जानेपर आकाशके अनन्त अंश होनेसे आकाश अनन्तप्रदेशी है, उसी प्रकार एकाणुव्याप्य अशके द्वारा गिने जानेपर धर्म अधर्म और एक जीवके असंख्यात अंश होनेसे वे प्रत्येक असंख्यातप्रदेशी हैं और जैसे अवस्थित प्रमाण वाले धर्म तथा अधर्म असंख्यातप्रदेशी है, उसी प्रकार सकोच-विस्तारके कारण अनवस्थित प्रमाण वाले जीवके-सूखे-गीले चमड़ेकी तरह निज अंशोका अल्पबहुत्व नही होनेसे असंख्यातप्रदेशित्व ही है । अमूर्तके संकोच-विस्तारकी सिद्धि तो चूकि जीव स्थूल तथा कृश शरीरमे तथा बालक और कुमारके शरीरमे व्याप्त होता है, अत अपने अनुभवसे ही साध्य है । पुद्गल तो द्रव्यतः एकप्रदेशमात्र होनेसे यथोक्त (पूर्वकथित) प्रकारसे अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशादिके उद्भवके हेतुभूत उस प्रकारके स्निग्ध-रूक्ष गुणरूप परिणमनेकी शक्तिरूप स्वभावके कारण उसके प्रदेशोका उद्भव है । इस कारण पर्यायतः अनेकप्रदेशित्व भी संभव है, [illegible] द्विप्रदेशित्वसे लेकर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशित्व भी न्याय-[illegible]

अथ कालाणोरप्रदेशत्वमेवेति नियमयति—

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स ।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥१३८॥

काल है अप्रदेशी, उसका पर्याय समय यों जानो ।
जितनेमे अणु नभका, प्रदेश इक लाघ जाता है ॥१३८॥

समयस्त्वप्रदेशः प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य । व्यतिपततः स वर्तते प्रदेशमाकाशद्रव्यस्य ॥ १३८ ॥

अप्रदेश एव समयो द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात् न च तस्य पुद्गलस्येव पर्यायेणाप्यनेकप्रदे

नामसंज्ञ—समअ दु अप्पदेस पदेसमेत्त दव्वजाद वदिवदंत त पदेस आगास दव्व । धातुसंज्ञ—वत्त वर्तने । प्रातिपदिक—समय तु अप्रदेश प्रदेशमात्र द्रव्यजात व्यतिपतत् तत् प्रदेश आकाशद्रव्य । मूलधातु—वृतु वर्तने । उभयपदविवरण—समओ समयः अप्पदेसो अप्रदेशः—प्रथमा एकवचन । पदेसमेत्तस्स प्रदेश

प्रदेश कहते हैं । ३—जैसे विस्तृत आकाशके अविभागी अंशको प्रदेश कहते हैं, ऐसे ही विस्तृत अन्य द्रव्योंके अविभागी अंशको भी प्रदेश कहते हैं । ४—आकाशद्रव्यके प्रदेश एकाणुव्याप्यांशसे गणना करने पर अनन्त हैं, इस कारण आकाश बहुप्रदेशी (अनन्तप्रदेशी) है । ५—धर्मद्रव्य अधर्मद्रव्य, एक जीव द्रव्यके प्रदेश एकाणुव्याप्यांशसे गणना करनेपर असंख्यात प्रदेश हैं, अतः ये भी बहुप्रदेशी असंख्यात प्रदेशी हैं । ६—जीवद्रव्यके प्रदेश धर्म व अधर्मद्रव्यकी तरह अवस्थित नहीं हैं, जीव प्रदेशोंमें संकोच विस्तार होता है, तथापि प्रत्येक जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशी ही है उसके प्रदेश कम या अधिक नहीं होते । ७— पुद्गल द्रव्य वस्तुतः द्रव्यसे एकप्रदेशी है, किन्तु स्कंधपर्यायकी दृष्टिसे बहुप्रदेशी अर्थात् संख्यातप्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी व अनन्तप्रदेशी हैं, क्योंकि परमाणुवोंमें द्विप्रदेशी आदि स्कंध होनेके कारणभूत उस प्रकारके स्निग्ध रूक्ष गुणके परिणमनेकी शक्ति होती है ।

सिद्धान्त—१—परमाणु स्कंधपर्यायकी दृष्टिसे बहुप्रदेशी है । २—धर्म, अधर्म, आकाश व प्रत्येक जीवद्रव्य बहुप्रदेशी है । ३—परमाणु व कालद्रव्य एकप्रदेशी हैं ।

दृष्टि—१—स्वजात्यसद्भूतव्यवहार (६७) । २—प्रदेशविस्तार दृष्टि । (२१०) ।

प्रयोग—सब द्रव्योंका परिचय पाकर निज परमात्मद्रव्यसे अतिरिक्त सब पदार्थोंसे उपयोग हटा कर निजपरमात्मद्रव्यमें उपयोग लगाना ॥१३७॥

अब 'कालाणु अप्रदेशी ही है' यह नियम कहते हैं—[समयः तु] काल तो [अप्रदेशः] अप्रदेशी है, [प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य] प्रदेशमात्र पुद्गल परमाणु [आकाशद्रव्यस्य प्रदेशं] आकाश द्रव्यके प्रदेशको [व्यतिपततः] मंदगतिसे उल्लंघन कर रहा हो तब [स

कालस्य पुनरस्य निरन्तरं प्रस्तारविस्तृतप्रदेशमात्रासंख्येयद्रव्यत्वेऽपि परस्परसंपर्कासंभवादेकैक-माकाशप्रदेशमभिव्याप्य तस्थुषः प्रदेशमात्रस्य परमाणोस्तदभिव्याप्तमेकमाकाशप्रदेशं मन्दगत्या व्यतिपततएव वृत्तिः ॥१३८॥

मात्रस्य दव्वजादस्स द्रव्यजातस्य–षष्ठी एकवचन। वदिवददो व्यतिपतत –षष्ठी एक०। सो स –प्र० ए०। पदेसं प्रदेशं–द्वि० ए०। आगासदव्वस्स आकाशद्रव्यस्य–षष्ठी एक०। वट्टदि वर्तते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। निरुक्ति–सम् एति इति समयः, आकाशन्ते सर्वाणि द्रव्याणि यत्र स आकाशः। समास–न प्रदेशः विद्यते यस्य स अप्रदेशः रहिता एकप्रदेशा, आकाशं च तत् द्रव्यं चेति आकाशद्रव्यं तस्य आकाशद्रव्यस्य ॥१३८॥

वर्तते] वह वर्तता है, अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है।

तात्पर्य—काल द्रव्य एकप्रदेशी है, उसके समय नामक परिणमन होता है, वह समय उतना है जितना कि आकाशके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर परमाणुके गमनमे लगता है।

टीकार्थ—द्रव्यतः प्रदेशमात्र होनेसे अप्रदेशी ही है। और कालद्रव्यके पुद्गलकी तरह पर्यायतः भी अनेक प्रदेशीपना नही है, क्योंकि परस्पर अन्तरके बिना प्रस्तारूप विस्तृत प्रदेशमात्र असंख्यात कालद्रव्य होने पर भी परस्पर संपर्क न होनेसे एक एक आकाशप्रदेशको व्याप्त करके रहने वाले कालद्रव्यकी वृत्ति कालाणु से व्याप्त एक आकाशप्रदेशको मन्दगतिसे उल्लंघन करते हुए प्रदेशमात्र परमाणुकी घटनासे प्रकट होती है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे द्रव्योके बहुप्रदेशित्व व एकप्रदेशित्वका कथन किया था। अब इस गाथामे "कालद्रव्य (कालाणु) के एक ही प्रदेश होता है" यह बताया गया है।

अथ कालपदार्थस्य द्रव्यपर्यायौ प्रज्ञपयति—

वदिवददो त देस तस्सम समयो तदो परो पुव्वो ।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धसी ॥१३६॥

नभका प्रदेश लँघने के समय सम कहा समय पर्याय ।
काल द्रव्य त्रैकालिक, समय समुत्पन्नप्रध्वंसी ॥ १३६ ॥

व्यतिपततस्त देश तत्सम समयस्तत पर पूर्व । योऽर्थ स काल समय उत्पन्नप्रध्वंसी ॥ १३६ ॥

यो हि येन प्रदेशमात्रेण कालपदार्थेनाकाशस्य प्रदेशोऽभिव्याप्तस्त प्रदेश मन्दगत्यानि क्रमत परमाणोस्तत्प्रदेशमात्रातिक्रमणपरिमाणेन तन समो य कालपदार्थसूक्ष्मवृत्तिरूपसमय

नामसज्ञ—वदिवदन्त त दस तस्सम समअ तदो पर पुव त अत्थ त काल समअ उप्पणपद्धंसि । धातुसज्ञ—उव पज्ज गतौ प द्धस नाशन । प्रातिपदिक—व्यतिपतत् तत् देश तत्सम समय तत पर पूर्व

प्रयोग—समस्त आश्रयभूत कारणोसे उपयोग हटाकर साधारण निमित्तभूत काल द्रव्य वृत्तिका निमित्त पाकर जो स्वयम सहज परिणमन बने सो होवे एस सुनके अत्यन्त उदास रहनेका पौरुष होने देना ॥१३८॥

अब काल पदार्थके द्रव्य और पर्यायका ज्ञान कराते हैं—[त देश व्यतिपतत] पर माणुके एक आकाशप्रदेशको उलघन करत हुएके [तत्सम] कालके बराबर जो काल है वह [समय] 'समय' है, [तत पूर्व पर] उस समयसे पूर्व तथा पश्चात् रहने वाला [य अर्थ] जो पदार्थ है [स काल] वह कालद्रव्य है [समय उत्पन्नप्रध्वसी] 'समय' उत्पन्न और प्रध्वस वाला है ।

तात्पर्य—एक समय उतना समय है जितना समय परमाणुका एक आकाशप्रदेश उल्लघन करनेमे लगता है, कालद्रव्य नित्य है समय अनित्य है ।

टीकार्थ—प्रदेशमात्र जिस काल पदार्थके द्वारा आकाशका जो प्रदेश व्याप्त हो उस प्रदेशको मन्दगतिसे उल्लघन करत हुए परमाणुके उस प्रदेशमात्र अतिक्रमणके परिमाणके बरा बर जो काल पदार्थकी सूक्ष्मवृत्तिरूप 'समय' है, वह उस काल पदार्थकी पर्याय है । और ऐसी उस पर्यायसे पूर्वकी तथा बादकी वृत्तिरूपसे वर्तित होनेसे जिसका नित्यत्व प्रगट होता है, ऐसा पदार्थ द्रव्य है । इस प्रकार द्रव्यसमय अर्थात् कालद्रव्य अनुत्पन्न अविनष्ट है और पर्यायसमय उत्पत्ति विनाश वाली है । यह समय निरश है, क्योकि यदि ऐसा न हो तो आकाशके प्रदेशका निरशत्व न बनेगा । और एक समयमे परमाणुका लोकपर्यन्त गमन होने पर भी समयके अश नही होते, क्योकि परमाणुके विशेष प्रकारका अवगाह परिणाम होनेसे

न तस्य कालपदार्थस्य पर्यायस्ततः एवंविधात्पर्यायात्पूर्वोत्तरवृत्तिवृत्तत्वेन व्यञ्जितनित्यत्वे योऽर्थः तत्तु द्रव्यम्। एवमनुत्पन्नाविध्वस्तो द्रव्यसमयः, उत्पन्नप्रध्वंसी पर्यायसमयः। अनंशः समयोऽयमाकाशप्रदेशस्यानंशत्वान्यथानुपपत्तेः। न चैकसमयेन परमाणोरालोकान्तगमनेऽपि समयस्य सांशत्वं विशिष्टगतिपरिणामाद्विशिष्टावगाहपरिणामवत्। तथाहि—यथा विशिष्टावगाहपरिणामादेकपरमाणुपरिमाणोऽनन्तपरमाणुस्कन्धः परमाणोरनंशत्वात् पुनरप्यनन्तांशत्वं न साधयति तथा विशिष्टगतिपरिणामादेककालाणुव्याप्तैकाकाशप्रदेशातिक्रमणपरिमाणावच्छिन्नेनैकसमयेनैकस्माल्लोकान्ताद्द्वितीयं लोकान्तमाक्रामतः परमाणोरसंख्येयाः कालाणवः समयस्यानंशत्वादसंख्येयांशत्वं न साधयन्ति ॥१३९॥

[illegible] तत् काल समय उत्पन्नप्रध्वंसिन्। मूलधातु—उत् पद गतौ, प्र ध्वंसु अवस्रंसने। उभयपदविवरण—[illegible] अव्ययनिपातन.–षष्ठी एक०। न देस देश–द्वि एक०। तस्सम तत्सम समओ समय.–प्र० एक०। [illegible] –अव्यय पञ्चम्यर्थे, परो पर पुव्वो पूर्वः जो य अत्थो अर्थ सो स. अत्थो अर्थ कालो [illegible] समओ समयः उप्पण्णपद्धंसी उत्पन्नप्रध्वंसी–प्रथमा एकवचन। निरुक्ति–अर्यते इति अर्थ। समास–[illegible] ॥१३९॥

[illegible] विशिष्ट गतिपरिणाम होता है। स्पष्टीकरण—जैसे विशिष्ट अवगाहपरिणामके कारण [illegible] परमाणुके परिमाणके बराबर अनन्त परमाणुओका स्कंध परमाणुकी अंशरहितता होनेसे परमाणुके फिर और अनन्त अंशोको सिद्ध नही करता, उसी प्रकार एक कालाणुसे व्याप्त [illegible] आकाशप्रदेशके अतिक्रमणके मापके बराबर एक 'समय' मे परमाणु विशिष्ट गतिपरिणाम [illegible] लोकके एक छोरसे दूसरे छोर तक जाता है तब उस परमाणुके द्वारा उलंघित होने [illegible] असंख्य कालाणु 'समय' के असंख्य अंशोको सिद्ध नही करते, क्योंकि 'समय' निरंश है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे कालद्रव्यको एकप्रदेशी बताया गया था। अब [illegible] पदार्थके द्रव्य और पर्यायका ज्ञान कराया गया है।

अथाकाशस्य प्रदेशलक्षणं सूत्रयति—

आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया भणिदं ।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ॥१४०॥

जितना नभ अणु रोके, उतना नभका प्रदेश इक होता ।
उस प्रदेशमें शक्ती, सब अणु अवगाहनेकी है ॥ १४० ॥

आकाशमणुनिविष्टमाकाशप्रदेशसंज्ञया भणितम् । सर्वेषां चाणूनां शक्नोति तद्दातुमवकाशम् ॥ १४० ॥

आकाशस्यैकाणुव्याप्योऽंश किलाकाशप्रदेश स खल्वेकोऽपि शेषपञ्चद्रव्यप्रदेशानां परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कन्धानां चावकाशदानसमर्थः । अस्ति चाविभागैकद्रव्यत्वेऽप्य

नामसंज्ञ—आगास अणुणिविट्ठ आगासपदेससण्णा भणिद सव्व च अणु त अवगास । धातुसंज्ञ—सक्क सामर्थ्ये । प्रातिपदिक—आकाश अणुनिविष्ट आकाशप्रदेशसंज्ञा भणित सर्व च अणु तत् अवकाश ।

शता समाप्त नही होती, क्योंकि परमाणुका कभी एक समयमें ७ या १४ राजू गमन बन तो वह परमाणुकी विशिष्ट गतिका प्रताप है ।

सिद्धान्त—(१) कालद्रव्य नित्य है । (२) समय नामक पर्याय उत्पन्नप्रध्वंसी है ।

दृष्टि—१- उत्पादव्ययगौणसत्ताग्राहक शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२२) । २- शुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय नामक पर्यायार्थिकनय (२४) ।

प्रयोग—कालद्रव्यके अविभागी समय पर्यायकी तरह अपने अविभागी परिणमनका चिन्तन कर गुप्त होकर अपने अविभागी चित्स्वरूपमात्र स्वद्रव्यको निहारना ॥१३६॥

अब आकाशके प्रदेशका लक्षण सूचित करते हैं—[अणुनिविष्ट आकाश] एक परमाणुके द्वारा घेरा गया आकाश [आकाशप्रदेशसंज्ञया] 'आकाशप्रदेश' के नामसे [भणितम्] कहा गया है । [च] और [तत्] वह [सर्वेषां अणूनां] समस्त परमाणुओंको [अवकाशं दातुं शक्नोति] अवकाश देनेके लिये समर्थ है ।

तात्पर्य—एक परमाणु जितने आकाशपर ठहरता है वह एक प्रदेश है, यह प्रदेश सब परमाणुवोंको स्थान देनेमें समर्थ है ।

टीकार्थ—आकाशका एक परमाणुसे व्याप्य अंश आकाशप्रदेश है, और वह एक आकाशप्रदेश भी शेष पाँच द्रव्योंके प्रदेशोंको तथा परम सूक्ष्मतारूपसे परिणत अनन्त परमाणुओंके स्कंधोंको अवकाश देनेमें समर्थ है । अखण्ड एक द्रव्यपना होनेपर भी उसके अंशरूप अंशकल्पना है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सब परमाणुओंका अवकाश देना नहीं बन सकेगा । यदि 'आकाशके अंश नहीं होते' ऐसी किसीकी मान्यता हो तो आकाशमें दो उंगलियाँ फैलाकर

द्रव्येणानेकप्रदेशत्वशक्तियुक्तैकप्रदेशत्वात्पर्यायेण द्विबहुप्रदेशत्वाच्चास्ति तिर्यक्प्रचयः। न पुनः कालस्य शक्त्या व्यक्त्या चैकप्रदेशत्वात्। ऊर्ध्वप्रचयस्तु त्रिकोटिस्पर्शित्वेन सांशत्वाद्द्रव्यवृत्तेः सर्वद्रव्याणामनिवारित एव। अयं तु विशेषः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयः शेषद्रव्याणामूर्ध्वप्रचयः समयप्रचयः एव कालस्योर्ध्वप्रचयः। शेषद्रव्याणां वृत्तेर्हि समयादर्थान्तरभूतत्वादस्ति समयविशिष्टत्वम्। कालवृत्तेस्तु स्वतः समयभूतत्वात्तन्नास्ति ॥१४१॥

नाम। मूलधातु--अस भुवि। उभयपदविवरण—एक्को एकः–प्र० एक०   व वा य च च हि त्ति इति-अव्यय। दुगे–प्र० बहु०। द्वौ–प्र० द्विवचन। बहुगा बहव संखातीदा सख्यातीताः अणता अनन्ता. पदेसा प्रदेशाः–प्रथमा बहुवचन। दव्वाण द्रव्याणा–पष्ठी बहु०। समओ समय –प्र० एक०। कालस्स कालस्य–षष्ठी एक०। सन्ति–वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन। निरुक्ति—एति इति एक, वहन बहु.। समास—संख्याम् अतीता सख्यातीता, न अन्तः येषा ते अनन्ताः ॥१४१॥

तात्पर्य—कालद्रव्यके अनेक प्रदेश न होनेसे तिर्यक्प्रचय नही है, समय होनेसे ऊर्ध्व-प्रचय ही है।

टीकार्थ—प्रदेशोका समूह तिर्यक्प्रचय और समयविशिष्ट वृत्तियोका समूह ऊर्ध्वप्रचय कहलाता है। वहाँ आकाशके अवस्थित अनन्तप्रदेश होनेसे धर्म तथा अधर्मके अवस्थित असंख्य प्रदेश होनेसे जीवके अनवस्थित असख्यप्रदेश होनेसे और पुद्गलके द्रव्यतः अनेक प्रदेशित्वकी शक्ति युक्त एकप्रदेश वाला होनेसे तथा पर्यायत. दो अथवा बहुत प्रदेश वाला होनेसे उनके तिर्यक्प्रचय है, परन्तु कालके तिर्यक्प्रचय नही है, क्योकि वह शक्ति तथा व्यक्तिकी अपेक्षा एक प्रदेश वाला है। ऊर्ध्वप्रचय तो सर्वद्रव्योके अनिवार्य ही है, क्योकि द्रव्यकी वृत्ति भूत, वर्तमान और भविष्य, ऐसे तीनो कालोको स्पर्श करती है, इसलिये अंशोसे युक्त है। परन्तु इतना अन्तर है कि समयविशिष्ट वृत्तियोका प्रचय कालको छोडकर शेष द्रव्योका ऊर्ध्वप्रचय है और समयोका प्रचय कालद्रव्यका ऊर्ध्वप्रचय है, क्योकि शेष द्रव्योकी वृत्ति समयसे अर्थान्तरभूत है। इस कारण शेष द्रव्योकी वृत्ति समयविशिष्ट है, परन्तु कालद्रव्यकी वृत्ति तो स्वतः समयभूत है, इसलिये समयविशिष्ट नहीं है।

अथ कालपदार्थोर्ध्वप्रचयनिरन्वयत्वमुपहन्ति—

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एकसमयम्हि ।
समयस्स सो वि समओ सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥१४२॥

सम्भव विनाश होता, यदि कालका एक समयमें तो वह ।
द्रव्य समयवृत्तिग ध्रुव, स्वभावसमवस्थ है शाश्वत ॥१४२॥

उत्पाद प्रध्वंसो विद्यते यदि यस्यैकसमये । समयस्य सोऽपि समयः स्वभावसमवस्थितो भवति ॥ १४२ ॥

समयो हि समयपदार्थस्य वृत्त्यंशः तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः, परमाणोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारणपूर्वत्वात् । तौ यदि वृत्त्यंशस्यैव किं यौगपद्येन किं क्रमेण, यौगपद्येन चेत् नास्ति यौगपद्यं सममेकस्य विरुद्धधर्मयोरनवतारात् । क्रमेण चेत् नास्ति क्रमः, वृत्त्यंशस्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात् । ततो वृत्तिमान् कोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः, स च समयपदार्थ

नामसंज्ञ—उप्पाद पद्धंस जदि ज एक्कसमय समय त वि समअ सभावसमवट्ठिद । धातुसंज्ञ—विज्ज सत्तायां, हव सत्तायां । प्रातिपदिक—उत्पाद प्रध्वंस यदि यत् एकसमय समय तत् अपि समय स्वभावसमवस्थित । मूलधातु - विद सत्तायां भू सत्तायां । उभयपदविवरण- उप्पादो उत्पाद पद्धंसो प्रध्वंस –प्रथमा

है । (५) जीव चाहे अनवस्थित हैं, परन्तु असंख्यातप्रदेश होनेसे जीवके भी तिर्यक्प्रचय है । (६) पुद्गलके द्रव्यसे अनेकप्रदेश शक्ति शक्तियुक्त एक प्रदेशपना होनेसे, किन्तु पर्यायसे बहुप्रदेशी होनेसे तिर्यकप्रचय है । (७) कालद्रव्यके शक्तिरूपसे भी एकप्रदेशपना होनेसे व व्यक्तरूपसे भी एकप्रदेशपना होनेसे तिर्यकप्रचय नहीं है । (८) ऊर्ध्वप्रचय समस्त द्रव्योंमें होता ही है, क्योंकि समय समयमें पर्यायोंका होना निरन्तर न रहे तो द्रव्यकी सत्ता ही नहीं । (९) जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाशद्रव्यके समय समयपर होने वाले परिणमनोंके समूहरूप ऊर्ध्वप्रचय है । (१०) कालद्रव्यके समय नामक परिणमनोंके समूहरूप ऊर्ध्वप्रचय है ।

सिद्धान्त—(१) अनेकप्रदेशी द्रव्यके तिर्यक्प्रचय होता है ।

दृष्टि—१- प्रदेशविस्तारदृष्टि (२१७) ।

प्रयोग—तिर्यक्प्रचय व ऊर्ध्वप्रचयसे अपने आत्मद्रव्यको पहिचानकर प्रचयके विकल्पों को छोड़कर अखण्ड शुद्ध चिन्मात्र अन्तस्तत्त्वको अनुभवना ॥१४१॥

अब कालपदार्थका ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय है इस शंकाको दूर करते हैं—[यस्य समयस्य] जिस कालका [एक समये] एक समयमें [उत्पाद प्रध्वंसौ] उत्पाद और विनाश [यदि] यदि [विद्यते] पाया जाता है, [स अपि समय] तो वह भी कालाणु [स्वभावसमवस्थितः] स्वभावमें अवस्थित अर्थात् ध्रुव [भवति] होता है ।

एव । तस्य खल्वेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे समुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः । यो हि यस्य वृत्तिमतो यस्मिन् वृत्त्यंशे तद्वृत्त्यंशविशिष्टत्वेनोत्पादः । स एव तस्यैव वृत्तिमतस्तस्मिन्नेव वृत्त्यंशे पूर्ववृत्त्यंशविशिष्टत्वेन प्रध्वंसः । यद्येवमुत्पादव्ययावेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे संभवतः समयपदार्थस्य कथं नाम नि

[illegible] । जदि यदि वि अपि–अव्यय । जस्स यस्य–षष्ठी एक० । एकसमयम्हि एकसमये–सप्तमी एक० । [illegible] समयस्य–षष्ठी एक० । सो स: समओ समय. सब्भावसमवट्ठिदो स्वभावसमवस्थितः–प्रथमा एक०

तात्पर्य—कालद्रव्य भी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है ।

टीकार्थ—समय कालपदार्थका वृत्त्यंश है; उस वृत्त्यंशमे किसीके भी अवश्य उत्पाद तथा विनाश संभवित है; क्योंकि परमाणुके अतिक्रमणके द्वारा उत्पन्न होनेसे वह समयरूपी वृत्त्यंश कारणपूर्वक है । यदि उत्पाद और विनाश वृत्त्यंशके ही माने जायें तो, वे युगपद् हैं या क्रमशः? यदि 'युगपत्' कहा जाय तो युगपतपना घटित नही होता, क्योंकि एक ही समय [illegible] दो विरोधी धर्म नही होते । यदि 'क्रमशः' कहा जाय तो क्रम नही बनता, क्योंकि [illegible] सूक्ष्म होनेसे उसमे विभागका अभाव है । इस कारण कोई वृत्तिमान् अवश्य ढूंढना चाहिये । और वह वृत्तिमान काल पदार्थ ही है । उसके वास्तवमे एक वृत्त्यंशमे भी उत्पाद और विनाश संभव है; क्योंकि जिस वृत्तिमानके जिस वृत्त्यंशमे उस वृत्त्यंशकी अपेक्षासे जो [illegible] है, वही, उसी वृत्तिमानके उसी वृत्त्यंशमे पूर्व वृत्त्यंशकी अपेक्षासे विनाश है । यदि [illegible] उत्पाद और विनाश एक वृत्त्यंशमे भी संभवते है तो काल पदार्थ निरन्वय कैसे हो [illegible] कि पूर्व और पश्चात् वृत्त्यंशकी अपेक्षासे युगपत् विनाश और उत्पादको प्राप्त [illegible] भी स्वभावसे अविनष्ट और अनुत्पन्न होनेसे वह काल पदार्थ अवस्थित न हो? [illegible] काल पदार्थके उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता सिद्ध हुआ ।

स्वयत्व, यत पूर्वोत्तरवृत्त्यशविशिष्टत्वाभ्यां युगपदुपात्तप्रध्वसोत्पादस्यापि स्वभावेनाप्रध्वस्तानुत्पन्नत्वादवस्थितत्वमेव न भवेत्। एवमेकस्मिन् वृत्यशे समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्व सिद्धम् ॥ १४२ ॥

वचन। विज्जदि विद्यत इर्वादि भवति-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। निरुक्ति—उत् पादन उत्पाद प्र ध्वसन प्रध्वस। समास-स्वस्य भाव स्वभाव स्वभावे समवस्थित इति स्वभावसमवस्थित ॥१४२॥

परिणमन माना जाय तो किसी भी एक समयका उत्पाद व्यय एक समयमे सभव नही, क्योकि उत्पाद व व्यय परस्पर विरुद्ध धर्म हैं, किसी भी एक समयका उत्पाद व्यय क्रमसे भी सभव नही, क्योकि अविभागी एक वृत्यश क्रम नही बन सकता। (६) जब कालद्रव्यके वर्तमान समयपरिणमनका उत्पाद है पूर्व समयपरिणमनका व्यय है तब दोनोका आधारभूत कालद्रव्य निरन्वय कैसे कहा जा सकता, कालद्रव्य ध्रुव है और उसके समय नामक परिणमनोकी सतति चलती रहती है। (७) कालद्रव्य वृत्तिमान है और समय नामक परिणमन वृत्यश है, तथा वृत्यश वृत्तिमानसे भिन्नप्रदेशी नही हैं अतः कालद्रव्य भी सब द्रव्योकी भाँति उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है।

सिद्धान्त—(१) कालद्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक सत् है।

दृष्टि—१- सत्तासापेक्ष नित्यशुद्धपर्यायार्थिकनय (६०)।

प्रयोग—समय नामक परिणमनोके उपादानभूत कालद्रव्यके परिचयकी तरह अपने अर्थपर्यायोके उपादानभूत स्वात्मद्रव्यका परिचय करके पर्यायोंका विकल्प छोडकर उनके उपादानभूत कारणसमयसारस्वरूप निज परमात्मद्रव्यकी आराधना करना ॥१४२॥

अब सब वृत्यशोंमे कालपदार्थका उत्पादव्ययध्रौव्यवानपना सिद्ध करते हैं—[एकस्मिन् समये] एक एक समयमे [सभवस्थितिनाशसज्ञिता अर्था] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय सज्ञक धर्म [समयस्य] कालके [सति] होते हैं। [एष हि] यही [सदा काल] सदा [कालाणुसद्भाव] कालाणुका सद्भाव है, अर्थात् यही कालाणुके अस्तित्वकी सिद्धि है।

तात्पर्य—कालद्रव्य प्रतिसमय उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, यों इसका सदा अस्तित्व है।

टीकार्थ—काल पदार्थके सभी वृत्यशोंमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते हैं, क्योंकि एक वृत्यशमे वे उत्पादव्ययध्रौव्य देखे जाते हैं। और यह युक्त ही है, क्योंकि विशेष अस्तित्व सामान्य अस्तित्वके बिना नही हो सकता। यही कालपदार्थके सद्भावकी सिद्धि है। (क्योंकि) यदि विशेष और सामान्य अस्तित्व सिद्ध होते हैं तो वे अस्तित्वके बिना किसी भी प्रकारसे

अथ सर्ववृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं साधयति—

एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा ।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥१४३॥

एक समयमें होते, संभव व्यय ध्रौव्य सर्वद्रव्योंके ।
कालाणुमें भी ऐसा, स्वभाव है सर्वदा निश्चित ॥१४३॥

एकस्मिन् सन्ति समये संभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्थाः । समयस्य सर्वकाल एष हि कालाणुसद्भावः ॥१४३॥

अस्ति हि समस्तेष्वपि वृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वमेकस्मिन् वृत्त्यंशे तस्य दर्शनात्, उपपत्तिमच्चैतत् विशेषास्तित्वस्य सामान्यास्तित्वमन्तरेणानुपपत्तेः । अयमेव च समयपदार्थस्य सिद्धयति सद्भावः । यदि विशेषसामान्यास्तित्वे सिद्धयतस्तदा त अस्तित्वमन्तरेण न सिद्धयतः कथंचिदपि ॥ १४३ ॥

नामसंज्ञ—एग समय सभवठिदिणाससण्णिद अट्ठ समय सव्वकाल एत हि कालाणुसब्भाव । धातुसंज्ञ—अस सत्तायां । प्रातिपदिक—एक समय सभवस्थितिनाशसज्ञित अर्थ समय सर्वकाल एतत् हि कालाणुसद्भाव । मूलधातु—अस् भुवि । उभयपदविवरण—एगम्हि एकस्मिन् समये-सप्तमी एक० । संभवठिदिणाससण्णिदा सभवस्थितिनाशसज्ञिता. अट्ठा अर्थाः-प्रथमा बहु० । समयस्स समयस्य-षष्ठी एक० । सव्वकालं-अव्यय विशेषण, एस एष कालाणुसब्भावो कालाणुसद्भावः-प्रथमा एकवचन । निरुक्ति- सं भवनं संभव:, स्थानं स्थिति, नशनं नाश । समास—संभवश्च स्थितिश्च नाशश्च संभवस्थितिनाशाः ते संज्ञिता इति स० ॥ १४३ ॥

सिद्ध नहीं होते ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे कालद्रव्यके ऊर्ध्वप्रचयकी निरन्वयताका निराकरण किया था । अब इस गाथामे कालपदार्थका उत्पादव्ययध्रौव्यपना सिद्ध किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) समयनामक परिणमन विशेष अस्तित्व है । (२) विशेष अस्तित्व सामान्य अस्तित्वके बिना नहीं होता । (३) समय नामक परिणमनविशेषका उपादान कालद्रव्य है । (४) कालद्रव्य समस्त समयोमे उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है ।

अथ कालपदार्थस्यास्तित्वान्यथानुपपत्त्या प्रदेशमात्रत्वं साधयति—

जस्स ण संति पदेसा पदेसमेत्तं व तच्चदो णादुं ।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥१४४॥

जिसका प्रदेश नहिं हो, वह शून्य हुआ पदार्थ कैसे हो ।
क्योंकि प्रदेशरहित तो, सत्तासे भिन्न कुछ न रहा ॥ १४४ ॥

यस्य न सन्ति प्रदेशाः प्रदेशमात्रं वा तत्त्वतो ज्ञातुम् । शून्यं जानीहि तमर्थमर्थान्तरभूतमस्तित्वात् ॥१४४॥

अस्तित्वं हि तावदुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मिका वृत्तिः । न खलु सा प्रदेशमन्तरेण सूत्र्यमाणा कालस्य संभवति, यतः प्रदेशाभावे वृत्तिमदभावः । स तु शून्य एव, अस्तित्वसंज्ञाया

नामसंज्ञ—ज ण पदेस पदेसमेत्त व तच्चदो सुण्ण त अत्थ अत्थंतरभूद अत्थि । धातुसंज्ञ—अस सत्तायां, जाण अवबोधने । प्रातिपदिक—यत् न प्रदेश प्रदेशमात्र वा तत्त्वत शून्य तत् अर्थ अर्थान्तरभूत अस्तित्व । मूलधातु—अस् भुवि ज्ञा अवबोधने । उभयपदविवरण—जस्स यस्य-षष्ठी एक० । ण न व वा-अव्यय । पदेसा प्रदेशाः-प्रथमा बहु० । पदेसमेत्तं प्रदेशमात्र-प्र० एक० । तच्चदो तत्त्वतः-अव्यय पंचम्यर्थ ।

विशेषोंका विकल्प छोड़कर निज परमात्मद्रव्यमें उपयोगको लगाना व रमाना ॥१४३॥

अब कालपदार्थके अस्तित्वकी अन्यथा अनुपपत्तिके द्वारा कालपदार्थका प्रदेशमात्रत्व सिद्ध करते हैं—[यस्य] जिस पदार्थके [प्रदेशाः] प्रदेश [प्रदेशमात्रं वा] अथवा एकप्रदेश भी [तत्त्वतः] परमार्थतः [ज्ञातुम् न सन्ति] जाननेके लिये नहीं हैं, [तं अर्थं] उस पदार्थको [शून्यं जानीहि] शून्य जानो [अस्तित्वात् अर्थान्तरभूतम्] क्योंकि वह अस्तित्वसे अर्थान्तरभूत अर्थात् अन्य है ।

तात्पर्य—जिसके प्रदेश नहीं वह पदार्थ ही नहीं है ।

टीकार्थ—अस्तित्व तो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी ऐक्यस्वरूपवृत्ति है । वह प्रदेशके बिना ही कालके होती है यह कथन संभवता नहीं है, क्योंकि प्रदेशके अभावमें वर्तिमानका अभाव होता है । सो अस्तित्व नामक वृत्तिसे अर्थान्तरभूत होनेसे वह तो शून्य ही है और मात्र वृत्ति ही काल हो नहीं सकती क्योंकि वृत्तिमान्के बिना वृत्ति नहीं हो सकती । यदि यह कहा जाय कि वृत्तिमान्के बिना भी वृत्ति हो सकती है तो, अकेली वृत्ति उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी एकतारूप कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि—'अनादि अनन्त निरन्तर अनेक अंशोंके कारण एकात्मकता होती है इसलिये, पूर्व पूर्व अंशोंका नाश होता है, और उत्तर उत्तरके अंशोंका उत्पाद होता है तथा एकात्मकतारूप ध्रौव्य रहता है, इस प्रकार मात्र अकेली वृत्ति भी उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी एकतास्वरूप हो सकती है' सो ऐसा नहीं है । क्योंकि

अथैवं ज्ञेयतत्त्वमुक्त्वा ज्ञानज्ञेयविभागेनात्मानं निश्चिन्वन्नात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय व्यवहारजीवत्वहेतुमालोचयति—

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो ।
जो तं जाणदि जीवो पाणचदुक्काभिसंबद्धो ॥१४५॥

सप्रदेश अर्थोसे, समग्र यह लोक नित्य निष्ठित है ।
उसका ज्ञाता जीव हि, वह जगमे प्राणसंयोगी ॥१४५॥

सप्रदेशै. समग्रो लोकोऽर्थैनिष्ठितो नित्यः । यस्त जानाति जीव. प्राणचतुष्काभिसवद्ध ॥ १४५॥

एवमाकाशपदार्थादाकालपदार्थाच्च समस्तैरेव संभावितप्रदेशसद्भावैः पदार्थैः समग्र एव यः समाप्ति नीतो लोकस्त खलु तदन्त पातित्वेऽप्यचिन्त्यस्वपरपरिच्छेदशक्तिसंपदा जीव एव जानीते नत्वितरः । एव शेषद्रव्याणि ज्ञेयमेव, जीवद्रव्यं तु ज्ञेय ज्ञान चेति ज्ञानज्ञेयविभाग. । अस्यात्र जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूत-

---

नामसंज्ञ—सपदेस समग्ग लोग अट्ठ णिट्ठिद णिच्च ज त जीव पाणचदुक्काहिसबद्ध । धातुसंज्ञ—जाण अवबोधने, अण प्राणने । प्रातिपदिक—सप्रदेश समग्र लोक अर्थ निष्ठित नित्य यत् तत् जीव प्राण-

---

कालद्रव्यका एक परिणमन समय है, कालद्रव्यका एकदेशमे परिणमन समय नही है, अतः काल एकप्रदेशी है । (१३) कालद्रव्यमे तिर्यक्प्रचय नही होता, क्योकि कालद्रव्य बहुप्रदेशी नही । (१४) यदि कोई कालद्रव्यको लोकाकाश बराबर असंख्यातप्रदेशी माने तो वहाँ काल द्रव्यके एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर दूसरेसे तीसरेपर यो परमाणुकी गतिसे समय संतति मानी जावेगी सो वह तिर्यक्प्रचय भी ऊर्ध्वप्रचय बन गया, तिर्यक्प्रचय न रहा । (१५) जहाँ तिर्यक्प्रचय नही वहाँ बहुत प्रदेश नही होते, सो कालद्रव्य एकप्रदेशी ही है ।

सिद्धान्त—(१) उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होनेसे कालद्रव्य सत् है । (२) समयमात्र [illegible] कालद्रव्य एकप्रदेशी है ।

तया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि ससारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसबद्धत्व व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति ॥१४५॥

चतुष्काभिसबद्ध । मूलधातु—ज्ञा अवबोधने, अन प्राणन । उभयपदविवरण—सपदेसेहिं सप्रदेश अट्ठेहि अर्थ –तृतीया बहुवचन । समग्गो समग्र लोगो लोक णिच्चो नित्य जो य जीवो जीव पाणचदुक्काभिसबद्धो प्राणचतुष्काभिसबद्ध –प्रथमा एकवचन । त–द्वितीया एक० । जाणदि जानाति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । णिट्ठिदो निष्ठित –प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । निरुक्ति—सम सकल यथा स्यात्तथा गृह्यते इति समग्र, नियमेन भव नित्य प्राणिति जीवति अनेन इति प्राण । समास—प्रदेशैन सहिता सप्रदेशा ते प्राणाना चतुष्क प्राणचतुष्क तेन अभिसबद्ध प्रा० ॥१४५॥

लोक [नित्य] नित्य है [त] उसे [य जानाति] जो जानता है [जीव] वह जीव है, [प्राणचतुष्काभिसबद्ध] जो कि ससार दशामे चार प्राणोसे सयुक्त है ।

तात्पर्य—जो जाने यह जीव है और ससारी जीव इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणोंसे सयुक्त है ।

टीकार्थ— इस प्रकार प्रदेशका सद्भाव है जिनके ऐसे आकाशपदार्थसे लेकर काल पदार्थ तकके सभी पदार्थोंसे सपूर्णताको प्राप्त जो समस्त लोक है उसको वास्तवमे, उसमे अन्तर्भूत होनेपर भी, स्वपरको जाननेकी अचिन्त्य शक्तिरूप सम्पत्तिके द्वारा जीव ही जानता है दूसरा कोई नही । इस प्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही हैं, परन्तु जीवद्रव्य ज्ञेय तथा ज्ञान है, इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयका विभाग है । अब इस जीवके सहजरूपसे (स्वभावसे ही) प्रगट अनन्तज्ञानशक्ति हेतु है जिसका और तीनो कालमें अवस्थायित्व लक्षण है जिसका ऐसा, वस्तुका स्वरूपभूत होनेसे सर्वदा अविनाशी निश्चयजीवत्व होनेपर भी, ससारावस्थामे अनादिप्रवाहरूपसे प्रवर्तमान पुद्गलसश्लेषके द्वारा स्वय दूषित होनेसे उसके चार प्राणोंसे सयुक्तता व्यवहारजीवत्वका हेतु है, और विभक्त करने योग्य है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कालद्रव्यविषयक वर्णन कर चुकनेपर ज्ञेयतत्त्व का वर्णन समाप्त कर दिया गया । अब ज्ञानज्ञेयविभाग द्वारा अपने विविक्त सहज स्वरूपका निश्चय करनेके लिये व्यवहार जीवत्वके कारणका इस गाथामें विचार किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) समग्र द्रव्योमें केवल जीव ही जाननहार पदार्थ है, क्योकि जीवमें ही स्वपरका परिच्छेदन (विभाग, जानन) की शक्ति है । (२) जीवद्रव्य ज्ञान है व ज्ञेय भी है । (३) पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल ये ५ प्रकारके द्रव्य ज्ञेय ही हैं । (४) जीव स्वरूपत अनन्तज्ञानशक्तिका हेतुभूत सहजज्ञानस्वभावमय है । (५) जीवमे ससारावस्थामें अनादिप्रवाहसे बल आयु पुद्गलोंसे सश्लिष्ट होनेसे चार प्राणोंसे सयुक्त है । (६) यही प्राण

अथ के प्राणा इत्यावेदयति--

इंदियपाणो य तधा वलपाणो तह य आउपाणो य ।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥ १४६ ॥

इन्द्रिय वल आयु तथा, श्वासोच्छ्वास युत प्राण चारो ये ।
संसारी जीवोके, होते है जीवते जिनसे ॥ १४६ ॥

[illegible] तथा वलप्राणस्तथा चायु प्राणश्च । आनपानप्राणो जीवाना भवन्ति प्राणास्ते ॥ १४६ ॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुः श्रोत्रपञ्चकमिन्द्रियप्राणाः, कायवाङ्मनस्त्रयं वलप्राणाः, भवधा-

---

नामसंज्ञ—[illegible]दियपाण य तधा वलपाण तह य आउपाण य आणप्पाणप्पाण जीव पाण ते । धातुसंज्ञ—[illegible] सत्तायां । प्रातिपदिक—इन्द्रियप्राण च तथा वलप्राण तथा च आयु प्राण च आनपानप्राण जीव [illegible] । मूलधातु—भू सत्तायां । उभयपदविवरण—इदियपाणो इन्द्रियप्राण वलपाणो वलप्राण आउपाणो [illegible] आणप्पाणप्पाणो आनपानप्राण —प्रथमा एकवचन । य च तधा तथा तह तथा—अव्यय ।

[illegible]भिनवद्धता व्यवहारजीवत्वका हेतु है । (७) व्यवहार जीवत्वके हेतुवोका व व्यवहार [illegible] अभाव होनेसे प्रकट निश्चयजीवत्व ही प्रभुता है ।

सिद्धान्त—(१) कर्मोपाधि विपाकवश जीव सविकार हो रहा है । (२) स्वरूपदृष्टिसे [illegible] परिणमन होता है ।

दृष्टि—१- उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४) । २- शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध [illegible], [illegible]भावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब, २४अ) ।

प्रयोग—[illegible]हेतुवोसे व व्यवहारजीवत्वसे सदाके लिये विविक्त होनेके लिये [illegible] निरन्तर केवल सहज परमात्मतत्त्वकी उपासना करना ॥१४५॥

[illegible] है, यह बतलाते हैं--[इन्द्रियप्राणः च] इन्द्रियप्राण [तथा बल[illegible]] [illegible], [तथा च आयुःप्राणः] तथा आयुप्राण [च] और [आनपानप्राण.] [illegible] [ते] वे [जीवानां] जीवोके [प्राणाः] प्राण [भवन्ति] हैं ।

[illegible]—[illegible] इन्द्रियबल आयु व श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते है ।

रणनिमित्तमायुःप्राण । उदञ्चनन्यञ्चनात्मको मरुदानपानप्राण ॥ १४६ ॥

जीवाण जीवानाम्-षष्ठी बहुवचन । होंति भवन्ति-वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । पाणा प्राणाः प्र-थमा बहुवचन । निरुक्ति—इन्द्रस्य लिङ्ग इन्द्रिय, बलन बल, एति भव इति आयु, अणन आन । समास—प्रकृष्ट आन प्राण ॥१४६॥

तथ्यप्रकाश—(१) प्राण चार हैं—इन्द्रियप्राण, बलप्राण, आयुप्राण व श्वासोच्छ्वास प्राण । (२) उक्त चार प्राण ससारी जीवोके पाये जाते हैं किन्तु अपर्याप्त अवस्थामे श्वासो च्छ्वास प्राण बिना ३ प्राण पाये जाते है । (३) प्राणोके प्रभेद होनेसे प्राण १० होते हैं—५ इन्द्रियप्राण, ३ बलप्राण, १ आयुप्राण, १ श्वासोच्छ्वास प्राण । (४) इन प्राणोमे ५ भावे न्द्रियोको इन्द्रियप्राण कहा गया है । (५) मन, वचन, कायके अवलम्बनसे प्रकट हुई जीव शक्तिको बलप्राण कहा गया है । (६) आयुकर्मके उदयको आयुप्राण कहा गया है । (७) श्वास के आने निकलनेको श्वासोच्छ्वास प्राण कहा गया है । (८) उक्त प्राणोमे से किसीका वियोग होनेपर इन सभी प्राणोका वियोग हो जाता है, किन्तु अनन्तर समयमें ही अन्य प्राणोका सयोग मिल जाता है । (९) रत्नत्रयके तेजसे इन प्राणोका वियोग होनेपर फिर ये कभी नहीं मिलते, एक शुद्ध चैतन्यप्राणसे ही सदाके लिये अनन्त ज्ञानानन्दमय अवस्था रहती है ।

सिद्धान्त—(१) जीवका व्यवहार प्राणमय होना अशुद्धावस्था है । (२) निरुपाधि शुद्ध चैतन्यप्राणविकासरूप होना जीवकी शुद्धावस्था है । (३) जीव स्वय सहज शुद्ध चैतन्य प्राणमय है ।

दृष्टि—१- अशुद्ध निश्चयनय (४७) । २- शुद्ध निश्चयनय (४६) । ३- अखण्ड परमशुद्धनिश्चयनय (४४) ।

प्रयोग—व्यवहारप्राणोकी दशाकी आकुलता दूर करनेके लिये सहज चैतन्यप्राणमात्र अन्तस्तत्त्वका अनुभव करना ॥१४६॥

अब निरुक्ति द्वारा प्राणोको जीवत्वका हेतुत्व और उनका पौद्गलिकत्व सूचित करते हैं— [य हि] जो [चतुर्भि प्राणै] चार प्राणोंसे [जीवति] जीता है, [जीविष्यति] जियेगा, [पूर्व जीवित] और पहले जीता था, [स जीव] वह जीव है । [पुन] और [प्राणा] वे प्राण [पुद्गलद्रव्यैं निर्वृत्ता] पुद्गल द्रव्योंसे रचित हैं ।

तात्पर्य—ससारमे जीव पौद्गलिक प्राणोके सम्बन्धसे उस उस भवमे जीता है, किन्तु यह जीवका स्वभाव नही ।

टीकार्थ—जो प्राणसामान्यसे जीता है, जियेगा, और पहले जीता था वह जीव है ।

अथ प्राणानां निरुक्त्या जीवत्वहेतुत्वं पौद्गलिकत्वं च सूत्रयति—

पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीवस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो पाणा पुण पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥१४७॥

जीवित थे जीवेंगे, जीवते है जो चार प्राणोसे ।
वे जीव किन्तु प्राण हि, निर्वृत्त पौद्गलिक द्रव्योसे ॥१४७॥

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यो हि जीवित पूर्वम् । स जीवः प्राणा पुन· पुद्गलद्रव्यैर्निर्वृत्ता ।१४७।

प्राणसामान्येन जीवति जीविष्यति जीवितवांश्च पूर्वमिति जीवः । एवमनादिसंतान· प्रवर्तमानतया त्रिसमयावस्थत्वात्प्राणसामान्य जीवस्य जीवत्वहेतुरस्त्येव तथापि तन्न जीवस्य स्वभावत्वमवाप्नोति पुद्गलद्रव्यनिर्वृत्तत्वात् ॥१४७॥

नामसंज्ञ—पाण चदु ज हि जीविद पुव्व त जीव पाण पुण पुग्गलदव्व णिव्वत्त । धातुसंज्ञ—जीव [illegible] । प्रातिपदिक—प्राण चतुर् यत् हि जीवित पूर्वम् तत् जीव प्राण पुनर् पुद्गलद्रव्य, निर्वृत्त । मूलधातु—जीव प्राणधारणे । उभयपदविवरण—पाणेहि प्राणै चदुहि चतुर्भि. पुग्गलदव्वेहिं पुद्गलद्रव्य- [illegible] । जीवदि जीवति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । जीविस्सदि जीविष्यति–भविष्यत् अन्य० [illegible] क्रिया । जीविदो जीवितः–प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । जो यः सो स जोवो जीव·–प्रथमा एक० । [illegible] पुण पुन.–अव्यय । पाणा प्राणा.–प्रथमा बहु० । णिव्वत्ता निर्वृत्ता –प्रथमा बहुवचन । निर- [illegible] । पूरति, गलति गलति इति पुद्गल. । समास—पुद्गलाश्च तानि द्रव्याणि चेति [illegible] द्रव्याणि चेति वा पुद्गलद्रव्याणि तै ॥१४७॥

[illegible] अनादि सतानरूपसे प्रवर्तमान होनेसे संसार दशामे त्रिकाल स्थायी होनेसे प्राण- [illegible] हेतु है ही, तथापि वह जीवका स्वभाव नही है, क्योकि प्राण पुद्- [illegible] है ।

[illegible]—अनन्तरपूर्व गाथामे व्यवहारजीवत्वके हेतुभूत प्राणोका निर्देश किया [illegible] । [illegible] गाथामे इन प्राणोको निरुक्ति करके उन्हे पुद्गलद्रव्योसे रचा गया बत- [illegible] है ।

अथ प्राणाना पौद्गलिकत्व साधयति–

जीवो पाणणिवद्धो वद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।
उवभु ज कम्मफल वज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥१४८॥

प्राणनिवद्ध जीव यह मोहादिक कर्मसे बँधा होकर ।
भोगता कर्मफलको, बँध जाता द्रव्यकर्मोंसे ॥१४८॥

जीव प्राणनिवद्धो वद्धो मोहादिक कर्मभि । उपभुजान कर्मफल वध्यतेऽन्य कर्मभि ॥ १४८ ॥

यतो मोहादिभि पौद्गलिककर्मभिर्बद्धत्वाज्जीव प्राणनिबद्धो भवति । यतश्च प्राण

नामसज्ञ—जीव पाणणिवद्ध वद्ध माहादिअ कम्म उवभुजतार कम्मफल अण्ण कम्म । धातुसज्ञ—वध वधने । प्रातिपदिक—जीव प्राणनिवद्ध बद्ध मोहादिक कर्मन् उपभुजान कर्मफल अन्य कर्मन् । मूलधातु—

सिद्धान्त—(१) पुद्गलकर्म उपाधिके सान्निध्यमे जीव चार प्राणोसे जीता है ।

दृष्टि—१– उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (५३) ।

प्रयोग—इन्द्रिय, बल, आयु, आनपान प्राणोको पौद्गलिक जानकर इनसे भिन्न अपने शाश्वत चैतन्यप्राणमय अपनी आराधना करना ॥१४७॥

अब प्राणोका पौद्गलिकपना सिद्ध करते हैं—[मोहादिकै कर्मभि] मोहनीय आदिक कर्मोंसे [बद्ध] बँधा हुआ [जीव] जीव [प्राणनिवद्ध] प्राणोंसे सयुक्त होता हुआ [कर्मफल उपभुजान] कर्मफलको भोगता हुआ [अन्य कर्मभि] नवीन कर्मोंसे [बध्यते] बँधता है ।

तात्पर्य—यह ससारी जीव मोहनीयादि कर्मसे बँधा हुआ प्राणसयुक्त होकर कर्मफल को भोगता हुआ नवीन कर्मोंसे बँधता रहता है ।

टीकार्थ—चूकि मोहादिक पौद्गलिक कर्मोंसे बँधा हुआ होनेसे जीव प्राणोंसे सयुक्त होता है, और चूकि प्राणोंसे सयुक्त होनेके कारण पौद्गलिक कर्मफलको भोगता हुआ फिर भी अन्य पौद्गलिक कर्मोंसे बँधता है, इस कारण पौद्गलिक कर्मका कार्यपना होनेसे और पौद्गलिक कर्मका कारणपना होनेसे प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते हैं ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे जीवके जीवत्वव्यवहारका हेतु चार प्राणोको बताया गया था । अब इस गाथामे प्राणोंको पौद्गलिकता सिद्ध की गई है ।

तथ्यप्रकाश—(१) मोहादिक पौद्गलिक कर्मोंसे बद्ध होनेके कारण जीव चार प्राणों से संयुक्त होता है । (२) प्राणसयुक्त होनेसे पौद्गलिक कर्मफलोको भोगता हुआ यह जीव अन्य पौद्गलिक कर्मोंसे बँध जाता है । (३) इन्द्रिय बल आदि प्राण पौद्गलिक कर्मके कार्य हैं व पौद्गलिक कर्मके कारण हैं अत प्राण पौद्गलिक हैं । (४) मोहादिकर्मफलबद्ध

निबद्धत्वात्पौद्गलिककर्मफलमुपभुञ्जानः पुनरप्यन्यैः पौद्गलिककर्मभिर्बध्यते । ततः पौद्गलिककर्मकार्यत्वात्पौद्गलिककर्मकारणत्वाच्च पौद्गलिका एव प्राणा निश्चीयन्ते ॥१४८॥

[illegible] बन्धने । उभयपदविवरण—जीवो जीवः पाणणिबद्धो प्राणनिबद्धः बद्धो बद्ध –प्रथमा एकवचन । मोहादिएहिं मोहादिकैः कम्मेहिं कर्मभिः अण्णेहिं अन्यैः–तृतीया बहु० । उवभुंज उपभुञ्जान –प्रथमा एक० [illegible] । [illegible] कर्मफल–द्वितीया एकवचन । बज्झदि बध्यते–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन भावकर्म [illegible] । निरुक्ति—फलन फल्यते इति वा फलम् । समास— प्राणै. निबद्ध. प्राणनिबद्ध , कर्मण. फलं [illegible] कर्मफलम् ॥ १४८ ॥

[illegible] जीव प्राणसंयुक्त होता है, कर्मबन्धरहित जीव प्राणसयुक्त नही होता । (५) प्राणी [illegible] निजस्वभावावलम्बन समुत्पन्न विशुद्ध आनन्दको न पाता हुआ कर्मफलको भोगता है ।

सिद्धान्त—(१) प्राण पौद्गलिक है ।

दृष्टि—१– विवक्षितैकदेश शुद्धनिश्चयनय (४८) ।

प्रयोग—पौद्गलिक प्राणोका लगाव न रखकर सहज चित्स्वभावमय आत्मसत्त्वहेतु-[illegible] अपनेको अनुभवना ॥१४८॥

अब प्राणोंके पौद्गलिक कर्मका कारणपना प्रगट करते है—[यदि] यदि [जीवः] जीव [मोहद्वेषाभ्यां] मोह और द्वेषसे [जीवयोः] स्व तथा पर जीवोके [प्राणाबाधं करोति] प्राणोंका घात करता है [हि] तो अवश्य ही [ज्ञानावरणादिकर्मभिः सः बंधः] ज्ञानावरणादि [illegible] प्रकृति स्थिति आदि रूप बंध [भवति] होता है ।

तात्पर्य—मोह रागद्वेषवश स्व पर प्राणोका घात करने वाला जीव अवश्य ही कर्मों[illegible] [illegible] है ।

टीकार्थ—प्राणोंसे जो जीव कर्मफलको भोगता है; उसे भोगता हुआ मोह तथा द्वे

अथ प्राणाना पौद्गलिककर्मकारणत्वमुन्मीलयति—

पाणाबाध जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाण ।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ॥१४६॥

मोह राग द्वेषो वश, जीव स्वपरप्राणघात करता यदि ।
तो ज्ञानावरणादिक, कर्मोंसे बन्ध हो जाता ॥ १४६ ॥

प्राणाबाध जीवो मोहप्रद्वेषाभ्यां करोति जीवयो । यदि स भवति हि बन्धो ज्ञानावरणादिकर्मभि ॥१४६॥

प्राणैर्हि तावज्जीव कर्मफलमुपभुङ्क्ते, तदुपभुञ्जानो मोहप्रद्वेषावाप्नोति ताभ्यां स्वजीवपरजीवयो प्राणाबाध विदधाति । तदा कदाचित्परस्य द्रव्यप्राणानाबाध्य कदाचिदनाबाध्य स्वस्य भावप्राणानुपरक्तत्वेन बाधमानो ज्ञानावरणादीनि कर्माणि बध्नाति । एव प्राणा पौद्गलिककर्मकारणतामुपयान्ति ॥ १४६ ॥

नामसंज्ञ—पाणाबाध जीव मोहपदेस जीव जदि त हि बंध णाणावरणादिकम्म । धातुसंज्ञ—कुण करणे, हव सत्तायां । प्रातिपदिक-प्राणाबाध जीव मोहप्रद्वेष जीव यदि तत् हि बन्ध ज्ञानावरणादिकर्मन् । मूलधातु- डुकृञ् करणे, भू सत्तायां । उभयपदविवरण—पाणाबाध प्राणाबाधं-द्वितीया एक० । जीवो जीव सो स बंधो बन्ध -प्रथमा एक० । मोहपदेसेहिं-तृतीया बहु० । मोहप्रद्वेषाभ्यां-तृतीया द्विवचन । कुणदि करोति हवदि भवति-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । जीवाण-षष्ठी बहु० । जीवयो -षष्ठी द्विवचन । जदि यदि हि-अव्यय । णाणावरणादिकम्मेहिं ज्ञानावरणादिकर्मभि -तृतीया बहुवचन । निरुक्ति- मुह्यते अनेन भावेन इति मोह । समास—प्राणानां आबाध प्राणाबाध त मोहश्च प्रद्वेषश्च मोहप्रद्वेषौ ताभ्यां ॥ १४६ ॥

प्रकारसे प्राण पौद्गलिक कर्मोंके कारणभूत होते हैं ।

सिद्धान्त—१- प्राणपौद्गलिककर्मबन्धके कारणभूत होते हैं ।

दृष्टि—१- निमित्तदृष्टि, निमित्तपरम्परादृष्टि (५३अ, ५३ब) ।

प्रयोग—आत्मरक्षाके लिये सहजात्मस्वरूपके ज्ञानबल द्वारा प्राणप्रेरित भावोंसे अप्रभावित होते हुए अपनेको शाश्वत सहज चैतन्यप्राणमय अनुभवना ॥१४६॥

अब पौद्गलिक प्राणोंकी परम्पराकी प्रवृत्तिका अन्तरंगहेतु सूचित करते हैं—[कर्ममलीमस आत्मा] कर्मसे मलीन आत्मा [पुन पुन] तब तक पुन पुन [अन्यान् प्राणान्] अन्य नवीन प्राणोंको [धारयति] धारण करता है । [यावत्] जब तक [देहप्रधानेषु विषयेषु] देहप्रधान विषयोंमें [ममत्व] ममत्वको [न त्यजति] नहीं छोड़ता ।

तात्पर्य—कर्मसे मलिन जीव विषयोंमें ममत्व करके अन्य अन्य प्राणोंको धारण करता है अर्थात् जन्म लेता रहता है ।

वात्यन्तविशुद्धमुपयोगमात्रमात्मानं सुनिश्चलं केवलमधिवसतः स्यात् । इदमत्र तात्पर्यं आत्मनोऽत्यन्तविभक्तसिद्धये व्यवहारजीवत्वहेतवः पुद्गलप्राणा एवमुच्छेत्तव्याः ॥ १५१ ॥

आत्मानं-द्वितीया एकवचन । झादि ध्यायति रंजदि रज्यते-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । कम्मेहि कर्मभिः-तृतीया बहुवचन । ण न किह कथं-अव्यय । पाणा प्राणाः-प्रथमा बहुवचन । अणुचरंति अनुचरन्ति-वर्तमान अन्य० बहुवचन क्रिया । निरुक्ति-इन्द्रस्य संसारिणः आत्मनः लिङ्गं इन्द्रियम् । समास-इन्द्रियाणां विजयी इन्द्रियविजयी ॥१५१॥

आत्माकी अत्यन्त विभक्तताकी सिद्धि करनेके लिये व्यवहारजीवत्वके हेतुभूत पौद्गलिक प्राण इस प्रकार हटाने योग्य हैं ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें पौद्गलिक प्राणोंकी संततिकी प्रवृत्तिका अन्तरङ्ग कारण बताया गया था । अब इस गाथामें पौद्गलिक प्राणोंकी सतति हटे उसका उपायभूत अन्तरङ्ग कारण ग्रहण कराया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) पुद्गलप्राणसंततिकी प्रवृत्तिका अन्तरङ्ग कारण देहादिविषयक ममत्व है । (२) पुद्गलप्राणसंततिकी निवृत्तिका अन्तरङ्ग कारण मोह राग द्वेषरूप उपरागका निर्मूल हट जाना है । (३) देहादिविषयक उपरागका अभाव इन्द्रियविजयी आत्माके होता है । (४) इन्द्रियविजय कषायविजय होनेपर ही संभव है । (५) कषायविजय अकषाय ज्ञानस्वभावके अवलम्बनसे होता है । (६) इन्द्रियविजय व कषायविजयकी प्रक्रिया अतीन्द्रिय आत्मीय आनन्दामृतसे संतोष पानेके बलपर होता है । (७) सर्वक्लेशोंके आधारभूत पौद्गलप्राणोंके विनाशका उपाय कषायविजय व इन्द्रियविजय है ।

सिद्धान्त—१- विषयकषायविजयरूप चारित्रसे पौद्गलिकप्राणशून्य आत्माकी सहज [illegible] होती है । २- ज्ञानमात्र आत्मामें आत्मसर्वस्वताके मननसे इन्द्रियकषायविजय [illegible] स्थिति होती है ।

उत्पन्नश्चैवंविध. पर्याय:, अनेकद्रव्यसंयोगात्मत्वेन केवलजीवव्यतिरेकमात्रस्यैकद्रव्यपर्यायस्यास्खलितस्यान्तरवभासनात् ॥ १५२ ॥

अर्थ पज्जाओ पर्याय सो स –प्रथमा एकवचन । सठाणादिप्पमेदेहिं संस्थानादिप्रभेदै –तृतीया बहुवचन। निच्छिद–अर्थेन निश्चीयते य. स अर्थ । समास–अस्तित्वेन निश्चित. अ० तस्य, संस्थानादीना प्रभेदा संस्थानादिप्रभेदा तै संस्थानादिप्रभेदै ॥१५२॥

विभावद्रव्यव्यञ्जन पर्याय हो जाता है । ४–पुद्गल पुद्गलोके बन्धनसे समानजातीय विभावद्रव्यव्यञ्जन पर्याय होता है । ५– जीव पुद्गलोके बन्धनसे असमानजातीय विभावद्रव्यव्यञ्जन पर्याय होता है । ६– अनेक द्रव्योका संयोग होनेपर जीव कही पुद्गलोके साथ एकरूप पर्याय नही करता । ७– विभावद्रव्यव्यञ्जन पर्यायके समय भी एक द्रव्यकी दृष्टिसे देखनेपर पुद्गल पर्यायसे भिन्न जीवकी अपनी एक द्रव्यपर्याय सदैव प्रवर्तमान रहती है । ८–पुद्गलकर्मोपाधिसे रहित होनेपर जीवका स्वभावद्रव्यव्यञ्जन पर्याय प्रकट होता है । ९– जीवका स्वरूपास्तित्व निश्चल रहता है ।

सिद्धान्त– (१) जीव व कर्म नोकर्मरूप पुद्गलोके बन्धनसे नर नारकादि पर्याय बनता है ।

दृष्टि– १– असमानजातीय विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायदृष्टि (२१६) ।

प्रयोग– अनिष्ट व्यवहारजीवपनासे छुटकारा पानेके लिये सहजचिदानन्दमय सहज स्वरूपास्तित्वका मनन करना ॥१५२॥

अथ पर्यायव्यक्तीर्दर्शयति—

णरणारयतिरियसुरा सठाणादीहि श्रण्णहाजादा ।
पज्जाया जीवाण उदयादिहि णामकम्मस्स ॥१५३॥

नर नारक तियक सुर नाना सस्थान आदि रूपोमे ।
हुई जीव पर्यायें, नामकर्मोदयादिसे ये ॥ १५३ ॥

नरनारकतियक्सुरा सस्थानादिभिरन्यथा जाता । पर्याया जीवानामुदयादिभिर्नामकर्मण ॥ १५३ ॥

नारकस्तिर्यङ्मनुष्यो देव इति किल पर्याया जीवानाम् । ते खलु नामकर्मपुद्गलविपाककारणत्वेनानेकद्रव्यसयोगात्मकत्वात् कुकूलाङ्गारादिपर्याया जातवेदस क्षोदखिल्वसस्थानादिभिरिव सस्थानादिभिर यथैव भूता भवन्ति ॥१५३॥

नामसज्ञ—णरणारयतिरियसुर सठाणादि अण्णहा जाद पज्जाय जीव उदयादि णामकम्म । धातुसज्ञ—जा प्रादुर्भाव । प्रातिपदिक—नरनारकतियक्सुर सस्थानादि अन्यथा जात पर्याय जीव उदयादि नामकर्मन् । मूलधातु—जनी प्रादुर्भावे । उभयपदविवरण—णरणारयतिरियसुरा नरनारकतियक्सुरा पज्जाया पर्याया—प्रथमा बहुवचन । सठाणादीहि सस्थानादिभि उदयादिहि उदयादिभि—तृतीया बहुवचन । अण्णहा अन्यथा—अव्यय । जादा जाता—प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । जीवाण जीवाना—षष्ठी बहुवचन । णामकम्मस्स नामकर्मण—षष्ठी एकवचन । निरुक्ति—नरान् कायन्ति इति नारका क ग… म्वादि तिर अचतीति तियक, सुरति इति सुर षुर ऐश्वर्यदीप्त्यो उद् अयनं उदय इण गतौ । समास—नरश्च नारकश्च तियक्च सुरश्चेति नरनारकतियक्सुरा ॥१५३॥

तथ्यप्रकाश—१– नारक तिर्यञ्च, मनुष्य व देव ये ४ जीवकी असमानजातीय विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याय हैं । २– जीव व अनेक पुद्गलोंके बधसे नारकादि पर्याय होनेपर भी वे जीवकी अशुद्ध पर्याय कहलाती हैं, क्योंकि इस सयोगके होनेमें जीवविभाव मुख्यतया कारण हैं । ३– विभिन्न पौद्गलिक नामकर्मके उदयविपाकके अनुसार इन जीवभवोंमे भिन्न भिन्न प्रकारके सस्थान हो जाते हैं जैसे कि लकडी कोयला आदि भिन्न भिन्न इंधनोंके सयोग से अग्निका आकार भिन्न भिन्न हो जाता है । ४– भिन्न भिन्न सस्थान होनेपर भी यह भगवान आत्मद्रव्य अपने सहजज्ञानानन्दस्वरूपको नही छोडता जैसे कि भिन्न आकार होनेपर अग्नि अपने औष्ण्यस्वरूपको नही छोडती । ५– नरनारकादि पर्यायें कर्मोदयके निमित्तसे होती है इस कारण ये पर्यायें आत्माका स्वभाव नही हैं ।

सिद्धान्त—(१) नर नारक आदि व्यवहारसे जीव कहे जाते हैं ।

दृष्टि—१– विकल्पनय, स्थापनानय विशेषनय, अनियतिनय, एकजातिपर्याय अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार, एकजातिद्रव्य अन्यजाति द्रव्योपचारक असद्भूत व्यव

अथात्मनोऽन्यद्रव्यसंकीर्णत्वेऽप्यर्थनिश्चायकमस्तित्वं स्वपरविभागहेतुत्वेनोद्योतयति—

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं ।
जाणदि जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ॥१५४॥

निजसद्भावकनिबन्धक, त्रिधा द्रव्यका स्वभाव बतलाया ।
सविशेष जानता जो, वह परमे मुग्ध नहिं होता ॥१५४॥

तं सद्भावनिबद्धं द्रव्यस्वभावं त्रिधा समाख्यातम् । जानाति यः सविकल्पं न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये ॥१५४॥

यत्खलु स्वलक्षणभूतं स्वरूपास्तित्वमर्थनिश्चायकमाख्यातं स खलु द्रव्यस्य स्वभाव एव, सद्भावनिबद्धत्वाद्द्रव्यस्वभावस्य । यथासौ द्रव्यस्वभावो द्रव्यगुणपर्यायत्वेन स्थित्युत्पाद-

---

नामसंज्ञ—त सब्भावणिबद्ध दव्वसहाव तिहा समक्खाद ज सवियप्प ण त अण्णदविअ । धातुसंज्ञ—क्खा प्रकथने, जाण अवबोधने, कप्प सामर्थ्ये, मुज्झ मोहे । प्रातिपदिक—तत् सद्भावनिबद्ध द्रव्यस्वभाव त्रिधा समाख्यात यत् सविकल्प न तत् अन्यद्रव्य । मूलधातु—ख्या आख्याने, कलृप सामर्थ्ये, मुह वैचित्ये ।

[illegible] (१६१, १६४, १६८, १७८, १२१, १०६) ।

प्रयोग—पुद्गलकर्मोदयजनित नर नारकादि पर्यायोको आत्मस्वभावसे भिन्न जानकर उनकी उपेक्षा करके सहज ज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्वमे उपयुक्त होना ॥१५३॥

अब आत्माके अन्य द्रव्यके साथ संयुक्तपना होनेपर भी अर्थनिश्चायक अस्तित्वको स्वपर विभागके हेतुरूपसे समझाते है—[यः] जो जीव [तं] उस पूर्वकथित [सद्भावनिबद्धं] [illegible] निबद्ध [त्रिधा समाख्यातं] तीन प्रकारसे कथित, [सविकल्पं] भेद [illegible] [द्रव्यस्वभावं] द्रव्यस्वभावको [जानाति] जानता है, [सः] वह [अन्य द्रव्ये] अन्य द्रव्यमे [न मुह्यति] मोहको प्राप्त नही होता ।

[illegible]—जो ज्ञानी स्वरूपास्तित्वको यथार्थ जानता है वह परपदार्थोमे मोह नही

"ययत्वेन च त्रितयी विकल्पभूमिकामधिरूढः परिज्ञायमान परद्रव्ये मोहमपोह्य स्वपरविभाग हेतुभवति ततः स्वरूपास्तित्वमेव स्वपरविभागसिद्धय प्रनिपदमवधायम् । तथाहि—यच्चेतन-त्वान्वयलक्षण द्रव्य यश्चेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो यश्चेतनत्वव्यतिरेकलक्षण पर्यायस्तत्त्रया त्मक, या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिना चेतनत्वेन स्थितिर्योवुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेन चेतनस्योत्पादव्ययो तत्त्रयात्मक च स्वरूपास्तित्व यस्य नु स्वभावोऽह स खल्वयम य । यच्चाचेतनत्वान्वयलक्षण द्रव्य योऽचेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो योऽचेतनत्वव्यतिरेकलक्षण पर्यायस्तत्त्रयात्मक या पूर्वो त्तरव्यतिरेकस्पर्शिनाचेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेनाचेतनस्योत्पादव्ययो तत्त्रयात्मक च स्वरूपास्तित्वम् यस्य तु स्वभाव पुद्गलस्य स खल्वयम य । नास्ति मे मोहोऽस्ति स्वपर विभाग ॥१५४॥

उभयपदविवरण—त सब्भावणिवद्ध सद्भावनिबद्ध दव्वसहाव द्रव्यस्वभाव समक्खाद समाख्यात सवियप्प सविकल्प–द्वितीया एकवचन । जा य सो स –प्रथमा एक० । अण्णदवियम्हि अन्यद्रव्ये, तिहा त्रिधा ण न–अव्यय । अण्णदवियम्हि अन्यद्रव्ये–सप्तमी एकवचन । निरुक्ति—विशेषण कलन विकल्प । समास—सद्भावेन निबद्ध सद्भावनिबद्ध त, द्रव्यस्य स्वभाव द्रव्यस्वभाव त द्रव्यस्वभावम् ॥१५४॥

वह त्रयात्मक स्वरूप अस्तित्व तथा पूर्व और उत्तर व्यतिरेकको स्पर्श करने वाले चेतनस्वरूप से जो ध्रौव्य और चेतनके उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूपसे जो उत्पाद और व्यय,–वह त्रया त्मक स्वरूप अस्तित्व जिसका स्वभाव है ऐसा मैं वास्तवमे यह अन्य हू । और, अचेतनत्वका अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा जो द्रव्य, अचेतना विशेषत्व जिसका लक्षण है ऐसा जो गुण, और अचेतनत्वका व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी जो पर्याय, वह त्रयात्मक स्वरूपास्तित्व तथा पूर्व और उत्तर व्यतिरेकको स्पर्श करने वाले अचेतनत्वरूपसे जो ध्रौव्य और अचेतनके उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूपसे जो उत्पाद और व्यय, वह त्रयात्मक स्वरूपास्तित्व जिस पुद्-गलका स्वभाव है वह वास्तवमे अन्य है । मुझे मोह नही है और सही स्वपरका विभाग है ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे जीवकी गतिविशिष्ट पर्यायोंके प्रकार बताये गये थे । अब इस गाथामे बताया गया है कि अन्य द्रव्योंके साथ सयुक्तपना होनेपर भी स्वरूपा स्तित्व स्वपरविभागका हेतु होता है ।

तथ्यप्रकाश—१– स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व उस सत्र पदार्थका निश्चायक होता है । २– स्वरूप द्रव्यका स्वभाव ही है । ३– द्रव्यस्वभाव सब द्रव्योंका अपना अपना जुदा जुदा है । ४– सवद्रव्य स्वद्रव्यगुणपर्यायात्मक हैं, उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है । ५– किसी द्रव्य के द्रव्य गुण पर्यायका अन्य द्रव्यसे कुछ सम्बन्ध नही है । ६– सब द्रव्योंका स्वरूपास्तित्व स्वपर विभागका कारण होता है । ७– जिसमें स्वचेतनत्वका अन्वय है विशेष परिणमन

अथात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय परद्रव्यसंयोगकारणस्वरूपमालोचयति--

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ॥१५५॥

आत्मा उपयोगात्मक, उपयोग कहा ज्ञानदर्शनात्मक।
शुद्ध अशुद्ध द्विविध वह, होता उपयोग आत्माका ॥१५५॥

आत्मा उपयोगात्मा उपयोगो ज्ञानदर्शनं भणित.। सोऽपि शुभोऽशुभो वा उपयोग आत्मनो भवति ॥१५५

आत्मनो हि परद्रव्यसंयोगकारणमुपयोगविशेषः उपयोगो हि तावदात्मनः स्वभावश्चै
तन्यानुविधायिपरिणामत्वात्। स तु ज्ञानं दर्शनं च साकारनिराकारत्वेनोभयरूपत्वाच्चैतन्यस

नामसंज्ञ— अप्प उवओगप्प उवओग णाणदसण भणिद त वि सुह असुह वा उवओग अप्प। धातु
संज्ञ—[illegible] भण कथने। प्रातिपदिक—आत्मन् उपयोगात्मन् उपयोग ज्ञानदर्शन भणित तत् अ
[illegible] वा उपयोग आत्मन्। मूलधातु—भण शब्दार्थ, भू सत्तायां। उभयपदविवरण—अप्पा आ

[illegible]। ८– जिसमे परचेतनत्वका या अचेतनत्वका अन्वय है विशेष है परिणमन है व
[illegible]। ९– अन्य मेरा कुछ नही है इस परिज्ञानमे मोह नही रहता, क्योंकि स्व व परा
[illegible] हो गया है। १०–स्वपरभेदविज्ञानी आत्मा अन्य द्रव्यमे मुग्ध नही हो सकता

सिद्धान्त—१– लक्षणभेदसे द्रव्योंमे परस्पर विलक्षणता विदित होती है।

दृष्टि—१– [illegible]नय (२०३)।

प्रयोग—मेरे परद्रव्य व परभावोंसे विविक्त निज चैतन्यस्वभावमे स्वत्व अनुभव
[illegible] रहना ॥१५४॥

[illegible] आत्माको [illegible] विभक्त करनेके लिये परद्रव्यके संयोगके कारणके स्वरू
[illegible] है—[आत्मा उपयोगात्मा] आत्मा उपयोगस्वरूप है, [उपयोगः] उप
[ज्ञानदर्शनं भणितः] ज्ञानदर्शन कहा गया है, [अपि] और [आत्मनः] आत्माका [
[illegible] और [शुभः अशुभः वा] शुभ अथवा अशुभ [भवति] होता है।

[illegible] संयोगका कारण जीवका शुभ अथवा अशुभ उपयोग है।

अथ शुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति—

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥१५७॥

परमेश्वर अर्हतो, सिद्धो व साधुवोंकी भक्तीमें।
जीवदयामें तत्पर, है शुभ उपयोग वह उसका ॥१५७॥

यो जानाति जिनेन्द्रान् पश्यति सिद्धांस्तथैवानागारान्। जीवेषु सानुकम्प उपयोगः स शुभस्तस्य ॥ १५७ ॥

विशिष्टक्षयोपशमदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीतशोभ

नामसंज्ञ—ज जिणिंद सिद्ध तह एव अणगार जीव साणुकंप उवओग त सुह त। धातुसंज्ञ—जाण अवबोधने, दरिस दर्शनाया। प्रातिपदिक—यत् जिनेन्द्र सिद्ध तथा एव अनगार जीव सानुकम्प उपयोग तत् शुभ तत्। मूलधातु—ज्ञा अवबोधने दृशिर् प्रेक्षणे। उभयपदविवरण—जो यः साणुकंपो सानुकम्प

अशुद्धोपयोग दो प्रकारका है—शुभोपयोग व अशुभोपयोग। (३) शुभोपयोगमें विशुद्धि भाव रूप उपराग है, अतः शुभोपयोग पुण्यकर्मके बन्धनका कारण है। (४) अशुभोपयोगमें संक्लेश भावरूप उपराग है, अतः अशुभोपयोग पापकर्मके बन्धनका कारण है। (५) शुद्धोपयोगमें विशुद्धिरूप व संक्लेशरूप दोनों ही अशुद्ध उपरागका अभाव है, अतः शुद्धोपयोग परद्रव्यके संयोगका याने व बंधका कारण नहीं है। (६) अविकार निजपरमात्मद्रव्यकी भावनासे शुभाशुभ उपयोगका अभाव होकर शुद्धोपयोग प्रकट होता है।

रसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सर्वस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो महतोऽक्षस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। एवं शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः किमन्यैरध्वनीनाङ्गसङ्गच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः ॥१९२॥

द्वितीया एकवचन। अहं-प्रथमा एकवचन। मण्णे मन्ये-वर्तमान उत्तम पुरुष एकवचन क्रिया। निरुक्ति-आलंबनं आलम्बः तेन रहितं अनालम्बः तं लवि अवलम्बने। समास—ज्ञानं आत्मा स्वरूपं यस्य स ज्ञानात्मा तं ॥१९२॥

(प्राप्तव्य) है।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्माका ध्रुव सर्वस्व शुद्ध (केवल) आत्मा ही है अन्य कुछ नहीं। (२) आत्मा स्वयं सत् अहेतुक होनेसे अनादि अनन्त है और स्वतः सिद्ध है, इसी कारण शाश्वत ध्रुव है। (३) आत्मा समस्त परद्रव्योंसे जुदा है और अपने स्वधर्ममें तन्मय है यही एकत्व है, यही आत्माकी यहाँ अभिप्रेत शुद्धता है। (४) अपने आपमें ज्ञानमय होनेसे अखण्ड ज्ञानात्मक यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व निजचित्स्वभावमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (५) स्वयं प्रतिभासमान होनेसे दर्शनभूत यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व स्वचित्स्वभावमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (६) प्रतिनियत स्पर्शादिको ग्रहण करने वाली मूर्त विनश्वर इन्द्रियोंसे पर और सर्वस्पर्शादिका ज्ञाता अमूर्त अविनश्वर यह अतीन्द्रियस्वभाव आत्मा इन्द्रियात्मक परद्रव्योंसे जुदा व ज्ञायकस्वरूप स्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (७) क्षणिक परिच्छेद्य पर्यायोंका ग्रहण मोचन न होनेसे चञ्चल क्रियाव्यापाररहित स्वरूपतः अचल यह आत्मा परिच्छेद्यपर्यायात्मक परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (८) परिच्छेद्य द्रव्यका आलम्बन न होनेसे अनालम्ब यह स्वाधीन आत्मा परिच्छेद्य परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (९) विकारमयनिवर्गसाधनका स्वाभाविकता न होनेसे मोक्षनामक पुरुषार्थका साधक यह आत्मा परप्रवृत्तियोंसे जुदा व स्वसहजवृत्तिमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (१०) उक्त प्रकार सुनिश्चित चिन्मात्र यह एक आत्मा ही ध्रुव है और उपलब्धव्य है।

रसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सवस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो महतोऽक्षस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। एवं शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः किमन्यैरध्वनीनाङ्गसङ्गच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः ॥१६२॥

द्वितीया एकवचन। अहं-प्रथमा एकवचन। मण्णे मन्ये-वर्तमान उत्तम पुरुष एकवचन क्रिया। निरुक्ति-आलंबन आलम्ब तेन रहितं अनालम्बं तं लवि अवलम्बनं। समास—ज्ञानं आत्मा स्वरूपं यस्य स ज्ञानात्मा तं ॥१६२॥

(प्राप्तव्य) है।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्माका ध्रुव सर्वस्व शुद्ध (केवल) आत्मा ही है अन्य कुछ नहीं। (२) आत्मा स्वयं सत् अहेतुक होनेसे अनादि अनन्त है और स्वतः सिद्ध है, इसी कारण शाश्वत ध्रुव है। (३) आत्मा समस्त परद्रव्योंसे जुदा है और अपने स्वधर्मोंसे तन्मय है यही एकत्व है, यही आत्माकी यहाँ अभिप्रेत शुद्धता है। (४) अपने आपमें ज्ञानमय होनेसे अखण्ड ज्ञानात्मक यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व निजचित्स्वभावमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (५) स्वयं प्रतिभासमान होनेसे दर्शनभूत यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व स्वचित्स्वभावमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (६) प्रतिनियत स्पर्शादिका ग्रहण करने वाली मूर्त विनश्वर इन्द्रियोंसे पर और सर्वस्पर्शादिका ज्ञाता अमूर्त अविनश्वर यह अतीन्द्रियस्वभाव आत्मा इन्द्रियात्मक परद्रव्योंसे जुदा व ज्ञायकस्वरूप स्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (७) क्षणिक परिच्छेद्य पर्यायोंका ग्रहण मोक्षण न होनेसे चञ्चल विकल्प व्यापाररहित स्वरूपतः अचल यह आत्मा परिच्छेद्यपर्यायात्मक परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (८) परिच्छेद्य द्रव्यका आलम्बन न होनेसे अनालम्ब यह स्वाधीन आत्मा परिच्छेद्य परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (९) विकारमयनिवासाधनकी स्वाभाविकता न होनेसे सहजानन्दस्वरूप का साधक यह आत्मा परवृत्तियोंसे जुदा व स्वसहजवृत्तियोंमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (१०) उक्त प्रकार सुनिश्चित चिन्मात्र यह एक आत्मा ही ध्रुव है और उपलभ्य है।

रसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सर्वस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो महतोऽर्थस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। एवं शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः किमन्यैरध्वनीनाङ्गसंगच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः ॥१९२॥

द्वितीया एकवचन। अहं-प्रथमा एकवचन। मण्णे मन्ये-वर्तमान उत्तम पुरुष एकवचन क्रिया। निरवलंब-आलंबन आलम्ब तेन रहित अनालम्ब तं तथि अवलम्बने। समास-ज्ञान आत्मा स्वरूपं यस्य स ज्ञानात्मा तं ॥१९२॥

(प्राप्तव्य) है।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्माका ध्रुव सर्वस्व शुद्ध (केवल) आत्मा ही है अन्य कुछ नहीं। (२) आत्मा स्वयं सत् अहेतुक होनेसे अनादि अनन्त है और स्वतः सिद्ध है, इसी कारण शाश्वत ध्रुव है। (३) आत्मा समस्त परद्रव्योंसे जुदा है और अपने स्व धर्मोंमें तन्मय है, यही एकत्व है, यही आत्माकी यहाँ अभिप्रेत शुद्धता है। (४) अपने आपमें ज्ञानमय होनेसे अखण्ड ज्ञानात्मक यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व निजचित्स्वभावमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (५) स्वयं प्रतिभासमात्र होनेसे दर्शनभूत यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व स्वचित्स्वभावमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (६) प्रतिनियत स्पर्शादिका ग्रहण करने वाली मूर्त विनश्वर इन्द्रियोंसे परे और सर्वस्पर्शादिका ज्ञाता अमूर्त अविनश्वर यह अतीन्द्रियस्वभाव आत्मा इन्द्रियात्मक परद्रव्योंसे जुदा व ज्ञायकस्वरूप स्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (७) क्षणिक परिच्छेद्य पर्यायोंका ग्रहण मोक्षण न होनेसे चञ्चल क्रियाव्यापाररहित स्वरूपतः अचल यह आत्मा परिच्छेद्यपर्यायात्मक परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (८) परिच्छेद्य द्रव्यका आलम्बन न होनेसे अनालम्ब यह स्वाधीन आत्मा परिच्छेद्य परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (९) विकारमयविनश्वरतापनका स्वभाविकता न होनेसे सहज [illegible] का सायक यह आत्मा परवृत्तियोंसे जुदा व स्वसहजवृत्तिमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (१०) उक्त प्रकार सुनिश्चित चिन्मात्र यह एक आत्मा ही ध्रुव है और उपलब्धव्य है।

अथ मोहग्रन्थिभेदात्किं स्यादिति निरूपयति—

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्ज समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ॥१६५॥

जो निहतमोहग्रन्थी, क्षत करके रागद्वेष मुनिपनमे ।
हो सुख दुखमे सम वह, अविनाशी सौख्य पाता है ॥१६५॥

यो निहतमोहग्रन्थी रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा श्रामण्ये । भवेत् समसुखदुःखः स सौख्यमक्षयं लभते ॥ १६५ ॥

मोहग्रन्थिक्षपणाद्धि तन्मूलरागद्वेषक्षपणं तत समसुखदुःखस्य परममाध्यस्थ्यलक्षणे श्रा

नामसंज्ञ– ज णिहदमोहगठि रागप्पदोस सामण्ण समसुहदुक्ख त सोक्ख अक्खय । धातुसंज्ञ—खव क्षयकरणे हो सत्तायां लह लाभे । प्रातिपदिक—यत् निहतमोहदुर्ग्रन्थि रागप्रद्वेष श्रामण्य समसुखदुःख तत् सौख्य अक्षय । मूलधातु—क्षि क्षये भू सत्तायां डुलभष् प्राप्तौ । उभयपदविवरण—जो यः णिहदमोहगठी समसुहदुक्खो समसुखदुःखः सो सः –प्रथमा एकवचन । रागप्पदोसे–द्वि० बहु० । रागप्रद्वेषौ–द्वि०

उपयुक्त आत्माके असंसारबद्ध मोहकी खोटी गांठ छूट जाती है । (४) शुद्धात्मोपलब्धिका यह महान् फल त्वरित प्राप्त होता है कि मोहकी गांठका भेदन हो जाता है अर्थात् आत्मा मोहविकाररहित हो जाता है । (५) सहजपरमात्मतत्त्वज्ञान ही स्वात्मोपलम्भ है । (६) शुद्धात्मरुचिका प्रतिबन्धक दर्शनमोह ही खोटी गांठ है जिसके कारण अब भवमें जन्म मरण का व जीवनमें अनेक कष्टोंको भोगते रहना पड़ता है ।

सिद्धान्त—(१) आत्माका सर्वस्व ध्रुव शुद्ध सहज परमात्मतत्त्व है ।

दृष्टि—१– उपाधिनिरपेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२१) ।

प्रयोग—समस्त संसारसंकटोंके मूल मोह दुर्ग्रन्थिको छुड़ानेके लिये स्वतःसिद्ध अविकार ज्ञायकस्वभावी सहज परमात्मतत्त्वकी अभेद आराधना करना ॥१६४॥

अब मोहग्रन्थिके टूटनेसे क्या होता है यह निरूपण करते हैं—[निहतमोहग्रन्थि] नष्ट किया है मोहकी गांठको जिसने ऐसा [यः] जो आत्मा [रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा] रागद्वेषका नष्ट करके [समसुख दुःख] सुख दुःखमें समान होता हुआ [श्रामण्ये भवेत्] श्रमणतामें परिणमता है [सः] वह [अक्षय सौख्यं] अक्षय सौख्यको [लभते] प्राप्त करता है ।

टीकार्थ—मोहग्रन्थिका क्षय होनेसे मोहग्रन्थि जिसका मूल है ऐसे रागद्वेषका क्षय होता है, उससे सुख दुःखमें समान रहने वाले जीवका परम माध्यस्थ्यलक्षण श्रमणतामें परिणमन होता है और उससे अनाकुलता जिसका लक्षण है ऐसे अक्षय सुखका लाभ होता है ।

इससे यह कहा है कि मोहरूपी ग्रन्थिके छेदनसे अक्षय सौख्यरूप फल होता है ।

अथकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानमशुद्धत्वमात्मनो नावहतीति निश्चिनोति—

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१९६॥

जो मोहनाशकर्ता, विषयविरक्त मनका निरोधन कर।
सुस्थित स्वभावमें है, वह आतम तत्त्वका ध्याता ॥१९६॥

यः क्षपितमोहकलुषो विषयविरक्तो मनो निरुध्य। समवस्थितः स्वभावे स आत्मानं भवति ध्याता ॥१९६॥

आत्मनो हि परिक्षपितमोहकलुषस्य तन्मूलपरद्रव्यप्रवृत्त्यभावाद्विषयविरक्तत्वं स्यात्, ततोऽधिकरणभूतद्रव्यान्तराभावादुदधिमध्यप्रवृत्तैकपोतपतत्रिण इव अनन्यशरणस्य मनसो निरोधः स्यात्। ततस्तन्मूलचञ्चलत्वविलयादनन्तसहजचैतन्यात्मनि स्वभावे समवस्थानं स्यात्।

नामसंज्ञ—ज खविदमोहकलुस विसयविरत्त मण समवट्ठिद सहाव त अप्प झादार। धातुसंज्ञ—हव सत्तायां। प्रातिपदिक—यत् क्षपितमोहकलुष विषयविरक्त मनस् समवस्थित स्वभाव तत् आत्मन् ध्यातृ। मूल धातु—भू सत्तायां। उभयपदविवरण—जो यः खविदमोहकलुसो क्षपितमोहकलुषः विसयविरत्तो विषयविरक्तः सो सः—प्रथमा एकवचन। मणो मनः अप्पाणं आत्मानं—द्वितीया एकवचन। णिरुंभित्ता निरुध्य-

कारण अनन्त सहज चैतन्यात्मक स्वभावमें दृढ़तासे रहना होता है। और वह स्वभावसमवस्थान स्वरूपमें प्रवर्तमान अनाकुल, एकाग्रसंचेतन होनेसे ध्यान कहा जाता है। इससे यह निश्चित हुआ कि ध्यान स्वभावसमवस्थानरूप होनेके कारण आत्मासे अनन्य होनेसे अशुद्धताके लिये नहीं होता।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें 'मोहग्रन्थिके भेदसे क्या होता है' यह कहा गया था। अब इस गाथामें यह बताया गया है कि स्वभावमें उपयुक्त अध्यात्मा शुद्धात्माका ध्याता होता है।

तथ्यप्रकाश—(१) परद्रव्यमें विषयोंमें प्रवृत्तिका मूल कारण मोह है। (२) जिसने मोहकालुष्यका क्षय कर दिया है उसकी परद्रव्योंमें प्रवृत्ति नहीं होती। (३) निर्मोह आत्माके विषयप्रवृत्तिका अभाव हो जानेसे वास्तविक विषयविरक्ति होती है। (४) निर्मोह अन्तरात्मा का अविकारस्वात्मसंवेदनसे उत्पन्न सहजानन्दका अनुभव हो चुका है, अतः उसके विषयसुख की आशा समाप्त होनेसे अचलित विषयविरक्ति होती है। (५) विषयविरक्ति एवं सहज आत्मभक्ति होनेपर अशरण होकर मन निरुद्ध हो जाता है। (६) मनका निरोध हो जानेपर राग और उपयोगकी चञ्चलताका विलय हो जाता है। (७) राग और उपयोगकी चञ्चलताका विलय होनेसे अनन्तसहजचैतन्यात्मक स्वभावमें दृढ़तासे अवस्थान हो जाता है। (८) स्वरूप

अथायमेव शुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षस्य मार्ग इत्यवधारयति—

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ॥१९९॥

यो जिनमार्गाश्रय कर, श्रमण हुए जिन जिनेन्द्र सिद्ध प्रभू।
उनको उनके शिवपथ को हो मेरा प्रणाम मुदा ॥ १९९ ॥

एवं जिना जिनेन्द्राः सिद्धा मार्गं समुत्थिताः श्रमणाः। जाता नमोऽस्तु तेभ्यस्तस्मै च निर्वाणमार्गाय ॥१९९॥

यतः सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थकराः अचरमशरीरा मुमुक्षवश्चामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा बभूवुः, न पुनरन्यथापि। ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो न द्वितीय इति। अलं च प्रपञ्चेन। तेषां शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तानां सिद्धानां तस्य शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपस्य मोक्षमार्गस्य च प्रत्यस्तमितभाव्यभावकविभागत्वेन नोआगमभावनमस्कारोऽस्तु। अवधारितो मोक्षमार्गः कृत्यमनुष्ठीयते ॥१९९॥

नामसंज्ञ—एव जिण जिणिंद सिद्ध मग्ग समुट्ठिद समण जाद णमो त त य णिव्वाणमग्ग। धातुसंज्ञ—अस सत्तायां। प्रातिपदिक—एवं जिन जिनेन्द्र सिद्ध मार्ग समुत्थित श्रमण जात नम तत् तत् च निर्वाणमार्ग। मूलधातु—अस भुवि। उभयपदविवरण—एवं णमो नमः य च—अव्यय। जिणा जिना जिणिंदा जिनेन्द्राः सिद्धा समुट्ठिदा समुत्थिताः समणा श्रमणाः जादा जाताः—प्रथमा बहुवचन। मग्गं मार्गं—द्वितीया एक०। अत्थु अस्तु—आज्ञार्थे अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। तेसिं तेभ्यः—षष्ठी बहु०। तस्स तस्य णिव्वाणमग्गस्स निर्वाणमार्गस्य—षष्ठी एकवचन। निरुक्ति—विमुच्य तस्मै य न वियुक्त वि युजिर् योगे रुधादि। समास—जिनानां इन्द्रा जिनेन्द्राः निर्वाणस्य मार्गः निर्वाणमार्गः तस्य निर्वाणमार्गस्य ॥ १९९ ॥

उत्तर दिया गया था कि वीतराग भगवान परमात्मा क्या ध्यान करते हैं। अब इस गाथामें उक्त उपदेशोंका उपसंहार करते हुए कहा गया है कि यह शुद्धात्मोपलम्भलक्षण वाला ही परमार्थ धर्मपालन मोक्षका मार्ग है।

तथ्यप्रकाश—(१) तीर्थंकर पुरुषों तथा अन्य भव्य पुरुषोंने शुद्ध आत्मतत्त्वमें प्रवृत्त होनेकी विधिसे मोक्षमार्ग पाकर सिद्धावस्था प्राप्त की। (२) केवल सहजपरमात्मतत्त्वकी अनुभूतिके अतिरिक्त अन्य प्रकारसे सिद्धावस्था नहीं प्राप्त की जा सकती। (३) मोक्षका मार्ग मात्र सहज चित्स्वभावकी अनुभूति है। (४) सहज चित्स्वभावकी अनुभूतिके बलसे शुद्ध आत्मतत्त्वमें प्रवृत्त सिद्ध भगवंतोंको नोआगमभावनमस्कार हो। (५) शुद्धात्मतत्त्वमें प्रवृत्तिरूप मोक्षमार्गको नोआगमभावनमस्कार हो। (६) भव्य प्रभाव रहकर भव्यनमस्कारको नोआगम भावनमस्कार कहते हैं, जहाँ कि आराध्य आराधक भावका विभाग समाप्त हो जाता है।

पुनरन्ये स्वस्वामिलक्षणादयः सम्बन्धाः । ततो मम न क्वचनापि ममत्वं सर्वत्र निर्ममत्वमेव । अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्णलिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षण एव प्रत्यक्षयन्तं ज्ञेयज्ञायकलक्षणसम्बन्धस्यानिवार्यत्वेनाशक्यविवेचनत्वादुपात्तवैश्वरूप्यमपि सहजानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेनैक्यरूप्यमनुज्झन्तमासंसारमनयैव

त्व । मूलधातु– ज्ञा अवबोधने, परि व्रज व्रजने उप स्था गतिनिवृत्तौ । उभयपदविवरण– तम्हा तस्मात्– पंचमी एकवचन । तह तथा–अव्यय । जाणित्ता ज्ञात्वा–सम्बन्धार्थप्रक्रिया कृदन्त अव्यय । अप्पाणं आत्मानं

त्यागरूप और निर्ममत्वका ग्रहणरूप विधानके द्वारा सब उद्यमसे शुद्धात्मामें प्रवृत्त होता हूं, क्योंकि दूसरा कुछ भी करने योग्य नहीं है । स्पष्टीकरण—वास्तवमें मैं स्वभावसे ज्ञायक ही हूं, केवल ज्ञायक होनेसे मेरा समस्त पदार्थोंके साथ भी सहज ज्ञेयज्ञायकलक्षण ही संबंध है किन्तु अन्य स्वस्वामिलक्षणादि सम्बंध नहीं है इसलिये मेरा किसीके प्रति ममत्व नहीं है सर्वत्र निर्ममत्व ही है । अब एक ज्ञायकभावका समस्त ज्ञेयोंको जाननेका स्वभाव होनेसे क्रमशः प्रवर्तमान, अनन्त, भूत वर्तमान भावी विचित्रपर्यायसमूहवाले, अगाधस्वभाव और गम्भीर समस्त द्रव्यमात्रको—मानो वे द्रव्य ज्ञायकमें उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुये हों इस प्रकार एक क्षणमें ही प्रत्यक्ष करने वाले, ज्ञेयज्ञायकलक्षण संबंधकी अनिवार्यताके कारण ज्ञेय ज्ञायकको भिन्न करना अशक्य होनेसे विश्वरूपताको प्राप्त होते हुए भी सहज अनन्तशक्ति वाले ज्ञायकस्वभावके द्वारा एकरूपताको नहीं छोड़ते हुए अनादि संसारसे इसी स्थितिमें स्थित और मोहके द्वारा दूसरे रूपसे जाने गये उस शुद्धात्माको यह मैं मोहको उखाड़ फेंककर अति निष्कम्प रहता हुआ जैसाका तैसा ही प्राप्त करता हूं । इस प्रकार दर्शनविशुद्धि जिसका मूल है ऐसी, सम्यग्ज्ञानमें उपयुक्तताके कारण अत्यन्त निर्बाध लीनता होनेसे साधु होनेपर भी साक्षात् सिद्धभूत निज आत्माको तथा सिद्धभूत परमात्माओंको उसीमें एकपरायणता जिसका लक्षण है ऐसा भावनमस्कार सदा ही स्वयमेव होओ । जैनं इत्यादि—अर्थ—इस प्रकार ज्ञेयतत्त्वको समझाने वाले जिनेन्द्रप्रोक्त ज्ञानमें व विशाल शब्दब्रह्ममें—सम्यक्तया अवगाहन करके हम मात्र शुद्ध आत्मद्रव्यरूप एक वृत्तिसे सदा युक्त रहते हैं ॥१०॥ ज्ञेयीकुर्वन् इत्यादि—अर्थ—आत्मा परमात्मत्वको, शीघ्र प्राप्त करके, अनन्त विश्वका एक साथ अवगाहन करता हुआ, अनेक प्रकारके ज्ञेयोंको ज्ञानमें जानता हुआ और स्वपरप्रकाशक ज्ञानको [illegible] करता हुआ प्रगट देदीप्यमान होता है ॥११॥ ॥२००॥

एव पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥२०१॥

यों प्रणाम करि सिद्धो, जिनवर वृषभो पुनीत श्रमणोंको ।
श्रामण्य प्राप्त कर लो यदि चाहो दुःखसे मुक्ती ॥ २०१ ॥

एव प्रणम्य सिद्धान् जिनवरवृषभान् पुन पुन श्रमणान् । प्रतिपद्यता श्रामण्य यदीच्छति दु खपरिमोक्षम् ॥

यथा ममात्मना दु खमोक्षार्थिना 'किच्चा अरहंताणं' इति 'तेसिं' इति अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूना प्रणतिवन्दनात्मकनमस्कारपुर सर विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान साम्यनाम श्राम

नामसंज्ञ—एव सिद्ध जिणवरवसह पुणो समण सामण्ण जदि दुक्खपरिमोक्ख । धातुसंज्ञ—प नम प्रह्वीभाव, पडि पज्ज गतौ । प्रातिपदिक—एव सिद्ध जिनवरवृषभ पुनर् श्रमण श्रामण्य यदि दु खपरिमोक्ष ।

अब इस अधिकारकी गाथा प्रारम्भ करते हैं—[एव] यों पूर्वोक्त तीन गाथाओंके अनुसार [पुन पुन] बारबार [सिद्धान्] सिद्धोंको, [जिनवरवृषभान्] अर्हन्तोंको तथा [श्रमणान्] श्रमणोंको [प्रणम्य] प्रणाम करके [यदि दु खपरिमोक्षम् इच्छति] यदि दुःखसे छुटकारा पानेकी इच्छा हो तो [श्रामण्य प्रतिपद्यताम्] श्रामण्यको अंगीकार करो ।

तात्पर्य—बार बार सिद्धों व अर्हन्तोंको प्रणाम कर श्रामण्यको अपनाओ ।

टीकार्थ—जैसे दु खसे मुक्त होनेके अर्थी मेरे आत्माने— 'किच्चा अरहंताणं' इस प्रकार व "तेसिं" इस प्रकार अर्हन्तों सिद्धों आचार्यों, उपाध्यायों तथा साधुओंको प्रणाम-वंदनात्मक नमस्कारपूर्वक विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधान साम्य नामक श्रामण्यको जिसका इस ग्रंथमें कहे हुए दो अधिकारोंकी रचना द्वारा सुस्थितपना हुआ है उसे स्वयं स्वीकार किया उसी प्रकार दूसरोंका आत्मा भी, यदि दुःखसे मुक्त होनेका इच्छुक हो तो उसे स्वीकार करे। उस श्रामण्यको अंगीकार करनेका जो यथानुभूत मार्ग है उसके प्रणेता हम यह खड़े हुए हैं।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथा तक आत्महित नमस्कारपूर्वक पहिले ज्ञानतत्त्वका वर्णन करके ज्ञेयतत्त्वका वर्णन किया और अन्तमें सहजात्मस्वरूपके अनुरूप अध्यात्म आचरण के कर्तव्यका संकेत किया। अब इस गाथामें अध्यात्म आचरणकी सिद्धिके लिये उसके पवित्र आचरण करनेका आदेश किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्महितार्थी पुरुष जो परमात्मा वीतराग सर्वज्ञ हैं उनको बार बार भावनमस्कार व द्रव्यनमस्कार करता है। (२) आत्महितार्थी पुरुष जो अन्तरात्मा व अनु-पम सर्वज्ञ देव द्वारा उपदिष्ट मोक्षमार्गमें लगकर शुद्ध आत्मा होनेके प्रयत्नमें हैं उनको द्रव्य नमस्कार व भावनमस्कार करता है। (३) दुःखमोक्षार्थी अन्तरात्मा पञ्चगुरुनमस्कारपूर्वक

चार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत् त्वत्प्र सादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेतकायवाङ्मनोगुप्तीर्या- भाषैषणादाननिक्षेपणप्रतिष्ठापनसमितिलक्षणचारित्राचार न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो अनशनाव मौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्याय ध्यानव्युत्सर्गलक्षणतपआचार न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां ताव

ज्ञानदर्शनचारित्रतपवीरियायार ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचार-द्वितीया एकवचन । निरुक्ति--बध्नाति च स बन्धु बन्ध बन्धने गृणाति असौ इति गुरु कल त्राति इति कलत्र पुनाति वंश इति पुत्र । समास- बन्धूना वर्ग बन्धुवर्गस्तं व० गुरुश्च कलत्र च पुत्रश्च इति गुरुकलत्रपुत्रा तम्य गु० ज्ञान च दर्शन च

मनुष्यदेहके बन्धुवर्गमें रहने वाले आत्माओ ! इस मनुष्यकी आत्माका आप लोगोका कुछ भी नही है इसलिये मैं तुमसे विदा लेता हू अब यह आत्मा अपने अनादि बन्धुके पास जा रहा है। (२) श्रामण्यार्थी पुरुष माता पितासे कहता है कि इस मनुष्यशरीरके उत्पादककी आत्मा ओ ! इस मनुष्यका आत्मा तुम दोनोके द्वारा उत्पन्न नही हुआ सो जानो और इस मुझ आ त्माको छुट्टी दो, अब यह आत्मा अपने अनादिजनकके पास जा रहा है। (३) श्रामण्यार्थी पुरुष रमणी (स्त्री) से कहता है कि अहो इस मानवशरीरको रमाने वालीकी आत्मा ! तुम इस मनुष्यकी आत्माको नही रमाती हो यह निश्चयसे जानो अत इस आत्माकी छुट्टी करो, आज यह आत्मा अपनी अनादिरमणी स्वानुभूतिके निकट जा रहा है। (४) श्रामण्यार्थी पुरुष पुत्रसे कहता है कि अहो इस जनशरीरके पुत्रकी आत्मा ! तुम इस जनशरीरको आत्मासे उत्पन्न नही हुए हो यह निश्चयसे जानो अत इस आत्माको छोडो अब यह आत्मा अपने ही अनादिजन्य आत्माके निकट जा रहा है। (५) श्रामण्यार्थी पुरुष माता पिता स्त्री पुत्र बन्धुवर्गसे अपनेको हटाकर अब पञ्च आचारोके धारणकी भावना करता है। (६) अहो काल विनय उपधान बहुमान अनिह्नव अर्थ व्यञ्जन तदुभयसम्पन्न ज्ञानाचार ! यद्यपि तुम सहजशुद्ध आत्माके स्वरूप नही हो यह निश्चयसे जानता हू, तो भी मैं तब तक तुमको अङ्गीकार करता हू जब तक तुम्हारे प्रसादसे निर्विकार शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लू। (७) अहो अष्ट अङ्गोमे सम्पन्न दर्शनाचार ! यद्यपि तुम सहजशुद्ध आत्माके स्वरूप नही हो यह निश्चयसे जानता हू तो भी मैं तुमको तब तक इस प्रकार अङ्गीकार करता हू जब तक तुम्हारे प्रसादसे निर्विकार शुद्ध आत्मतत्त्वको प्राप्त कर लू। (८) अहो त्रयोदशाङ्गसम्पन्न चारित्राचार ! यद्यपि तुम सहजशुद्ध आत्माके स्वरूप नही हो यह निश्चयसे जानता हू तो भी मैं तुमको तब तक इस प्रकार अङ्गीकार करता हू जब

अथातः कीदृशो भवतीत्युपदिशति —

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं ।
समणेहि तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥२०३॥

श्रमण गणी गुणसंयुत, कुलरूपवयोविशिष्ट मुनिप्रिय तर ।
सूरिको नमि अनुग्रह याचे होता अनुगृहीत भि ॥२०३॥

श्रमणं गणिनं गुणाढ्यं कुलरूपवयोविशिष्टमिष्टतरम् । श्रमणैस्तमपि प्रणतः प्रतीच्छ मां चेत्यनुगृहीतः ॥

ततो हि श्रामण्यार्थी प्रणतोऽनुगृहीतश्च भवति । तथाहि—आचरिताचारितसमस्तविरतिप्रवृत्तिसमानात्मरूपश्रामण्यत्वात् श्रमणं, एवंविधश्रामण्याचरणाचारणप्रवीणत्वात् गुणाढ्यं, सकललौकिकजननिःशङ्कसेवनीयत्वात् कुलक्रमागतक्रौर्यादिदोषवर्जितत्वाच्च कुलविशिष्टं, अन्तरङ्गशुद्धरूपानुमापकबहिरङ्गशुद्धरूपत्वात् रूपविशिष्टं, शैशववार्धक्यकृतबुद्धिविक्लवत्वाभा

नामसंज्ञ—समण गणि गुणड्ढ कुलरूववयोविसिट्ठ इट्ठदर समण त पि पणद अम्ह च इदि अणुगहिद । धातुसंज्ञ—पडि इच्छ इच्छायां । प्रातिपदिक—श्रमण गणिन् गुणाढ्य कुलरूपवयोविशिष्ट इष्टतर श्रमण तत् अपि प्रणत अस्मद् च इति अनुगृहीत । मूलधातु—प्रति इषु इच्छायां । उभयपदविवरण—समणं श्रमणं गणिं गणिनं गुणड्ढं गुणाढ्यं कुलरूववयोविसिट्ठं कुलरूपवयोविशिष्टं इट्ठदरं इष्टतरं-द्वितीया

कुलक्रमागत क्रूरतादि दोषोंसे रहित होनेसे 'कुलविशिष्ट' अंतरंग शुद्धरूपका अनुमान कराने वाला बहिरंग शुद्धरूप होनेसे 'रूपविशिष्ट' बालकत्व और वृद्धत्वसे होने वाली बुद्धिविक्लवता का अभाव होनेसे तथा यौवनोद्रेककी विक्रियासे रहित बुद्धि होनेसे 'वय विशिष्ट' और यथोक्त श्रामण्यका आचरण करने तथा आचरण कराने संबंधी पौरुषेय दोषोंको निःशेषतया नष्ट कर देनेसे मुमुक्षुओंके द्वारा अत्यन्त मान्य होनेसे 'श्रमणोंको अतिइष्ट' ऐसे व शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिके साधक आचार्यको 'शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप सिद्धिसे मुझे अनुगृहीत करो' ऐसा कहकर (श्रामण्यार्थी) निकट जाता हुआ प्रणत होता है । 'इस प्रकार यह तेरी शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप सिद्धि' ऐसा कहकर उस गणीके द्वारा (वह श्रामण्यार्थी) प्रार्थित अर्थसे संयुक्त किया जाता हुआ अनुगृहीत होता है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि श्रामण्यार्थी पुरुष बन्धुजनोंसे किस प्रकार सबोध कर श्रामण्यकी प्राप्तिके लिये गणी श्रमणके निकट जाता है । अब इस गाथामें यह बताया गया है कि गणी श्रमणके निकट पहुंचकर क्या करता है ।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रामण्यार्थी पुरुष अनेकगुणविशिष्ट आचार्यके निकट पहुंचता है । (२) आचार्य श्रमण है अर्थात् समस्त आचरण व विरतिके [illegible]

अथैतस्य यथाजातरूपधरत्वस्यासंसारानभ्यस्तत्वेनात्यन्तमप्रसिद्धस्याभिनवाभ्यासकौशलोपलभ्यमानायाः सिद्धेर्गमकं बहिरङ्गान्तरङ्गलिङ्गद्वैतमुपदिशति —

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥२०५॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥२०६॥

यथाजात जिनमुद्रा, कचलुञ्चन विगतवसनभूषणता ।
हिंसारंभरहितता, अप्रति कर्मत्व मुनिलक्षण ॥२०५॥
मूर्च्छारम्भरहितता, उपयोगयोगविशुद्धसयुतता ।
परापेक्षविरहितता, अपुनर्भवहेतु मुनिलक्षण ॥२०६॥

यथाजातरूपजातमुत्पाटितकेशश्मश्रुकं शुद्धम् । रहितं हिंसादितोऽप्रतिकर्म भवति लिङ्गम् ॥ २०५ ॥
मूर्च्छारम्भवियुक्तं युक्तमुपयोगयोगशुद्धिभ्याम् । लिङ्गं न परापेक्षमपुनर्भवकारणं जैनम् ॥ २०६ ॥

आत्मनो हि तावदात्मना यथोदितक्रमेण यथाजातरूपधरस्य जातस्यायथाजातरूपधरत्वप्रत्ययानां मोहरागद्वेषादिभावानां भवत्येवाभावः, तदभावात्तु तद्भावभाविनो निवसनभूषणधारणस्य मूर्धजव्यञ्जनपालनस्य सकिंचनत्वस्य सावद्ययोगयुक्तत्वस्य शरीरसंस्कारकरणत्वस्य

नामसंज्ञ—जधजादरूवजाद उप्पाडिदकेसमंसुग सुद्ध रहिद हिंसादीदो अप्पडिकम्म लिंग मुच्छारंभविजुत्त जुत्त उवजोगजोगसुद्धि लिंग ण परावेक्ख अपुणब्भवकारण जेण्ह। धातुसंज्ञ—हव सत्तायां। प्राति

सकिंचनत्वका सावद्ययोगसे युक्तपनेका तथा शारीरिक संस्कारके करनेका अभाव होता है, जिससे उस आत्माके जन्म समयके रूप जैसा रूप, सिर और दाढ़ी मूछके बालोंका लोच, शुद्धत्व, हिंसादिरहितपना तथा शारीरिक शृंगार संस्कारका अभाव होता ही है। इसलिये यह बहिरंग लिंग है।

और फिर, आत्माके यथाजातरूपधरत्वसे दूर किये गये अयथाजातरूपधरत्वके कारणभूत मोहरागद्वेषादि भावोंका अभाव होनेसे ही, उनके सद्भावमें होने वाले ममत्वके और कर्मप्रक्रमके परिणामका, शुभाशुभ उपरक्त उपयोग और तत्पूर्वक तथाविध योगकी अशुद्धिसे युक्तपनेका तथा परद्रव्यसे सापेक्षत्वका अभाव होनेसे उस आत्माके मूर्छा और आरम्भसे रहितपना, उपयोग और योगकी शुद्धिसे युक्तपना तथा परकी अपेक्षासे रहितपना होता ही है। इस कारण यह अन्तरंग लिंग है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि श्रामण्यार्थी पुरुष अब यथा

तथाविधयोगाशुद्धियुक्तत्वस्य परद्रव्यसापेक्षत्वस्य चाभावान्मूर्च्छारम्भवियुक्तत्वमुपयोगयोगशुद्धियुक्तत्वमपरापेक्षत्वं च भवत्येव, तदेतदन्तरंगं लिंगम् ॥ २०५ २०६ ॥

बहु० । उपयोगयोगशुद्धिभ्यां-तृतीया द्विवचन । ण न-अव्यय । निरुक्ति- शिलष्नातीति केशः श्लिष् विबाधने क्लिश+अच ललोप, श्म मुखम् श्मयते लदयते अनेन इति श्मश्रु । समास- उत्पाटित केशः श्मश्रु च यत्र तत् उत्पाटितकेशश्मश्रु कं, मूर्च्छा च आरम्भश्च मूर्च्छारम्भौ ताभ्यां वियुक्त मूर्च्छारम्भवियुक्तं, उपयोगश्च योगश्चेति उपयोगयोगौ तयो शुद्धि उपयोगयोगशुद्धि ताभ्याम् उपयोगयोगशुद्धिभ्याम् ॥२०५-२०६॥

शुभ व अशुभ उपयोग न होनेसे योग अशुद्ध कैसे बने, अत निर्विकल्पसमाधिरूप योगशुद्धत्व प्रकट होता है, अब मन वचन कायकी चञ्चलता नहीं रहती । (१३) मोहरागद्वेषादिभावका अभाव होनेसे परकी अपेक्षा कैसे बने अत निर्मलानुभूति परिणति व निरपेक्ष सहज शाश्वतता होती है । (१४) मूर्च्छारहितपना आरम्भभावरहितपना, शुद्धोपयोग, स्थिरपना व निरपेक्षपना ये यथाजातरूप मुद्राके अन्तरङ्ग लिङ्ग (चिह्न) हैं ।

सिद्धान्त—१- अन्तरङ्ग बहिरङ्ग उपाधियोंका अभाव होनेसे शुद्ध परिणति प्रकट होती है ।

दृष्टि—१- उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४म) ।

प्रयोग—निरुपाधि शुद्ध शान्त सहजानन्दमय स्वरूप प्रकट करनेके लिये निरुपाधिमुद्रामे रहकर सहज शुद्ध ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी उपासना करना ॥ २०५ २०६ ॥

अब श्रामण्यार्थी इन दोनों लिंगोंको ग्रहण करके, और यह यह करके श्रमण होता है, इस प्रकार भवतिक्रियामे बंधुवर्गसे विदा लेनेरूप क्रियासे लेकर शेष सभी क्रियाओंका एक कर्ता दिखलाते हुये, इतना करनेसे श्रामण्यकी प्राप्ति होती है, यह उपदेश करते हैं—[परमेण गुरुणा] परम गुरुके द्वारा प्रदत्त [तदपि लिंगम्] उन दोनों लिंगोंको [आदाय] ग्रहण करके, [तं नमस्कृत्य] गुरुको नमस्कार करके, [सव्रतां क्रियां श्रुत्वा] व्रत सहित क्रियाको सुनकर [उपस्थित] आत्माके समीप स्थित होता हुआ [स] वह [श्रमणः भवति] श्रमण होता है ।

तात्पर्य—बहिरंग अन्तरंग लिङ्ग ग्रहण करके दीक्षा सुनकर स्वस्थ होता हुआ वह श्रमण होता है ।

टीकार्थ—तत्पश्चात् श्रमण होनेका इच्छुक दोनों लिंगोंको ग्रहण करता है गुरुको नमस्कार करता है, व्रत और क्रियाको सुनता है और फिर उपस्थित होता है, तथा उपस्थित होता हुआ श्रामण्यकी सामग्री परिपूर्ण होनेसे श्रमण होता है । इसका स्पष्टीकरण—प्रथम

क्षाचार्येण तदादानविधानप्रतिपादकत्वेन व्यवहारतो दीयमानत्वाद्दत्तमादानक्रियया सभाव्य तन्मयो भवति । ततो भाव्यभावकभावप्रवृत्तेतरेतरसंवलनप्रत्यस्तमितस्वपरविभागत्वेन दत्तसर्व स्वमूलोत्तरपरमगुरुनमस्क्रियया सभाव्य भावस्तववन्दनामयो भवति । ततः सर्वसावद्ययोगप्रत्या ख्यानलक्षणैकमहाव्रतश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भवन्तमात्मानं जानन् सामायिकमधिरोह ति । ततः प्रतिक्रमणालोचनप्रत्याख्यानलक्षणक्रियाश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन त्रैकालिककर्मभ्यो विविच्यमानमात्मानं जानन्नतीतप्रत्युत्पन्नानुपस्थितकायवाङ्मनःकर्मविविक्तत्वमधिरोहति । ततः समस्तावद्यकर्मायतनं कायमुत्सृज्य यथाजातरूपं स्वरूपमेकमेकाग्रेणालम्ब्य व्यवतिष्ठमान उप स्थितो भवति, उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात्साक्षाच्छ्रमणो भवति ॥२०७॥

नमस्कृत्य साच्चा श्रुत्वा-सम्बन्धार्थप्रक्रिया । तं लिंग लिङ्ग तं सबद गहता किरिय क्रिया-द्वितीया एक वचन । पि अपि-अव्यय । गुरुणा-तृ० एक० । परमेण-तृ० ए० । उवट्ठिदो उपस्थित सो स समणो श्रमण-प्र० एक० । होदि भवति-वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । निरुक्ति- गृणाति उपदिशति धर्मं इति गुरु गिरति अज्ञानं इति गुरु गृ शब्दे क्र्यादि गृ निगरणे तुदादि गृ विज्ञाने चुरादि, गीयते स्तूयते देवा दिभिः इति गुरु ॥२०७॥

तथ्यप्रकाश—(१) श्रामण्यार्थीने परमगुरु अर्हन्त देवसे व तत्काल दीक्षाचार्यसे यथा जातरूपताके समय बहिरङ्ग व अन्तरङ्ग लिङ्गको ग्रहण किया । (२) दीक्षाके ग्रहणके विधान का प्रतिपादकपना होनेसे व्यवहारसे दीक्षाका देना कहलाता है । (३) दीयमान लिङ्गको अङ्गीकार करके यह साधु सभक्ति शुद्ध भावोंमें तन्मय होता है । (४) फिर आराध्य आरा धक भावकी शुद्धता द्वारा स्वपरविभाग शान्त करके अभेद आराधनासे परमगुरुको सम्मानित कर यह साधु भावस्तवमय होता है । (५) फिर उपास्य उपासक भावकी शुद्धता द्वारा स्वपर विभाग शान्त करके अभेदोपासनासे परमगुरुको भावनमस्कार क्रियासे सम्मानितकर यह साधु भाववन्दनामय होता है । (६) फिर सर्वसावद्ययोगके त्यागरूप महाव्रतके भावोंके श्रवणसे अनेक श्रुतियोंके अनुभवसे यह साधु स्वाध्यायमय होता है । (७) सर्वसावद्ययोगत्यागरूप महा- व्रतादि प्रक्रियाके श्रवणके समय श्रुतज्ञान द्वारा स्वसमयमें होने वाले शुद्धात्मत्वका अनुभवता हुआ यह साधु साम्यभावको प्राप्त होता है । (८) फिर प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आलोचनविध यक श्रुतज्ञान द्वारा त्रैकालिक कर्मोंसे रहित सहज ज्ञानमात्र शुद्ध अन्तस्तत्त्वका अनुभवता है । (९) फिर समस्त अवद्यके कारणभूत कायका विकल्प पूर्णतया त्यागकर यथाजात आत्मस्वरूप का आश्रय कर आत्मस्थ होता है । (१०) आत्माके निकट उपस्थित होता हुआ यह साधक समदृष्टि होनेसे साक्षात् श्रमण होता है ।

सिद्धान्त—(१) श्रमण आत्माके शाश्वत सहजस्वरूपका निरखता रहता है । (२) श्रमण शुद्धात्मस्वरूपकी भावनासे निर्विकार हो जाता है ।

श्यकमचेलक्यमस्नानं क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थितिभोजनमेकभक्तश्चैव एते निर्विकल्पसामायिकसंयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव। तेषु यदा निर्विकल्पसामायिकसंयमाधिरूढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्प्रमाद्यति तदा केवलकल्याणमात्रार्थिनः कुण्डलवलयांगुलीयादिपरिग्रहः किल

उभयपदविवरण—वदसमिदिंदियरोधा व्रतसमितीन्द्रियरोधाः लोचावस्सयं लोचावश्यकं अचेलं अस्नानं ... क्षितिशयनं अदतवणं अदन्तधावनं ठिदिभोयणं स्थितिभोजनं एगभत्तं एकभक्तं-प्रथमा एकवचन। च खलु-अव्यय। एदे एते मूलगुणा मूलगुणाः-प्रथमा बहुवचन। समणाणं श्रमणानां-षष्ठी

तात्पर्य—मूल गुणोंमें प्रमाद होनेपर श्रमण छेदोपस्थापनाको धारण करता है।

टीकार्थ—सब सावद्ययोगके प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रतकी व्यक्तियाँ होनेमें हिंसा, असत्य चोरी अब्रह्म और परिग्रहकी विरतिस्वरूप पांच प्रकारके व्रत तथा उनकी परिकरभूत पांच प्रकारकी समिति, पांच प्रकारका इन्द्रियरोध लोच, छह प्रकारके आवश्यक, अचेलकत्व अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन अर्थात् दतौन नहीं करना, खड़े खड़े भोजन, और एक बार आहार लेना, इस प्रकार ये निर्विकल्प सामायिकसंयमके भेद होनेसे श्रमणोंके मूल गुण ही हैं। जब श्रमण निर्विकल्प सामायिकसंयममें आरूढ़ताके कारण मूलगुणरूप विकल्पोंका अभ्यास नहीं है जहाँ ऐसी दशामें प्रमाद करता है, तब केवल सुवर्णमात्रके अर्थीको कुण्डल, कंकण, अंगूठी आदिको ग्रहण करना श्रेय है, किन्तु ऐसा नहीं है कि कुण्डल इत्यादिका ग्रहण कभी न करके सर्वथा स्वर्णकी ही प्राप्ति करना ही श्रेय है' ऐसा विचार करके वह मूल गुणोंमें विकल्परूपसे (भेदरूपसे) अपनेको स्थापित करता हुआ छेदोपस्थापक होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि मैं यह श्रमण श्रामण्यको प्राप्त करता है। अब इस गाथामें बताया गया है कि सतत साम्य सिद्ध संयममें आरूढ़ हुआ भी श्रमण कभी (कदाचित्) छेदोपस्थापनाके योग्य होता है।

तथ्यप्रकाश—१—निर्विकल्प सामायिकसंयमके विकल्प श्रमणोंके मूल गुण कहे जाते हैं। २—वास्तवमें श्रमणोंका मूल गुण यह एक ही है—निर्विकल्प सामायिक संयम। ३—निर्विकल्प सामायिक संयममें संज्वलनचतुष्कके विपाकके कारण स्थिर नहीं रहता, अतः श्रमण विकल्परूप संयमोंको पालता है। ४—अभेदरूपसे संयम एक है, ... सामायिक संयम है। ५—भेदरूपसे संयमपालन छेदोपस्थापनासंयम है। ६—निर्विकल्पसामायिकसंयम शुद्धस्वरूपके स्वभाव सहजपरमात्मतत्त्वकी उपासना रहती है। (७) ... संयम अहिंसामहाव्रत सत्यमहाव्रत आदि नाना रूपोंमें संयमपालन होता है। ८—... ... ...

अथ छिन्नसंयमप्रतिसंधानविधानमुपदिशति—

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि ।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥२११॥
छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि ।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्वं ॥ २१२ ॥

यत्नकृत कायचेष्टा मे कुछ बहिरंग दोष हो जावे ।
तो आलोचनपूर्वक, क्रिया है दोषविनिवारक ॥२११॥
दोष उपयोगकृत हो उसकी आलोचना भि होगी ही ।
जिनमत व्यवहारकथित, अन्य अनुष्ठान आवश्यक ॥२१२॥

प्रयतायां समारब्धायां छेदः श्रमणस्य कायचेष्टायाम् । जायते यदि तस्य पुनरालोचनपूर्विका क्रिया ॥२११॥
छेदोपयुक्तः श्रमणः श्रमणं व्यवहारिणं जिनमते । आसाद्यालोच्योपदिष्टं तेन कर्तव्यम् ॥२१२॥

द्विविधः किल संयमस्य छेदः बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च । तत्र कायचेष्टामात्राधिकृतो बहिरङ्गः, उपयोगाधिकृतः पुनरन्तरङ्गः । तत्र यदि सम्यगुपयुक्तस्य श्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धायां

नामसंज्ञ—पयद समारद्ध छेद समण कायचेट्ठ जदि त पुणो आलोयणपुव्विया किरिया छेदुवजुत्त समण समण ववहारि जिणमद उवदिट्ठ त कायव्व । धातुसंज्ञ - जा प्रादुर्भावे, आ सद गतौ, आ लोच आ

तात्पर्य—संयममें कोई दोष होनेपर निर्यापकसे आलोचना करना व निर्यापकके द्वारा बताये गये प्रायश्चित्तादि कर्तव्यको करना।

टीकार्थ—संयमका छेद दो प्रकारका है, बहिरंग और अन्तरंग। उसमें मात्र कायचेष्टा सम्बन्धी छेद बहिरंग छेद है और उपयोग सम्बन्धी छेद अन्तरंग छेद है। उसमें यदि भली भाँति उपयुक्त श्रमणके प्रयत्नकृत कायचेष्टाका कथंचित् बहिरंग छेद होता है तो वह सर्वथा अंतरंग छेदसे रहित है इस कारण आलोचनापूर्वक क्रियासे ही उसका प्रतिकार होता है। किन्तु यदि वही श्रमण उपयोगसम्बन्धी छेद होनेसे साक्षात् छेदमें ही उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहारविधिमें कुशल श्रमणके आश्रयसे, आलोचनापूर्वक उनके उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा संयमका प्रतिसंधान होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें प्रव्रज्यादायक व छेदोपस्थापक गुरुका निर्देश किया गया था। अब इस गाथाद्वयमें छिन्नसंयमके प्रतिसंधानका अर्थात् छेदोपस्थापनके पदका विधान बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—१— संयमछेद दो प्रकारका है—(१) बहिरंगसंयमछेद (२) अन्त

विरोधेन शुद्धात्मद्रव्यनीरंगनिस्तरंगविश्रान्तिसूत्रणानुसारेण प्रवर्तमाने क्षपणे नीरंगनिस्तरंगान्त रंगद्रव्यप्रसिद्धयर्थमध्यास्यमाने गिरी द्रकदरप्रभृतावावसथे यथोक्तशरीरवृत्तिहेतुमार्गणाधमारभ्य माणे विहारकर्मणि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारयत्वेनाप्रतिषिध्यमाने कवलदेहमात्रे उपधौ प्र ग न्यबोध्यबोधकभावमात्रेण कथंचित्परिचिते श्रमणे शब्दपुद्गलोल्लासमवलनकश्मलितचिद्भित्ति भागाया शुद्धात्मद्रव्यविरुद्धाया कथाया चतस्वपि तद्विकल्पाचित्रितचित्तभित्तितया प्रतिषेध्य प्रतिबन्ध ॥२१५॥

सथे विहारे उवधिम्हि उपधौ समणम्हि श्रमणे विकधम्हि विकथायां-सप्तमी एकवचन। ण ण न पुणो पुन -अव्यय। णिवद्ध निबद्ध-द्वितीया एक०। इच्छदि इच्छति-वर्तमान अन्य० एक० क्रिया। निरंतित-आवसन यत्र तत् आवसथ वस+अथच उपधान उपधि उप धा+कि ॥२१५॥

है ऐसे अन्य मुनिमें, और (७) शब्दरूप पुद्गलपर्यायके साथ सम्बन्ध रखते जिसमें चैतन्यकी भित्तिका भाग मलिन होता है ऐसी शुद्धात्मद्रव्यमें विरुद्ध कथामें भी प्रतिबन्ध त्यागने योग्य है, क्योंकि उनके विकल्पोंसे भी चित्तभूमि चित्रित हो जाती है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें स्वद्रव्यप्रतिबन्धको परिपूर्ण श्रामण्यका कारण बताया गया था। अब इस गाथामें बताया गया है कि श्रमण किसी भी प्रसंगमें सूक्ष्म द्रव्यका प्रतिबन्ध दूर करे।

तथ्यप्रकाश—(१) आगमविरुद्ध आहार विहारादि तो मुनिके कभी होना ही नहीं है। (२) परिपूर्ण श्रामण्यकी सिद्धिके लिये श्रमणको आगमोक्त आहारविहारादिकमें भी विकल्प न रखना चाहिये। (३) श्रामण्य पर्यायके सहकारी कारणभूत शरीरके टिकाव रखने के लिये शुद्ध आहार ग्रहण करना विधेय है। (४) श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारणभूत शरीर का टिकाव जिससे न मिटे ऐसा वह उपवास विधेय है जो शुद्धात्मद्रव्यमें स्थिरता करानेके अनुसारी हो। (५) अविकार अन्तस्तत्त्वकी सिद्धिके लिये पर्वत गुफा आदि निवास स्थानोंमें रहना विधेय है। (६) शुद्धात्मद्रव्यकी साधना बनाये रहनेके लिये किया जाने वाला यथायोग्य निक विहार विधेय है। (७) श्रामण्य पर्यायका सहकारी कारणभूत होनेसे केवल देहमात्र उपाधि अथवा दिगम्बर वेश प्रतिषिध्यमान नहीं है। (८) तत्त्व मननमें व मननानेके लिये श्रमण जनोंका कथंचित् परिचय करना सत्संग करना विधेय है। (९) विपरीत कथाओंमें भी प्रतिबन्ध (लगाव) करना निषिद्ध है, क्योंकि उनके विकल्पोंसे उपयोग उपरक्त हो जाता है जिससे अन्तरङ्ग छेद हो जाता है। (१०) श्रमण जनोंको शुद्धात्मद्रव्यविरुद्ध विकथामें तो कभी रहना ही न चाहिये। (११) श्रमण श्रमणजनोंके निकट रहता हुआ भी मूर्च्छा न करे।

च हिंसा। अत श्रमणस्याशुद्धोपयोगाविनाभाविनी शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिष्वप्रयता या चर्या सा खलु तस्य सर्वकालमेव सतानवाहिनी छेदानर्थान्तरभूता हिंसैव ॥२१६॥

पदविवरण—अपयत्ता अप्रयता चरिया चर्या हिंसा सा–प्र० एक०। सयणासनठाणचकमादीसु शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिषु–सप्तमी बहुवचन। समणस्स श्रमणस्य–षष्ठी एकवचन। सव्वकाले–सप्तमी एक०। सतत्तिय सतता–प्र० एक०। मदा मता–प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया। त्ति इति या–अव्यय। निरुक्ति–चरण चर्या चर+यत्+टाप, पुन पुन क्रमण चङ्क्रमण क्रम्+यङ+ल्युट् क्रमु पादविक्षेपे। समास–शयन आसन स्थान चङ्क्रमण आदि येषा ते शयनासनस्थानचङ्क्रमणाद्य तेषु स० ॥२१६॥

और यह सयमका छेद है। (२) असावधानीसे प्रवृत्ति करनेमे अशुभोपयोग बना रहता है जिससे लगातार हिंसा चलती है। (३) अप्रयत चर्यामे भावहिंसा होनेसे अपनी हिंसा है, पर जीवका विघात सभव होनेसे परहिंसा भी है। (४) अप्रयत चर्या अशुद्धोपयोग हुए बिना नही होती और अशुद्धोपयोग ही सयमका छेद है। (५) शुद्धोपयोग ही तो परम श्रामण्य है उसका भग अशुद्धोपयोगसे होता है अत अशुद्धोपयोग अन्तरङ्ग छेद है। (६) अशुद्धोपयोग से श्रामण्यका घात होता है अत अशुद्धोपयोग हिंसा है। (७) बाह्य व्यापार रूप शत्रुओको तो श्रमणने पहिले ही हटा दिया था। (८) जब शरीर साथ लगा है तब शयन आसन आहार विहार शुद्धात्मद्रव्यप्रसिद्धिके अविरुद्ध करना आवश्यक हो जाता है। (९) शयनासनादि अनिवार्य कर्तव्योमे लगाव न रखना कषाय न जगाना इस वृत्तिमे श्रामण्यका विघात न होगा। (१०) सयमच्छेद न होनेसे आत्मविकासकी प्रगति होती है।

सिद्धान्त—(१) निर्विकल्प सामायिकसयमका साधक समस्त परद्रव्यका प्रतिबन्धका प्रतिषेध है।

दृष्टि—१– प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ)।

प्रयोग—अन्तरङ्ग कषायशत्रुसे बचे रहनेके लिये परद्रव्यका प्रतिबन्ध (विकल्प) त्यागकर सकलशरहित होना ॥२१६॥

अब अन्तरग और बहिरग रूपसे छेदकी द्विविधता बतलाते हैं—[जीव] जीव [म्रियतां वा जीवतु वा] मर या जिये, [अयताचारस्य] अप्रयत आचार वालेके [हिंसा] हिंसा [निश्चिता] निश्चित है, [समितस्य प्रयतस्य] शुद्धात्मस्वरूपके अभिमुख साधनामे तत्पर श्रमणके [हिंसामात्रेण] बहिरग हिंसामात्रसे [बन्ध] बन्ध [नास्ति] नही है।

तात्पर्य—प्रमत्तयोग न होनेसे श्रमणके हिंसापाप नही होता।

टीकार्थ—अशुद्धोपयोग अन्तरग छेद है, परप्राणोका घात बहिरगछेद है। उनमे अन्तरगछेद ही विशेष बलवान है, बहिरगछेद नही, क्योंकि परप्राणोके व्यपरोपका सद्भाव हो या असद्भाव जो अशुद्धोपयोगके बिना नही होता उस अप्रयत आचारसे प्रसिद्ध है . . .

अथ सर्वथान्तरंगच्छेदः प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥२१८॥

छह कायोमें अयताचारी मुनि नित्य है कहा बंधक।
यत्नसहित चर्या हो, तो जलमें पद्मवत् निर्मल ॥२१८॥

अयताचारः श्रमणः षट्स्वपि कायेषु वधकर इति मतः। चरति यतं यदि नित्यं कमलमिव जले निरुपलेपः ॥२१८॥

यतस्तदविनाभाविना अप्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावः षट्कायप्राणव्यपरोपप्रत्ययबंधप्रसिद्ध्या हिंसक एव स्यात्। यतश्च तद्विनाभाविना प्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यद

नामसंज्ञ—अयदाचार समण छ वि काय वधकर त्ति मद जदं जदि णिच्चं कमल व जल णिरुवलेव। धातुसंज्ञ—चर गतौ मन्न अवबोधने। प्रातिपदिक—अयताचार श्रमण षट् अपि काय वधकर इति

रण अशुद्धोपयोग होनेपर होता है अतः अशुद्धोपयोग सुनिश्चित हिंसा है। (६) दूसरे जीवके प्राणोका घात हो या न हो जहाँ अशुद्धोपयोग है जिसके बलपर ही असावधानीका आचरण होता है, वहाँ हिंसा निश्चित ही है। (७) जहाँ अशुद्धोपयोग नहीं है और सावधानीका आचरण है वहाँ दूसरे जीवका कदाचित् प्राणव्यपरोप भी हो गया तो भी अहिंसा है। (८) अहिंसाभावकी पहचान यह है कि उस भावमें बंध नहीं होता। (९) अशुद्धोपयोग रूप अन्तरंग छेद स्वयं हिंसा है अतः अन्तरङ्ग छेद बलिष्ठ है। (१०) यद्यपि अन्तरंग छेद ही बलिष्ठ है तो भी अन्तरङ्ग छेदका आयतन होनेसे बहिरङ्ग छेद भी अनपकारी है।

सिद्धान्त—(१) अन्तरङ्ग छेद बलिष्ठ होनेके कारण बहिरंग छेद विसर्जनीय है।

दृष्टि—१- बलवत्पक्षनय (२०३)।

प्रयोग—परमार्थ स्वास्थ्यमें ही आत्महित जानकर अन्तरङ्ग छेद व बहिरङ्ग छेदका परिहार करना ॥२१७॥

अब सब प्रकारसे अन्तरंग छेद त्याज्य है ऐसा उपदेश करते हैं—[अयताचारः श्रमणः] अप्रयत आचार वाला श्रमण [षट्सु अपि कायेषु] छहों काय सम्बन्धी [वधकरः] वधका करने वाला है [इति मतः] ऐसा माना गया है। [यदि] यदि मुनि [नित्यं] सदा [यतं चरति] प्रयतरूपसे आचरण करे तो [जले कमलम् इव] जलमें कमलकी भांति [निरुपलेपः] निर्लेप कहा गया है।

तात्पर्य—अयत्नाचारी पुरुष छहों कायका हिंसक है, यत्नाचारी पुरुष जलमें कमल

अथकान्तिका तरंगच्छेदत्वमुपधेर्विस्तरेणोपदिशति—

किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स।
तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि ॥ २२१ ॥

परद्रव्यनिरतके क्यों नहीं हो प्रारंभ मूर्च्छा असयम।
असदृष्टि वह कैसे, आत्माकी सिद्धि कर सकता ॥२२१॥

कथं तस्मिन्नास्ति मूर्च्छा आरम्भो वा असंयमस्तस्य। तथा परद्रव्ये रतः कथमात्मानं प्रसाधयति ॥२२१॥

उपधिसद्भावे हि ममत्वपरिणामलक्षणाया मूर्च्छायास्तद्विषयककर्मप्रक्रमपरिणामलक्षणस्यारम्भस्य शुद्धात्मरूपहिंसनपरिणामलक्षणस्यासंयमस्य चावश्यंभावित्वात्तथोपधिद्वितीयस्य परद्रव्यरतत्वेन शुद्धात्मद्रव्यप्रसाधकत्वाभावाच्च ऐकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वमुपधेरवधार्यत एव। इदमत्र तात्पर्यमेवंविधत्वमुपधेरवधार्य स सर्वथा संन्यस्तव्यः ॥२२१॥

नामसंज्ञ—किध त ण मुच्छा आरंभ वा असंजम त तध परदव्व रद कध अप्प। धातुसंज्ञ—अस सत्तायां प साह साधने। प्रातिपदिक—कथ तत् न मूर्च्छा आरम्भ वा असंयम तत् तथा परद्रव्य रत कथं आत्मन्। मूलधातु—अस् भुवि प साह साधने। उभयपदविवरण—किध कथं वा तध तथा कध कथं—अव्यय। तम्हि तस्मिन् परदव्वम्मि परद्रव्ये—सप्तमी एक०। अत्थि अस्ति पसाधयदि प्रसाधयति—वर्तमान अन्य० एक० क्रिया। मुच्छा मूर्च्छा आरंभो आरंभ असंजमो असंयम रदो रत—प्रथमा एक०। अप्पाणं आत्मानं—द्वितीया एकवचन। निरुक्ति—मूर्च्छनं मूर्च्छा मूर्च्छ + अच + टाप् मूर्च्छनमात्रमेव मूर्च्छा ॥२२१॥

[असयम] असंयम [कथं] कैसे [नास्ति] नहीं है? [तथा] तथा [परद्रव्ये रत] परद्रव्यमें लीन भिक्षु [आत्मानं] आत्माको [कथं] कैसे [प्रसाधयति] साध सकता है?

तात्पर्य—परिग्रहके होनेसे मूर्च्छा आरम्भ व असंयम होता है तब परद्रव्यमें रत वह भिक्षु आत्मसाधना नहीं कर सकता।

टीकार्थ—निश्चित रूपसे उपधिके सद्भावमें ममत्वपरिणाम जिसका लक्षण है ऐसी मूर्च्छा उपधि सम्बन्धी कर्मप्रक्रमका परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा आरम्भ, अथवा शुद्धात्म स्वरूपकी हिंसारूप परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा असंयम अवश्यमेव होता ही है। तथा उपधि जिसका द्वितीय हो उसके परद्रव्यमें लीनता होनेके कारण शुद्धात्मद्रव्यकी साधकताका अभाव होनेसे उपधिके एकान्तिक अन्तरंगछेदपना निश्चित होता ही है। यहाँ यह तात्पर्य है कि—'उपधिका अन्तरंगछेदपना निश्चित करके उसे सर्वथा छोड़ना चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें उपधिप्रतिषेधको अन्तरंगच्छेदप्रतिषेध कहा गया था। अब इस गाथामें विस्तारपूर्वक उपधिको अन्तरंगच्छेद बताया गया है।

शिष्टकालक्षेत्रवशात्कश्चिदप्रतिषिद्ध इत्यपवाद । यदा हि श्रमण सर्वोपधिप्रतिषेधमास्थाय परममुपेक्षासयम प्रतिपत्तुकामोऽपि विशिष्टकालक्षेत्रवशावसन्नशक्तिर्न प्रतिपत्तु क्षमते तदापकृष्य सयम प्रतिपद्यमानस्तद्बहिरङ्गसाधनमात्रमुपधिमातिष्ठते । स तु तथा स्थीयमानो न खलूपधित्वाच्छेद , प्रत्युत छेदप्रतिषेध एव । य किलाशुद्धोपयोगाविनाभावी स छेद । अयं तु श्रामण्य

क्षेत्र । मूलधातु–विद सत्तायां वृतु वर्तने, वि ज्ञा अवबोधने । उभयपदविवरण—छेदो छेद –प्रथमा एक० । जेण येन तेण तेन–तृतीया एक० । ण न इह–अव्यय । विज्जदि विद्यते–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । गहण विसग्गेसु ग्रहणविसर्गेषु–सप्तमी बहु० । सेवमाणस्स सेवमानस्य–षष्ठी एक० । समणो श्रमण –प्रथमा ए० । वट्टदु वर्तताम्–आज्ञार्थे अन्य० एक० क्रिया । काल खेत्त क्षेत्र–द्वितीया एक० । वियाणित्ता विज्ञाय–सम्ब

टीकार्थ— आत्मद्रव्यके द्वितीय पुद्गलद्रव्यका अभाव होनेसे समस्त ही उपधि निषिद्ध है यह तो उत्सर्ग है, और विशिष्ट कालक्षेत्रके वश कोई उपधि अनिषिद्ध है यह अपवाद है । जब श्रमण सब उपधिके निषेधका प्रयोग कर परमोपेक्षा सयमको प्राप्त करनेका इच्छुक होने पर भी विशिष्ट काल क्षेत्रके वश हीन शक्ति वाला होनेसे उस प्राप्त करनेमें असमर्थ होता है, तब उसमें हीनता करके सयम प्राप्त करता हुआ उसकी बहिरग साधनमात्र उपधिका आश्रय लेता है । इस प्रकार जिसका आश्रय लिया जाता है ऐसी वह उपधि उपधिपनेके कारण वास्तवमें छेदरूप नही है, प्रत्युत छेदकी निषेधरूप ही है । जो उपधि अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होती वह छेद है । किन्तु सयमकी बाह्यसाधनमात्रभूत उपधि तो श्रामण्यपर्यायकी सहकारी कारणभूत शरीरकी वृत्तिके हेतुभूत आहार-नीहारादिके ग्रहण-त्याग सबधी छेदके निषेधार्थ ग्रहण की जानेसे सर्वथा शुद्धोपयोगका अविनाभूतपना होनेसे छेदके निषेधरूप ही है ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सपरिग्रहताका अन्तरङ्गछेदपना बताया गया था । अब इस गाथामें बताया गया है कि "किसीके कही कभी कथचित् कोई उपधि अप्रतिषिद्ध भी होती है" ऐसा अपवादोपदेश किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) उत्सर्ग मार्ग (निर्विवाद स्पष्ट मार्ग) तो यही है कि समस्त उपधिका परिहार करना चाहिये, क्योंकि आत्माके स्वरूपमें पुद्गलादि द्रव्य कुछ है ही नहीं । (२) जब कोई श्रमण उपेक्षासयमका भाव रखकर भी उत्कृष्टसयम पालनमें समर्थ नहीं है तब वह सयमका साधक बाह्य साधन ग्रहण करता है यह अपवाद मार्ग है । (३) वहाँ अपवाद मार्गका पथ सर्वथा नहीं है किन्तु आगमोक्त विधिसे उपकरण ग्रहण करना, समितिरूप प्रवृत्ति करना अपवाद मार्ग है । (४) उत्सर्गमार्गमें परम उपेक्षा है । (५) अपवादमार्गमें विधिपूर्वक समिति आदिकी प्रवृत्ति है । (६) आगमोक्त अपवादमार्ग भी उसीका उचित होता है जो सर्वोपधिके प्रतिषेधका प्रयोग कर परमोपेक्षासयमको प्राप्त करनेका इच्छुक होकर भी

अथाप्रतिषिद्धोपधिस्वरूपमुपदिशति—

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं।
मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥२२३॥

साधू बंधसाधन, अयतोंके अनभिलषित व अनिंदित।
मूर्च्छादिजननविरहित अल्पोपधि उपकरण धारे ॥२२३॥

अप्रतिकुष्टमुपधिमप्रार्थनीयमसंयतजनैः। मूर्च्छादिजननरहितं गृह्णातु श्रमणो यद्यप्यल्पम् ॥ २२३ ॥

यः किलोपधिः सर्वथा बन्धासाधकत्वादप्रतिकुष्टः संयमादन्यत्रानुचितत्वादसंयतजनाप्रार्थनीयो रागादिपरिणाममन्तरेण धार्यमाणत्वान्मूर्च्छादिजननरहितश्च भवति स खल्वप्रतिषिद्धः। अतो यथोदितस्वरूप एवोपधिरुपादेयो न पुनरल्पोऽपि यथोदितविपर्यस्तस्वरूपः ॥२२३॥

नामसंज्ञ—अप्पडिकुट्ठ उवधि अपत्थणिज्ज असंजद जण मुच्छादिजणण रहिद समण जदि वि अप्प। धातुसंज्ञ—गिण्ह ग्रहणे। प्रातिपदिक—अप्रतिकुष्ट उपधि अप्रार्थनीय असंयतजन मूर्च्छादिजननरहित श्रमण यदि अपि अल्प। मूलधातु—ग्रह उपादाने। उभयपदविवरण—अप्पडिकुट्ठं अप्रतिकुष्टं उवधिं उपधिं अपत्थणिज्जं अप्रार्थनीयं मुच्छादिजणणरहिदं मूर्च्छादिजननरहितं अप्पं अल्पं—द्वितीया एकवचन। असंजदजणेहिं असंयतजनैः—तृतीया बहुवचन। समणो श्रमणः—प्रथमा एकवचन। जदि यदि वि अपि—अव्यय। गेण्हदु गृह्णातु—आज्ञार्थे अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। निरुक्ति—अप्रकुष्ट इति कुष्ट कुश आह्वाने रोदने च प्र कुश+क्त अ प्रति उपसर्ग। समास—असंयताश्च ते जनाश्चेति असंयता जनाः, मूर्च्छादीनां जननं तेन रहितस्तं मूर्च्छादिजननरहितं ॥२२३॥

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें अप्रतिषिद्ध उपधिका निर्देश किया गया था। अब इस गाथामें अप्रतिषिद्ध उपधिका स्वरूप बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) जो बंधका साधक न हो, जिसको असंयमी जन इच्छा न करें, जो रागादि परिणामके बिना रखा जा सकता हो वह उपकरण अप्रतिषिद्ध है। (२) जो बंधका साधक हो ऐसा थोड़ा भी कुछ पदार्थ संयमीजनके ग्रहणके योग्य नहीं है। (३) असंयमी जन जिसको उठा लेनेका भाव कर सकें वह पदार्थ संयमी जनके ग्रहणके योग्य नहीं है। (४) जिसके रखनेसे रागादि परिणाम हो सकें वह पदार्थ संयमी जनके ग्रहणके योग्य नहीं है। (५) संयमी पुरुष वे हैं जिनके अविकारसहजज्ञायकस्वरूप स्वकी उपलब्धिरूप भावसंयम हो।

सिद्धान्त—(१) उपकरणका प्रयोग करने वाले श्रमणके परका मन, करने आदिका पक्षकरणाको प्रतीति" निरन्तर है।

दृष्टि—१- प्रतिपक्ष शुद्धनय (४६५)।

प्रयोग—विशुद्ध चर्या करते हुए जो निष्क्रिय निरपेक्ष सहजात्मावबोध अर्जित व

तत्र शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसम्भावनरसिकस्य पुंस शेषोऽन्योऽनुपात्त परिग्रहो वराक किं नाम स्यादिति व्यक्त एव हि तेषामाकूत । अतोऽवधार्यते उत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवाद । इदमत्र तात्पर्यं वस्तुधर्मत्वात्परमनैर्ग्रन्थ्यमेवावलम्ब्यम् ॥२२४॥

द्रा–प्रथमा बहुवचन । णिप्पडिकम्मत्तं निःप्रतिकर्मत्व–द्वितीया एकवचन । उद्दिट्ठा उद्दिष्टवन्त–प्रथमा बहुवचन क्रिया । निरुक्ति–तक्षण तक्ष तक्+अच् तक्र तक्रणे चुरादि दिह्यते उपचीयते य स देह दिह्+घञ् दिह् उपचये अदादि । समास–जिनेषु वरा जिनवरा तेषां इन्द्रा जिनवरेन्द्रा ॥२२४॥

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे अप्रतिषिद्ध उपधिका स्वरूप बताया गया था । अब इस गाथामें बताया गया है कि परमार्थत उत्सर्ग ही वास्तविक धर्म है अपवाद नही ।

तथ्यप्रकाश—(१) यद्यपि श्रामण्यपर्यायका सहकारी कारण है यह अत्यत मिला हुआ देह, तथापि है तो परद्रव्य ही अत यह देह उपधि अनुग्रहके योग्य नहीं, किन्तु उपेक्षणीय ही है । (२) जब अत्यत मिला हुआ द्रव्यलिङ्ग वाला देह भी उपेक्ष्य है तब अन्य पृथक् अवस्थित पदार्थ शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिरसिक पुरुषोंको अनुग्रहके योग्य कैसे हो सकते हैं । (३) उत्सर्ग ही आत्मवस्तुका परम धर्म है, अपवाद नहीं अत शुद्धोपयोगरूप परमोपेक्षासंयमके बलसे परमनिर्ग्रन्थता ही आश्रेय है ।

सिद्धान्त—(१) सहजात्मस्वरूपके अनुरूप उपयोग ही कल्याणकारी है ।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय, परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय, शुद्ध परमपारिणामिकभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२४ब, ३०, ३०अ) ।

प्रयोग—व्यवहारधर्मसे अपनको सुरक्षित सुपात्र बनाकर परमनैर्ग्रन्थ्यरूप अभेदरत्नत्रय निश्चयधर्मरूप परिणत होनेका पौरुष होने देना ॥२२४॥

अब अपवादविशेष कौनसे हैं, सो कहते हैं—[जिनमार्गे] जिनमार्गमें [यथाजातरूप लिंग] यथाजातरूप लिंग [उपकरणं इति भणितम्] उपकरण है ऐसा कहा गया है, [च] तथा [गुरुवचनं] गुरुका वचन, [सूत्राध्ययनं च] सूत्रोंका अध्ययन [च] और [विनय अपि] विनय भी [निर्दिष्टम्] उपकरण कहा गया है ।

तात्पर्य—निर्ग्रन्थ लिङ्ग, गुरुवचन, सूत्राध्ययन व विनय भी जैनमार्गमें उपकरण कहा गया है ।

टीकार्थ—इसमें जो अनिषिद्ध उपधि अपवादरूप है, वह सभी श्रामण्य पर्यायके सहकारी कारणके रूपमें उपकार करने वाला होनेसे उपकरणभूत है दूसरा नहीं । उसके विशेष (१) सर्व आहार्य रहित सहजरूपसे अपेक्षित यथाजातरूपपनेके कारण बहिरंग

मर्थश्रुतज्ञानसाधनीभूतशब्दात्मकसूत्रपुद्गलाश्च शुद्धात्मतत्त्वव्यञ्जकदर्शनादिपर्यायतत्परिणत पुरुषविनीतताभिप्रायप्रवर्तकचित्तपुद्गलाश्च भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यं, कायवद्वचनमनसी अपि न वस्तुधर्म ॥२२५॥

उपकरण लिंग लिङ्ग जहजादरूव यथाजातरूप गुरुवयण गुरुवचन विणओ विनय सुत्तज्झयण सूत्राध्ययन-प्रथमा एकवचन । जिणमग्गे जिनमार्गे-सप्तमी एकवचन । भणिद भणित णिहिट्ठ निर्दिष्ट-प्रथमा एकवचन कृदन्त क्रिया । निरुक्ति—सूच्यते येन स मार्ग मार्ग+घञ् मार्ग अन्वेषणे, सूत्र्यते यत् तत् सूत्र सूत्र वेष्ठन । समास- गुरो वचन गुरुवचन सूत्रस्य अध्ययन सूत्राध्ययनं ॥२२५॥

सम्यक्त्वादिपर्यायोंसे परिणत पुरुषोंके प्रति विनम्रताके अभिप्रायमें प्रवर्तने वाले चित्तपुद्गल अर्थात् विनय उपकरण है । ७- उक्त सब उपकरण श्रामण्य पर्यायके सहकारी कारण होनेसे उपकारक हैं व अप्रतिषिद्ध हैं तथापि ये सब काय वचन व मन ही तो है, अतः वस्तुधर्म नहीं हैं । ८- काय स्पष्ट रूपसे वस्तुधर्म नहीं है, इसी प्रकार वचन व मन भी वस्तुधर्म नहीं है ।

सिद्धान्त—(१) अखण्ड शाश्वत सहज अंतःस्वभावमात्र आत्माका दर्शन, प्रत्यय, अनुभव निरन्तर बना रहना ही वास्तविक परमार्थ धर्मपालन है ।

दृष्टि—१- अखण्ड परमशुद्धनिश्चयनय, अखण्ड परम शुद्ध सद्भूत व्यवहार (४८, ६६) ।

प्रयोग—मनवचनकायसम्बन्धी उपकरणोंसे श्रामण्यपर्यायकी पुष्टताके लिये सहयोग लेकर मन वचन कायको वस्तुधर्म न जानकर उनकी परम उपेक्षा द्वारा सहजात्मस्वरूपमें उपयुक्त होना ॥२२५॥

अब अनिषिद्ध शरीर मात्र उपधिके पालनके विधानका उपदेश करते हैं—[इहलोक निरपेक्ष] इस लोकमें निरपेक्ष और [परस्मिन् लोके] परलोकमें [अप्रतिबद्ध] अप्रतिबद्ध [श्रमण] श्रमण [रहितकषाय] कषायरहित होता हुआ [युक्ताहारविहार भवेत्] युक्ताहार विहारी होता है ।

तात्पर्य—लोकपरलोकविषयक अभिलाषाओंसे रहित श्रमण युक्ताहारविहारी होता है ।

टीकार्थ—अनादिनिधन एकरूप शुद्ध आत्मतत्त्वमें परिणतपना होनेसे समस्त कर्मपुद्गलके विपाकसे अत्यन्त विविक्त स्वभाव युक्तपना होनेके कारण कषायरहित होनेसे, वर्तमान कालमें मनुष्यत्वके होते हुए भी स्वयं समस्त मनुष्यव्यवहारसे बहिर्भूत होनेके कारण इस लोकके प्रति निरपेक्षता होनेसे तथा भविष्यमें होने वाले देवादि भावोंके अनुभवकी तृष्णासे शून्य होनेके कारण परलोकके प्रति अप्रतिबद्धपना होनेसे परिच्छेद्य पदार्थोंके ज्ञानकी सिद्धिके लिये

द्धयप्रदीपपूरणोत्सर्पणस्थानीयाभ्यां शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भप्रसिद्धपर्यन्तच्छरीरसभोजनसंचलनाभ्यां युक्ताहारविहारो हि स्यात् श्रमणः । इदमत्र तात्पर्यम्—यतो हि रहितकषाय ततो न तच्छरीरानुरागेण दिव्यशरीरानुरागेण वाहारविहारयोरयुक्त्या प्रवर्तेत । शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधक श्रामण्यपर्यायपालनायव केवल युक्ताहारविहारः स्यात् ॥२२६॥

लोयम्हि लोके—सप्तमी एक० । हवे भवेत्—विधौ अन्य० एक० क्रिया । निरवित—अत्र इति इह (इदं+ह आदेश), कषति इति कषाय (कष+आय) कष हिंसाथ भ्वादि । समास—युक्त आहार विहार यस्य स युक्ताहारविहार ॥२२६॥

है । (८) कषायरहित होनेसे श्रमण भविष्यमे होने वाले देवादिभावोके अनुभवकी तृष्णासे अत्यन्त दूर है । (६) परभवकी अपेक्षावोसे रहित होनेके कारण श्रमणके दिव्यशरीरमे भी अनुराग नही है । (१०) शरीरका अनुराग न होनेपर भी शुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिसाधक श्रमण जीवनमे जीवनके लिये आहार करना निषिद्ध नही है । (११) आहार करना आवश्यक होने की स्थितिमे भी आत्मस्वरूपके परिज्ञानी श्रमण अयोग्य आहारका ग्रहण नही करता, किन्तु योग्य आहार ही ग्रहण करता है । (१२) श्रामण्य (मुनिपना) का पालन अयोग्य आहार लेने मे सभव नही है । (१३) श्रमण केवल शुद्धात्मतत्त्वकी रुचि वाले होते हैं । (१४) शुद्धात्म तत्त्वके रुचिया श्रमण कषायके वातावरणसे दूर रहते हैं । (१५) कषायके वातावरणसे दूर रहनेके लिये श्रमण एक स्थानपर बहुत दिन नही रहते अत वे विहार करते रहते हैं । (१६) विहार करना आवश्यक होनेकी स्थितिमे योग्यायोग्य द्रव्य क्षेत्र काल भावके परिज्ञानी श्रमण अयोग्य विहार नहीं करते, किन्तु योग्य ही विहार करते हैं । (१७) शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिये ही श्रमणका योग्य आहार विहार होता है । (१८) जैसे प्रकाश पाते रहनेके लिये दियामे योग्य तलका डालना (आहार) व योग्य बातोका उपकरत रहना (विहार) आवश्यक है, एसे ही श्रामण्यपर्यायपालनके लिये योग्य आहार विहार अप्रतिषिद्ध है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धात्मतत्त्वकी शुद्ध भावना होनेसे अयोग्य आहार विहार दूर हो जाता है । (२) शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी धुन वाले आहार करते हुए भी उसके भोक्ता नहीं ।

दृष्टि—१- शुद्ध भावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) । २–अभोक्तृनय (१६२) ।

प्रयोग—सहजानन्दमय आत्मतत्त्वकी उपलब्धिके लिये निरन्तर प्रयत्न रहकर योग्य मुनिचर्या कर जीवनपर्यन्त शुद्ध चैतन्य महाप्रभुकी आराधना करना ॥२२६॥

अब युक्ताहारविहारी साक्षात् अनाहारविहारी ही है यह बताते हैं—[यस्य आत्मा अनेषण] जिसकी दृष्टिमे आत्मा आहारकी इच्छासे रहित है [तत् अपि तप] वह निराहार-

चरन्ति, ते किलाहरन्तोऽप्यनाहरन्त इव युक्ताहारत्वेन स्वभावपरभावप्रत्ययबन्धाभावात्साक्षादनाहारा एव भवन्ति। एवं स्वयमविहारस्वभावत्वात्समितिशुद्धविहारत्वाच्च युक्तविहारः साक्षादविहार एव स्यात् इत्यनुक्तमपि गम्यतेति ॥२२७॥

श्रमण अयत् भक्ष अनपण अन्य तत् श्रमण अनाहार। मूलधातु–भिक्ष भिक्षायां। उभयपदविवरण—जस्स यस्य–षष्ठी एक०। अप्पेसण अनेषण अप्पा आत्मा–प्रथमा एक०। तं तत् तवो तप–प्रथमा एक०। तप्पडिच्छगा तत्प्रत्ययका समणा श्रमणा ते समणा श्रमणा अणाहारा अनाहारा–प्रथमा बहुवचन। अण्णं अन्यत् भिक्खं भक्ष–द्वि० एक०। अणेसणं अनशनं–क्रियाविशेषणं। अध अथ पि अपि–अव्यय। निरुक्ति– भिक्षणं भिक्षा भिक्षास्येद इति भक्ष (भिक्ष्+अण्) भिक्ष भिक्षायां अलाभे लाभे च। समास– न आहार येषां ते अनाहारा ॥२२७॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें अप्रतिषिद्ध श्रमणशरीरके पालनका विधान बताया गया था। अब इस गाथामें यह बताया गया है कि योग्य आहार विहार करने वाले श्रमण साक्षात् अनाहारी व अविहारी है।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण अपने आत्माके अनाहारस्वभावकी सतत प्रतीति रखता है। (२) अनाहारस्वभावी होनेपर भी श्रमण संयमसाधक शरीरके पालनके लिये एषणाके दोषसे रहित भक्ष्य चर्या करता है। (३) अनाहारस्वभावदृष्टि वाला तथा निर्दोष चर्या वाला होनेसे योग्य आहार करता हुआ भी श्रमण साक्षात् (परमार्थसे) अनाहार ही है। (४) श्रमण सदा ही अपने आत्माको समस्त पुद्गलोंके अहरण (अग्रहण) करनेरूप मानते हैं। (५) श्रमण आहारविषयक तृष्णासे रहित होते हैं। (६) अनशन स्वभावके अनुभवने वाले श्रमणों का यह अनाहारचैतन्य प्रतपन अन्तरङ्ग तप है। (७) अनाहारभव्य अन्तस्तत्त्वरूप तपकी सिद्धिके लिये निर्दोष विधिसे निर्दोष आहार ग्रहणकी चर्या करते हैं। (८) अनशन स्वभाव अन्तस्तत्त्वके भावने वाले श्रमण निर्दोष भिक्षाचर्यासे आहार ग्रहण करते हुए भी श्रमणोंके अनाहारीकी तरह स्वभावपरभावनिमित्तक बन्ध नहीं होता। (९) आहार करते हुए भी श्रमणके जब अनाहारी श्रमणकी भांति बन्ध नहीं है, तब वे साक्षात् अनाहारी ही है। (१०) आत्मा का विहार करना स्वभाव नहीं है, आत्मा अविहारस्वभाव है। (११) अविहारस्वभावी होनेसे और उसकी सिद्धिके लिये समितिसे शुद्ध विहार होनेसे योग्य विहार वाले श्रमण साक्षात् विहाररहित ही समझिये।

सिद्धान्त—(१) निष्क्रिय शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी भावना करने वालेके क्रियाका प्रसङ्ग नहीं रहता। (२) निष्क्रिय शुद्ध अन्तस्तत्त्वके भावने वाला विहार करके भी विहारका कर्ता नहीं।

रानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य । अप्रतिपूर्णोदर एवाहारो युक्ताहार तस्यैवाप्रतिहतयोगत्वात् । प्रतिपूर्णोदरस्तु प्रतिहतयोगत्वेन कथंचित् हिंसायतनीभवन् न युक्त । प्रतिहतयोगत्वेन न च युक्तस्य यथालब्ध एवाहारो युक्ताहार तस्यैव विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागशून्यत्वात् । अयथा लब्धस्तु विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्त । विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य । भिक्षाचरणेनवाहारो युक्ताहार तस्यवारम्भशून्यत्वात् । अभैक्षाचरणेन त्वारम्भसभवात्प्रसिद्धहिंसायतनत्वेन न युक्त । एवविधाहारसेवन व्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य । दिवस एवाहारो युक्ताहार तदेव सम्यगवलोकनात् । अदि

धातुसज्ञ—लभ प्राप्तौ । प्रातिपदिक—एव खलु तत् भक्त अप्रतिपूर्णोदर यथालब्ध चरण भिक्षा दिवा न रसापेक्ष न मधुमास । मूलधातु—डुलभष् प्राप्तौ । उभयपदविवरण—एव एव त त भक्त भक्त अप्र०

होता हुआ योग्य नहीं है, और प्रतिहत योग वाला होनेसे पूर्णोदर आहार युक्त न हुएके भी यथालब्ध आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही आहार विशेषप्रियतास्वरूप अनुरागसे शून्य है । अयथालब्ध आहार विशेषप्रियतास्वरूप अनुरागसे सेवन किया जानेसे आत्यन्तिक हिंसायतन किया जाता हुआ योग्य नहीं है । और विशेष प्रियतास्वरूप अनुरागके द्वारा सेवन करने वाला होनेसे अयथालब्ध आहारयुक्त न हुएके भी भिक्षाचरणसे आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही आरम्भशून्य है । भिक्षाचरण रहित आहारमें आरम्भका सम्भव होनेसे हिंसायतनत्व प्रसिद्ध है, अत वह आहार योग्य नहीं है और एसे आहारके सेवनमें अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होनेसे अनशनाचार युक्त न हुएके भी दिनका आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही भली भाँति देखा जा सकता है । दिनके अतिरिक्त समयमें आहार भली भाँति नहीं देखा जा सकता, इसलिये उसके हिंसायतनत्व अनिवार्य होनेसे वह आहार योग्य नहीं है और एसे आहारके सेवनमें अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होनेसे अदिवसाहार युक्त न हुएके भी रसकी अपेक्षा रहित आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही अन्तरंग शुद्धिसे सुन्दर है । रसकी अपेक्षा युक्त आहार अन्तरंग अशुद्धिके द्वारा आत्यन्तिक हिंसायतन किया जाता हुआ योग्य नहीं है । और उसका सेवन करने वाला अन्तरंग अशुद्धिपूर्वक सेवकपनेसे रसापेक्ष, आहार युक्त न हुएके भी मधुमांस रहित आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि उसके ही हिंसायतनत्वका अभाव है । मधु मांस सहित आहार हिंसायतन होनेसे योग्य नहीं है । और ऐसे आहारके सेवनसे अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होनेसे समधुमांस आहार युक्त न हुएके भी चूँकि यहाँ मधु मांस हिंसायतनका उपलक्षण है इसलिये समस्त हिंसायतनशून्य आहार ही युक्ताहार है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें युक्ताहारीके युक्ताहारसे सिद्धि की गई थी । अब

त्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमप्याचरणमाचरणीय मित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवादः । अतः सर्वथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थित्यमाचरणस्य विधेयम् ॥२३०॥

इति मधु (मन्+उ नस्य ध) बलति इति बाल बल प्राणने भ्वादि चुरादि । समास– मूलस्य छे० मूल च्छेद ॥२३०॥

सर्वथा उत्सर्ग और अपवादकी मैत्री द्वारा आचरणका सुस्थितपना करना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें योग्य आहारका स्वरूप बताया गया था । अब इस गाथामें उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीमें ठीक बैठने वाला आचरण बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) संयमी जनके अपने योग्य अति कठोर आचरणको, निवृत्तिप्रमुख आचरणको उत्सर्गमार्ग कहते हैं । (२) संयमी जनके अपने योग्य चरणानुयोगसम्मत मृदु आचरणको अपवादमार्ग कहते हैं । (३) उत्सर्गमार्गमें उस ही प्रकारसे कठोर आचरण आचरणीय है जिसमें शुद्धात्मतत्त्वके साधनरूप संयमका घात न हो सके । (४) अपवादमार्गमें इतने मात्र प्रयोजनसे आहार विहार निहारादिरूप मृदु आचरण आचरणीय है जिसमें संयमके बहिरङ्ग साधनभूत शरीरका घात न हो जाय । (५) कोई सन्यासमरणका पात्र श्रमण अपवादमार्गको त्यागकर केवल उत्सर्गमार्गका ही हठ करे तो वह आत्मप्रगतिमार्गसे भ्रष्ट हो जायेगा । (६) कोई इन्द्रियसुखावशी श्रमण उत्सर्ग मार्गको त्यागकर केवल अपवादमार्गके आचरणमें संतुष्ट रहता है तो वह आत्मप्रगतिमार्गसे भ्रष्ट हो जायगा । (७) आत्मप्रगतिमार्गमें निर्विघ्न बढ़नेके लिये उत्सर्गसापेक्ष अपवादमार्गका आचरण करना चाहिये और अपवादसापेक्ष उत्सर्गमार्गका आचरण करना चाहिये । (८) अपवादमार्गका अर्थ चरणानुयोगके अनुसार आहारादिसे अपना निर्वाह करना है, यहाँ अपवादमार्गका अर्थ आचरण भ्रष्ट करना नहीं है । (९) उत्सर्गमार्गका अर्थ बाह्यप्रवृत्ति त्याग कर मात्र शुद्धात्मतत्त्वकी दृष्टिकी उपासनामें ही उपयोग रखना है । (१०) उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गकी मैत्री द्वारा ही आचरणका भला रहना ठीक बैठता है ।

सिद्धान्त—(१) उत्सर्गमार्गमें परमोपेक्षासहित ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी उपासनारूप निश्चयसंयम होता है । (२) अपवादमार्गमें चरणानुयोगानुसार व्रतादिरूप व्यवहारचारित्र होता है ।

दृष्टि—१– ज्ञाननय (१९४) । २– क्रियानय (१९३) ।

प्रयोग—चरणानुयोगविधिसे अपनी जीवनचर्या निभाकर अन्तःमें उत्सर्ग मार्गके स्वभाव को अङ्गीकार करते हुए स्वरूपमग्न होनेका पौरुष करना ॥२३०॥

अब उत्सर्ग और अपवादके विरोधसे आचरणकी दुःस्थितपना बतलाते हैं—[देस]

त्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमप्याचरणमाचरणीय मित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवाद । अत सवथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थित्यमाचरणस्य विधेयम् ॥२३०॥

इति मधु (मन्+उ नस्य ध) बलति इति बाल बल प्राणने भ्वादि सुरादि । समास- मूलस्य छेद मूल च्छेद ॥२३०॥

सर्वथा उत्सर्ग और अपवादकी मैत्री द्वारा आचरणका सुस्थितपना करना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें योग्य आहारका स्वरूप बताया गया था । अब इस गाथामें उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीमें ठीक बैठने वाला आचरण बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) संयमी जनके अपने योग्य अति कठोर आचरणको, निवृत्तिप्रमुख आचरणको उत्सर्गमार्ग कहते हैं । (२) संयमी जनके अपने योग्य चरणानुयोगसम्मत मृदु आचरणको अपवादमार्ग कहते हैं । (३) उत्सर्गमार्गमें उस ही प्रकारका कठोर आचरण आचरणीय है जिसमें शुद्धात्मतत्त्वके साधनरूप संयमका घात न हो सके । (४) अपवादमार्गमें इतने मात्र प्रयोजनसे आहार विहार निहारादिरूप मृदु आचरण आचरणीय है जिससे संयमके बहिरङ्ग साधनभूत शरीरका घात न हो जाय । (५) कोई संन्यासमरणका अपात्र श्रमण अपवादमार्गको त्यागकर केवल उत्सर्गमार्गका ही हठ करे तो वह आत्मप्रगतिमार्गसे भ्रष्ट हो जावेगा । (६) कोई इन्द्रियसुखावशी श्रमण उत्सर्ग मार्गको त्यागकर केवल अपवादमार्गके आचरणमें संतुष्ट रहता है तो वह आत्मप्रगतिमार्गसे भ्रष्ट हो जावेगा । (७) आत्मप्रगतिमार्गमें निर्विघ्न बढ़नेके लिये उत्सर्गसापेक्ष अपवादमार्गका आचरण करना चाहिये और अपवादसापेक्ष उत्सर्गमार्गका आचरण करना चाहिये । (८) अपवादमार्गका अर्थ चरणानुयोगके अनुसार आहारादिसे अपना निर्वाह करना है, यहाँ अपवादमार्गका अर्थ आचरण भ्रष्ट करना नहीं है । (९) उत्सर्गमार्गका अर्थ बाह्यप्रवृत्ति त्याग कर मात्र शुद्धात्मतत्त्वकी दृष्टिकी उपासनामें ही उपयोग रखना है । (१०) उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीके द्वारा ही आचरणका भला रहना ठीक बैठता है ।

सिद्धान्त—(१) उत्सर्गमार्गमें परमोपेक्षासंयमसहित ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी आराधनाकर निश्चयसंयम होता है । (२) अपवादमार्गमें चरणानुयोगानुसार प्रवृत्तिरूप व्यवहारचारित्र होता है ।

दृष्टि—१- ज्ञाननय (१९४) । २- क्रियानय (१९०) ।

प्रयोग—चरणानुयोगविधिसे अपनी जीवनचर्या निभाकर उत्तम उत्तम सहज स्वभावको लक्ष्याकार करते हुए स्वरूपमग्न होनेका पौरुष होना चाहिये ॥२३०॥

अब उत्सर्ग और अपवादके विरोधसे आचरणकी दुःस्थितता बताते हैं—[यदि]

त्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमप्याचरणमाचरणीय-
मित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवादः। अतः सर्वथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थित्यमाचरणस्य विधेयम् ॥२३०॥

इति मधु (मन्+उ नस्य ध) बलति इति बाल बल प्राणने भ्वादि चुरादि। समास- मूलस्य छेदः मूलच्छेदः ॥२३०॥

सर्वथा उत्सर्ग और अपवादकी मैत्री द्वारा आचरणकी सुस्थितता करना चाहिये।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें योग्य आहारका स्वरूप बताया गया था। अब इस गाथामें उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीमें ठीक बैठने वाला आचरण बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) संयमी जनके अपने योग्य अति कठोर आचरणको, निवृत्तिप्रमुख आचरणको उत्सर्गमार्ग कहते हैं। (२) संयमी जनके अपने योग्य चरणानुयोगसम्मत मृदु आचरणको अपवादमार्ग कहते हैं। (३) उत्सर्गमार्गमें उस ही प्रकारका कर्कश आचरण आचरणीय है जिससे शुद्धात्मतत्त्वके साधनरूप संयमका घात न हो सके। (४) अपवादमार्गमें इतने मात्र प्रयोजनसे आहार विहार निहारादिरूप मृदु आचरण आचरणीय है जिससे संयमके बहिरङ्ग साधनभूत शरीरका घात न हो जाय। (५) कोई सन्यासमरणका अपात्र श्रमण अपवादमार्गको त्यागकर केवल उत्सर्गमार्गका ही हठ करे तो वह आत्मप्रगतिमार्गसे भ्रष्ट हो जावेगा। (६) कोई इन्द्रियसुखाकांक्षी श्रमण उत्सर्ग मार्गको त्यागकर केवल अपवादमार्गके आचरणमें मस्त रहता है तो वह आत्मप्रगतिमार्गसे भ्रष्ट हो जावेगा। (७) आत्मप्रगतिमार्गमें निर्विघ्न बढ़नेके लिये उत्सर्गसापेक्ष अपवादमार्गका आचरण करना चाहिये और अपवादसापेक्ष उत्सर्गमार्गका आचरण करना चाहिये। (८) अपवादमार्गका अर्थ चरणानुयोगके अनुसार आहारादिसे अपना निर्वाह करना है, यहाँ अपवादमार्गका अर्थ आचरण भ्रष्ट करना नहीं है। (९) उत्सर्गमार्गका अर्थ बाह्यप्रवृत्ति त्याग कर मात्र शुद्धात्मतत्त्वकी दृष्टिसे उपासनामें ही उपयोग रखना है। (१०) उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीके द्वारा ही आचरणका भला रहना ठीक बैठता है।

सिद्धान्त—(१) उत्सर्गमार्गमें परमोपेक्षासहित ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी आराधनारूप निश्चयसंयम होता है। (२) अपवादमार्गमें चरणानुयोगानुसार प्रवृत्तिरूप व्यवहारचारित्र होता है।

दृष्टि—१- ज्ञाननय (१६४)। २- क्रियानय (१६५)।

प्रयोग—चरणानुयोगविहित अपनी जीवनचर्या निरखकर [illegible] को अङ्गीकार करते हुए स्वरूपमग्न होनेका पौरुष होना ॥२३०॥

अब उत्सर्ग और अपवादके विरोधसे आचरणकी दुःस्थितता होती है—[इति]

त्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमप्याचरणमाचरणीय मित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवादः । अतः सर्वथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थित्यमाचरणस्य विधेयम् ॥२३०॥

इति मधु (मन्+उ नस्य ध) बलति इति बाल बल प्राणने भ्वादि चुरादि । समास– मूलस्य छेद मूलच्छेद ॥२३०॥

सर्वथा उत्सर्ग और अपवादकी मैत्री द्वारा आचरणका सुस्थितपना करना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें योग्य आहारका स्वरूप बताया गया था । अब इस गाथामें उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीसे ठीक बैठने वाला आचरण बताया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) संयमी जनके अपने योग्य अति कठोर आचरणको, निवृत्तिप्रमुख आचरणको उत्सर्गमार्ग कहते हैं । (२) संयमी जनके अपने योग्य चरणानुयोगसम्मत मृदु आचरणको अपवादमार्ग कहते हैं । (३) उत्सर्गमार्गमें उस ही प्रकारसे कठोर आचरण आचरणीय है जिसमें शुद्धात्मतत्त्वके साधनरूप संयमका घात न हो सके । (४) अपवादमार्गमें इतने मात्र प्रयोजनसे आहार विहार निहारादिरूप मृदु आचरण आचरणीय है जिसमें संयमके बहिरङ्ग साधनभूत शरीरका घात न हो जाय । (५) कोई संन्यासमरणका अपात्र श्रमण अपवादमार्गको त्यागकर केवल उत्सर्गमार्गका ही हठ करे तो वह आत्मप्रगतिमार्गसे भ्रष्ट हो जावेगा । (६) कोई इन्द्रियसुखावशी श्रमण उत्सर्ग मार्गको त्यागकर केवल अपवादमार्गके आचरणमें संतुष्ट रहता है तो वह आत्मप्रगतिमार्गसे भ्रष्ट हो जायगा । (७) आत्मप्रगतिमार्गमें निर्विघ्न बढ़नेके लिये उत्सर्गसापेक्ष अपवादमार्गका आचरण करना चाहिये और अपवादसापेक्ष उत्सर्गमार्गका आचरण करना चाहिये । (८) अपवादमार्गका अर्थ चरणानुयोगके अनुसार आहारादिसे अपना निर्वाह करना है, यहाँ अपवादमार्गका अर्थ आचरण भ्रष्ट करना नहीं है । (९) उत्सर्गमार्गका अर्थ बाह्यप्रवृत्ति त्याग कर मात्र शुद्धात्मतत्त्वकी दृष्टिसे उपासनामें ही उपयोग रखना है । (१०) उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीके द्वारा ही आचरणका बना रहना ठीक बैठना है ।

सिद्धान्त—(१) उत्सर्गमार्गमें परमोपेक्षासहित ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्वकी आराधनाका निश्चयसंयम होता है । (२) अपवादमार्गमें चरणानुयोगानुसार प्रवृत्तिका व्यवहारचारित्र होता है ।

दृष्टि—१– ज्ञाननय (१९४) । २– क्रियानय (१९३) ।

प्रयोग—चरणानुयोगविधिसे अपनी जीवनचर्या निभाकर अन्तस्तत्त्व [illegible] सहज स्वभावको अङ्गीकार करते हुए स्वभावमग्न होनेका पौरुष होना ॥२३०॥

अब उत्सर्ग और अपवादके विरोधसे आचरणकी दुःस्थितपना बतलाते हैं—[२३१]

प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव तद्वरमुत्सर्ग देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रा न्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयो प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरण प्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति तद्वर मपवाद । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमान स्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीर पातयित्वा सुरलोक प्राप्योद्वान्तसमस्तसयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति । त न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्ग । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेप व विगणय्य यथेष्ट प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणीभूय सयम विराध्यासयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतयाशक्य प्रतिकारो महान् लेपो भवति तन्न श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवाद । अत सर्वथोत्सर्गापवादविरोध दौस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्य तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भित

दम दश काल सम श्रम खम क्षमा उवधि उपाधि-द्वितीया एकवचन। जाणित्ता ज्ञात्वा-सम्बन्धार्थप्रक्रिया। ते तान्-द्वि० बहु०। समणो श्रमण अप्पलवी अल्पलेपी सो स -प्रथमा एक०। य च जदि यदि-अव्यय।

परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवादसे जिसकी वृत्ति प्रगट होती है ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनु सरण करने योग्य है । इत्येव इत्यादि । अर्थ—इस प्रकार विशेष आदरपूर्वक पुराण पुरुषोंके द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक् पृथक् भूमिकाओंको प्राप्त करके यति क्रमश अतुल निवृत्ति करके, चरणय सामान्य और चरणय विशेषरूप जिसका प्रकाश है ऐसे निज द्रव्यमें सर्वत स्थिति करें ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्ग की मैत्रीपूर्वक आचरण ठीक बैठता है । अब इस गाथामें बताया गया है कि उत्सर्ग व अप वादमार्गमें विरोध रखनेसे आचरणकी दु स्थितता हो जाती है ।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण देश काल श्रम क्षमता उपधि (देहस्थिति) जानकर आहार विहारमें प्रवर्तन करता है । (२) क्षमता व ग्लानताका कारण उपवास है । (३) देह बालकपना वृद्धपना श्रान्तपना व रोगीपनाका आधार है । (४) चूंकि बालक, वृद्ध व ग्लानपनेका आधार उपधियाने देह है सो देहस्थिति जानकर जो बात कहनी है वह बाल वृद्ध, थके (थके हुए) ग्लान श्रमणोंके लिये ही कहनी है । (५) देश कालके जाननहार श्रमणका बालपना वृद्धपना श्रान्तपना व ग्लानपनाके अनुसार आहार विहारमें प्रवर्तमान श्रमणके कोमल आचरणमें प्रवृ त्तपना होनेसे अल्प लेप होता ही है, इस कारण उत्सर्गमार्ग श्रेष्ठ है । (६) देशकालज्ञ श्रमणका बालवृद्धश्रान्तग्लानपनाके अनुरोधसे आहार विहारमें प्रवर्तमान श्रमणके कोमल आचरणमें प्रवर्तना होनेसे अल्प ही लेप होता है इस कारण यह अपवादमार्ग श्रेष्ठ है । (७) देशकालज्ञ

प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव तद्वरमुत्सर्ग देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयो प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरण प्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति तद्वरमपवाद । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीर पातयित्वा सुरलोक प्राप्योद्वान्तसमस्तसयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति । तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्ग । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेप व विगणय्य यथेष्ट प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणीभूय सयम विराध्यासयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति तन्न श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवाद । अत सर्वथोत्सर्गापवादविरोधदौस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्य तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भित

देस देश काल सम श्रम खम क्षमां उवधि उपाधि-द्वितीया एकवचन। जाणित्ता ज्ञात्वा-सम्बधार्थप्रक्रिया। ते तान्-द्वि० बहु०। समणा श्रमण अप्पलवो अल्पलेपा सो स -प्रथमा एक०। व वा जदि यदि-अव्यय।

परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवादसे जिसकी वृत्ति प्रगट होती है एसा स्याद्वाद सर्वथा अनुसरण करने योग्य है। इत्येव इत्यादि। अथ—इस प्रकार विशेष आदरपूर्वक पुराण पुरुषोके द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक् पृथक् भूमिकाओको प्राप्त करके यति क्रमश अतुल निवृत्ति करके, चैत य सामान्य और चैत य विशेषरूप जिसका प्रकाश है एसे निज द्रव्यमे सर्वत स्थिति करे।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्ग की मैत्रीपूर्वक आचरण ठीक बैठता है। अब इस गाथामे बताया गया है कि उत्सर्ग व अपवादमार्गमे विरोध रखनेसे आचरणकी दु स्थितता हो जाती है।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण देश काल श्रम क्षमता उपधि (देहस्थिति) जानकर आहार विहारमे प्रवर्तन करता है। (२) क्षमता व ग्लानताका कारण उपवास है। (३) देह बालता, वृद्धपना श्रान्तपना व रोगीपनाका आधार है। (४) चूकि बालत्व, वृद्धत्व व ग्लानत्वका आधार उपधियाने देह है सो देहस्थिति जानकर जो बात कहनी है वह बाल वृद्ध, श्रान्त (थके हुए) ग्लान श्रमणोके लिए ही कहनी है। (५) देश कालके जाननहार तथा बालता वृद्धता श्रान्तपना व ग्लानपनाके अनुसार आहार विहारमे प्रवर्तमान श्रमणके कोमल आचरण प्रवृत्तपना होनेसे अल्प लेप होता ही है, इस कारण उत्सर्ग व श्रेष्ठ है। (६) देशकालज्ञ तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानपनाके अनुरोधसे आहार विहारमे प्रवर्तमान श्रमणके कोमल आचरण प्रवर्तना होनेसे अल्प ही लेप होता है इस कारण वह अपवाद भला है। (७) यदि देश

प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव तद्वरमुत्सर्गः देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरण प्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति तद्वरमपवादः । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्तसमस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति । तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेप एव विगणय्य यथेष्टं प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणीभूय संयमं विराध्यासंयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति तन्न श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवादः । अतः सर्वथोत्सर्गापवादविरोधदौस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्यं तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भित

देस देश काल काल समं श्रम खमं क्षमां उवधि उपाधि-द्वितीया एकवचन। जाणित्ता ज्ञात्वा-असमाप्तिकी क्रिया। ते तान्-द्वि० बहु०। समणो श्रमण अप्पलवो अल्पलेपः सो स-प्रथमा एक०। व वा जदि यदि-अव्यय।

परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवादसे जिसकी वृत्ति प्रगट होती है ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनुसरण करने योग्य है। इत्येव इत्यादि। अथ—इस प्रकार विशेष आदरपूर्वक पुराण पुरुषोंके द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक् पृथक् भूमिकाओंको प्राप्त करके यति क्रमशः अतुल निवृत्ति करके, चैतन्य सामान्य और चैतन्य विशेषरूप जिसका प्रकाश है, ऐसे निज द्रव्यमें सर्वतः स्थिति करे।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीपूर्वक आचरण ठीक बैठता है। अब इस गाथामें बताया गया है कि उत्सर्ग व अपवादमार्गमें विरोध रखनेसे आचरणकी दुःस्थितता हो जाती है।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण देश काल श्रम क्षमता उपधि (देहस्थिति) जानकर आहार विहारमें प्रवर्तन करता है। (२) क्षमता व ग्लानताका कारण उपवास है। (३) देह बालपना, वृद्धपना श्रान्तपना व रोगीपनाका आधार है। (४) चूंकि बालत्व, वृद्धत्व व ग्लानत्वका आधार उपधियाने देह है सो देहस्थिति जानकर जो बात कहनी है वह बाल वृद्ध, श्रान्त (थके हुए) ग्लान श्रमणोंके लिये ही कहनी है। (५) देश कालके जाननहार तथा बालपना वृद्धपना श्रान्तपना व ग्लानपनाके अनुसार आहार विहारमें प्रवर्तमान श्रमणके कोमल आचरणमें प्रवर्तना होनेसे अल्प लेप होता ही है, इस कारण उत्सर्ग श्रेष्ठ है। (६) देशकालज्ञ तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानपनाके अनुरोधसे आहार विहारमें प्रवर्तमान श्रमणके कोमल आचरणमें प्रवर्तना होनेसे अल्प ही लेप होता है इस कारण वह अपवाद श्रेष्ठ है। (७) यदि कोई

प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव तद्वरमुत्सर्गः देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रा न्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणे प्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति तद्वर मपवादः । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमान स्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्तसमस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति । तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेप एव विगणय्य यथेष्टं प्रवर्त मानस्य मृद्वाचरणीभूय संयमं विराध्यासंयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतयाशक्य प्रतिकारो महान् लेपो भवति तन्न श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवादः । अतः सर्वथोत्सर्गापवादविरोध दौस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्यं तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भित

देस देश काल सम श्रम खम क्षमां उवधि उपाधि-द्वितीया एकवचन। जाणित्ता ज्ञात्वा-सम्बन्धार्थप्रक्रिया। ते तान्-द्वि० बहु०। समणो श्रमण अप्पलवी अल्पलेपी सो स-प्रथमा एक०। व वा जदि यदि-अव्यय।

परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवादसे जिसकी वृत्ति प्रगट होती है ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनु सरण करने योग्य है । इत्येव इत्यादि । अथ—इस प्रकार विशेष आदरपूर्वक पुराण पुरुषोंके द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक् पृथक् भूमिकाओंको प्राप्त करके यति क्रमशः अतुल निवृत्ति करके, चैतन्य सामान्य और चैतन्य विशेषरूप जिसका प्रकाश है ऐसा निज द्रव्यमें सर्वतः स्थिति करे ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्ग की मैत्रीपूर्वक आचरण ठीक बैठता है । अब इस गाथामें बताया गया है कि उत्सर्ग व अप वादमार्गमें विरोध रखनेसे आचरणकी दुःस्थितता हो जाती है ।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण देश काल श्रम क्षमता उपधि (देहस्थिति) जानकर आहार विहारमें प्रवर्तन करता है । (२) क्षमता व ग्लानताका कारण उपवास है । (३) देह बालपना, वृद्धपना श्रान्तपना व रोगीपनाका आधार है । (४) चूंकि बालत्व, वृद्धत्व व ग्लानत्वका आधार उपधियाने देह है सो देहस्थिति जानकर जो बात कहनी है वह बाल वृद्ध, थके (थके हुए) ग्लान श्रमणोंके लिये ही कहनी है । (५) देश कालके जाननहार तथा बालपना वृद्धपना श्रान्तपना व ग्लानपनाके अनुसार आहार विहारमें प्रवर्तमान श्रमणके कोमल आचरणमें प्रवृ त्तपना होनेसे अल्प लेप होता ही है, इस कारण उत्सर्ग न श्रेष्ठ है । (६) देशकालज्ञ तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानपनाके अनुरोधसे आहार विहारमें प्रवर्तमान श्रमणके कोमल आचरणमें प्रवर्तना होनेसे अल्प ही लेप होता है इस कारण वह अपवाद श्रेष्ठ बना है । (७) यदि कोई

प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव तद्वरमुत्सर्ग देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रा न्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयो प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणे प्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति तद्वर मपवाद । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमान स्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीर पातयित्वा सुरलोक प्राप्योद्वान्तसमस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति । त न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्ग । देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेप व विगणय्य यथेष्ट प्रवर्त मानस्य मृद्वाचरणीभूय सयम विराध्यासयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतयाशक्य प्रतिकारो महान् लेपो भवति तन्न श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवाद । अत सर्वथोत्सर्गापवादविरोध दौस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्य तदयमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भित

देश देश काल काल सम श्रम खम क्षमा उवधि उपाधि-द्वितीया एकवचन। जाणित्ता ज्ञात्वा-सम्बन्धार्थप्रक्रिया। ते तान्-द्वि० बहु०। समणो श्रमण अप्पलवो अल्पलेपी सो स-प्रथमा एक०। व वा जदि यदि-अव्यय।

परस्पर सापेक्ष उत्सर्ग और अपवादसे जिसकी वृत्ति प्रगट होती है ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनु सरण करने योग्य है। इत्येव इत्यादि। अब—इस प्रकार विशेष आदरपूर्वक पुराण पुरुषोंके द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक पृथक भूमिकाओंको प्राप्त करके यति क्रमश अतुल निवृत्ति करके, चैतन्य सामान्य और चैतन्य विशेषरूप जिसका प्रकाश है ऐसा निज द्रव्यमे सर्वत स्थिति करे।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि उत्सर्गमार्ग व अपवादमार्गकी मैत्रीपूर्वक आचरण ठीक बैठता है। अब इस गाथामें बताया गया है कि उत्सर्ग व अप वादमार्गमे विरोध रखनेसे आचरणकी दु स्थितता हो जाती है।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण देश काल श्रम क्षमता उपधि (देहस्थिति) जानकर आहार विहारमे प्रवर्तन करता है। (२) क्षमता व ग्लानतामें कारण उपवास है। (३) देह बालपना, वृद्धपना श्रान्तपना व रोगीपनाका आधार है। (४) चूकि बालत्व, वृद्धत्व व ग्लानत्वका आधार उपधियाने देह है सो देहस्थिति जानकर जो बात कहनी है वह बाल वृद्ध, श्रान्त (थके हुए) ग्लान श्रमणोंके लिए ही कहनी है। (५) देश कालका जाननहार श्रमण बालपना वृद्धपना श्रान्तपना व ग्लानपनाके अनुसार आहार विहारमे प्रवर्तमान अतएव कोमल आचरणमे प्रव र्तमान होनेसे अल्प लेप होता ही है, इस कारण उत्सर्ग अच्छा है। (६) देश काल ज्ञाता बालवृद्धश्रान्तग्लानपनाके अनुरोधसे आहार विहारमें प्रवर्तमान अतएव कोमल आचरणमे प्रवर्तना होनेसे अल्प ही लेप होता है इस कारण यह अपवाद अच्छा है। (७) यदि कोई

अथ श्रामण्यापरनाम्नो मोक्षमार्गस्यैकाग्र्यलक्षणस्य प्रज्ञापनं तत्र तन्मूलसाधनभूते प्रथममागम एव व्यापारयति—

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥२३२॥

एकाग्रयगत श्रमण है, एकाग्रय हि निश्चितार्थक होता।
निश्चय आगमसे हो, सो आगम ज्ञान है उत्तम ॥२३२॥

एकाग्र्यगतः श्रमणः एकाग्र्यं निश्चितस्य अर्थेषु। निश्चितिरागमत आगमचेष्टा ततो ज्येष्ठा ॥ २३२ ॥

श्रमणो हि तावदैकाग्र्यगत एव भवति। ऐकाग्र्यं तु निश्चितार्थस्यैव भवति। अर्थनिश्चयस्त्वागमादेव भवति। तत आगम एव व्यापारः प्रधानतरः, न चान्या गतिरस्ति। यतो न खल्वागममन्तरेणार्था निश्चेतुं शक्यन्ते तस्यैव हि त्रिसमयप्रवृत्तत्रिलक्षणसकलपदार्थसार्थयाथात्म्यावगमसुस्थितान्तरङ्गगम्भीरत्वात्। न चार्थनिश्चयमन्तरेणैकाग्र्यं सिद्ध्येत् यतो निश्चितार्थस्य कदाचिन्निश्चिकीर्षाकुलितचेतसः समन्ततो दोलायमानस्यात्यन्ततरलतया कदाचिच्चिकीर्षाज्वरपरवशस्य विश्वं स्वयं सिसृक्षोर्विश्वव्यापारपरिणतस्य प्रतिक्षणविजृम्भमाणक्षोभतया कदाचिद्बुभुक्षाभावितस्य विश्वं स्वयं भोग्यतयोपादाय रागद्वेषदोषकल्माषितचित्तवृत्तेरिष्टानिष्टविभागेन प्रवर्तितद्वैतस्य प्रतिवस्तुपरिणममानस्यात्यन्तविसंस्थुलतया कृतनिश्चयस्य निःक्रियनिर्भोगं युगपदापीतविश्वमप्यविश्वतयैकं भगवन्तमात्मानमपश्यतः सततं वैयग्र्यमेव स्यात्।

नामसंज्ञ—एयग्गगद समण एयग्ग णिच्छिद अत्थ णिच्छित्ति आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा। धातुसंज्ञ—चेट्ठ चेष्टायां। प्रातिपदिक—एकाग्र्यगत श्रमण एकाग्र्य निश्चित अर्थ निश्चिति आगमतः तत आगमचेष्टा ज्येष्ठा। मूलधातु—चेष्ट चेष्टायां। उभयपदविवरण—एयग्गगदो एकाग्र्यगतः समणो श्रमणः निश्चिति णिच्छित्ती आगमचेट्ठा आगमचेष्टा जेट्ठा ज्येष्ठा-प्रथमा एकवचन। एयग्गं एकाग्र्यं-[illegible]

[एकाग्र्यगत] एकाग्रताको प्राप्त होता है, [ऐकाग्र्य] एकाग्रता [अर्थेषु निश्चितस्य] पदार्थोंके निश्चय करने वालेके होती है, [निश्चिति] पदार्थोंका निश्चय [आगमतः] आगम द्वारा होता है, [ततः] इसलिये [आगमचेष्टा] आगममें व्यापार [ज्येष्ठा] मुख्य है।

तात्पर्य—आगमका अध्ययन करना मुख्य कर्तव्य है, क्योंकि इससे ही तत्त्वनिश्चय होकर एकाग्रता होती है।

टीकार्थ—श्रमण वास्तवमें एकाग्रताको प्राप्त करने वाला ही होता है, एकाग्रता पदार्थोंके निश्चयवान्के ही होती है, और पदार्थोंका निश्चय आगम द्वारा ही होता है, इसलिये आगममें ही व्यापार विशेष प्रधान है, दूसरी गति (अन्य मार्ग) नहीं है। इसका कारण यह है

तने शब्दब्रह्मणि निष्णातेन मुमुक्षुणा भवितव्यम् ॥२३२॥

ज्येष्ठा (वृद्ध + इष्ठन् + टाप् + वृद्धस्य ज्यादेश)। समास—आगम चेष्टा आगमचेष्टा ॥२३ ॥

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें उत्सर्ग व अपवादमार्गके विरोधसे आचरणकी दु:स्थितता बताई गई थी। अब इस गाथामें कर आचरण प्रज्ञापन समाप्त किया गया था। अब एकाग्रता लक्षण वाले मोक्षमार्गके प्रज्ञापनके स्थलमें मोक्षमार्ग अर्थात् श्रामण्यके मूल साधनभूत आगममें व्यापार कराया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण वास्तवमें एकाग्रताको प्राप्त करने वाला ही होता है। (२) एकाग्रता उसके ही संभव है जिसने पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका निश्चय किया है। (३) पदार्थोंका यथार्थ निश्चय आगमसे ही होता है। (४) श्रामण्यसिद्धिके लिये मूल उपाय आगम का अभ्यास है। (५) आगमसे ही उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक पदार्थसमूहका यथार्थ निश्चय होता है। (६) अर्थनिश्चयके बिना एकाग्रताकी सिद्धि नहीं। (७) जिसके अर्थनिश्चय नहीं वह कभी तो कुछ करनेकी दिशा न मिलनेसे आकुलित होकर यत्र तत्र डावांडोल होकर सदैव अस्थिर रहता है। (८) और अर्थनिश्चयरहित जीव कभी करनेकी इच्छा ज्वरसे परवश होकर सब कुछ रच डालनेका इच्छुक होकर सारे व्यापारमें लगकर प्रतिक्षण क्षोभको बढ़ाता रहता है। (९) अर्थनिश्चयरहित जीव कभी भोगनेकी इच्छासे सारे विश्वको भोग्य मानकर उसके प्रसंगमें हुए राग द्वेषसे कलुषित हुआ यह नवायरूप परिणम परिणमता कर अस्थिरचित्त रहता है। (१०) अर्थनिश्चयरहित यह जीव अपने भगवान आत्माके निष्क्रिय निर्भोग स्वभावको न देखकर निरन्तर व्यग्र रहता है। (११) यह निष्क्रिय निर्भोग भगवान आत्मा समस्त विश्वको पी लिया (जान लिया) जानेपर भी विश्वरूप न होकर एक है यह सहजात्म स्वरूप अज्ञानीको नहीं ज्ञात है अतः वह सतत व्यग्र रहता है। (१) एकाग्रताके बिना श्रा मण्यकी सिद्धि नहीं। (१) जिसके एकाग्रता नहीं वह जीव परको 'यह परको ही है' ऐसा निरखता हुआ ऐसी ही आस्थासे घिरा रहता है। (१४) जिसके एकाग्रता नहीं वह जीव अपनको "यह पर है" ऐसा जानता हुआ अनेकरूपता अनुभूतिरूप परको हुआ है। (१५) जिसके एकाग्रता नहीं वह जीव परको 'यह पर ही है' इस प्रकार छिन्न भिन्न चित्तविकल्पसे युक्त होकर वैसी ही वृत्तिसे परिणमता रहता है। (१६) जिसके एकाग्रता नहीं उस जीवके एक आत्माकी प्रतीति अनुभूति वृत्तिरूप एकाग्रताका अभाव है अतः शुद्ध आत्म मग्नतारूप श्रामण्य ही सिद्ध नहीं हो सकता। (१७) श्रामण्य अर्थात् मोक्षमार्गकी सिद्धिके लिये मुमुक्षुको भगवदर्हन्त अनेकान्तमय शब्दब्रह्म सर्वज्ञ आगममें निष्णात होना ही चाहिये।

तने शब्दब्रह्मणि निष्णातेन मुमुक्षुणा भवितव्यम् ॥२३२॥

ज्यष्ठा (वृद्ध + ष्ठन् + टाप + वृद्धस्य ज्यादेश) । समास—आगम चक्षु आगमचक्षु ॥२३ ॥

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे उत्सर्ग व अपवादमार्गके विरोधसे आचरणकी दु:स्थितता बताई गई थी । अब इस गाथामे चर आचरण प्रज्ञापन समाप्त किया गया था । अब एकाग्रता लक्षण वाले मोक्षमार्गके प्रज्ञापनके स्थलमे मोक्षमार्ग अर्थात् श्रामण्यके मूल साधनभूत आगममे व्यापार कराया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण वास्तवमे एकाग्रताको प्राप्त करने वाला ही होता है । (२) एकाग्रता उसके ही सभव है जिसमे पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका निश्चय किया है । (३) पदार्थोंका यथार्थ निश्चय आगममे ही होता है । (४) श्रामण्यसिद्धिके लिये मूल उपाय आगम का अभ्यास है । (५) आगमसे ही उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक पदार्थसमूहका यथार्थ निश्चय होता है । (६) अर्थनिश्चयके बिना एकाग्रताकी सिद्धि नहीं । (७) जिसके अर्थनिश्चय नही वह कभी तो कुछ करनेकी दिशा न मिलनेसे आकुलित होकर यत्र तत्र डावाडोल होकर अत्यन्त अस्थिर रहता है । (८) और अर्थनिश्चयरहित जीव कभी करनेकी इच्छा उत्पन्न परवश होकर सब कुछ कर डालनेका इच्छुक होकर सारे व्यापारमे लगकर प्रतिक्षण क्षोभको बढ़ाता रहता है । (९) अर्थनिश्चयरहित जीव कभी भोगनेकी इच्छासे सारे विश्वको भोग्य मानकर उसके प्रसगमे हुए राग द्वेषसे कलुषित हुआ यह ज्ञेयाकार परिणम परिणमन कर अस्थिरचित्त रहता है । (१०) अर्थनिश्चयरहित यह जीव अपने भगवान आत्माके निष्क्रिय निर्भोग स्व भावको न देखकर निरन्तर व्यग्र रहता है । (११) वह निष्क्रिय निर्भोग भगवान आत्मा समस्त विश्वको पी लिया (जान लिया) जानकर भी विश्वरूप न होकर एक है यह सहजात्म स्वरूप अज्ञानीको नही ज्ञात है अत वह सतत व्यग्र रहता है । (१) एकाग्रताके बिना श्रा मण्यकी सिद्धि नही । (१३) जिसके एकाग्रता नही वह जीव "आत्मा यह पर ही है" एसा निरखता हुआ ऐसी ही मान्यतासे घिरा रहता है । (१४) जिसके एकाग्रता नही वह जीव अपनको "यह पर है" ऐसा जानता हुआ अनेकरूपको अनुभूति करता हुआ है । (१५) जिसके एकाग्रता नही वह जीव आत्माको 'यह अनेक ही है'' इस प्रकार भिन्न भिन्न चित्तविकल्पमे युक्त होकर कभी ही वृत्तिसे परिणमता रहता है । (१६) जिसके एकाग्रता नहीं उस जीवके एक आत्माकी प्रतीति अनुभूति वृत्तिरूप एकाग्रताका अभाव है अत शुद्धात्मतत्त्व मग्नतारूप श्रामण्य ही सिद्ध नही हो सकता । (१७) श्रामण्य अर्थात् मोक्षमार्गकी सिद्धिके लिये मुमुक्षुको भगवत्प्रणीत अनेकान्तमय शब्दब्रह्म अर्थात् आगममे अभ्यस्त होना ही चाहिए ।

तने शब्दब्रह्मणि निष्णातेन मुमुक्षुणा भवितव्यम् ॥२३२॥

व्यष्ठा (वृद्ध + ष्ठन् + टाप + वृद्धस्य ज्यादेश) । समास—आगम चेष्टा आगमचेष्टा ॥२३२॥

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे उत्सर्ग व अपवादमार्गके विरोधसे आचरणकी दु स्थितता बताई गई थी । अब इस गाथामे चरण आचरण प्रज्ञापन समाप्त किया गया था । अब एकाग्रता लक्षण वाले मोक्षमार्गके प्रज्ञापनके स्थलमे मोक्षमार्ग अर्थात् श्रामण्यके मूल साधनभूत आगममे व्यापार कराया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण वास्तवमे एकाग्रताको प्राप्त करने वाला ही होता है । (२) एकाग्रता उसके ही सभव है जिसने पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका निश्चय किया है । (३) पदार्थोंका यथार्थ निश्चय आगमसे ही होता है । (४) श्रामण्यसिद्धिके लिये मूल उपाय आगम का अभ्यास है । (५) आगमसे ही उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक पदार्थसमूहका यथार्थ निश्चय होता है । (६) अर्थनिश्चयके बिना एकाग्रताकी सिद्धि नही । (७) जिसके अर्थनिश्चय नहीं वह कभी तो कुछ करनेकी दिशा न मिलनेसे आकुलित होकर यत्र तत्र डावाडोल होकर अस्थिर रहता है । (८) और अर्थनिश्चयरहित जीव कभी करनेकी इच्छा ज्वरसे परवश होकर सब कुछ रच डालनेका इच्छुक होकर सारे व्यापारमे लगकर प्रतिक्षण क्षोभको बढाता रहता है । (९) अर्थनिश्चयरहित जीव कभी भोगनेकी इच्छासे सारे विश्वको भोग्य मानकर उसके ग्रहणमे हुए राग द्वेषसे कलुषित हुआ यह अन्यायरूप परिणम परिणमन कर अस्थिरचित्त रहता है । (१०) अर्थनिश्चयरहित यह जीव अपने भगवान आत्माके निष्क्रिय निर्भोग स्वभावको न देखकर निरन्तर व्यग्र रहता है । (११) यह निष्क्रिय निर्भोग भगवान आत्मा समस्त विश्वको पी लिया (जान लिया) जानकर भी विश्वरूप न होकर एक है यह शुद्धात्म स्वरूप अज्ञानीको नही ज्ञात है अत वह सतत व्यग्र रहता है । (१२) एकाग्रताके बिना श्रामण्यकी सिद्धि नहा । (१३) जिसके एकाग्रता नही वह जीव अपनेको "यह अनेक ही है" ऐसा निरखता हुआ ऐसी ही आस्थासे घिरा रहता है । (१४) जिसके एकाग्रता नही वह जीव अपनेको "यह अनेक है" ऐसा जानता हुआ अनेकरूपका अनुभूतिसे भावित होता है । (१५) जिसके एकाग्रता नही वह जीव अपनेको "यह अनेक ही है" इस प्रकार भिन्न भिन्न चित्तविकल्पसे युक्त होकर वसी ही वृत्तिसे परिणमता रहता है । (१६) जिसके एकाग्रता नहा उस जीवके एक आत्माकी प्रतीति अनुभूति वृत्तिरूप एकाग्रताका अभाव है अत शुद्ध आत्मतत्त्व स्वरूप श्रामण्य हा सिद्ध नहो हो सकता । (१७) श्रामण्य अर्थात् मोक्षमार्गकी सिद्धिके लिये मुमुक्षुको भगवत्प्रणीत अनेकान्तमय शब्दब्रह्म अर्थात् आगममे कुशल होना ही चाहिये ।

तने शब्दब्रह्मणि निष्णातेन मुमुक्षुणा भवितव्यम् ॥२३२॥

ज्येष्ठा (वृद्ध + ष्ठन् + टाप् + वृद्धस्य ज्यादेश) । समास—आगम चेष्टा आगमचेष्टा ॥२३१॥

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें उत्सर्ग व अपवादमार्गके विरोधसे आचरणकी दुःस्थितता बताई गई थी । अब इस गाथामें करके आचरण प्रज्ञापन समाप्त किया गया था । अब एकाग्रता लक्षण वाले मोक्षमार्गके प्रज्ञापनके स्थलमें मोक्षमार्ग अर्थात् श्रामण्यके मूल साधनभूत आगममें व्यापार कराया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) श्रमण वास्तवमें एकाग्रताको प्राप्त करने वाला ही होता है । (२) एकाग्रता उसके ही संभव है जिसने पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका निश्चय किया है । (३) पदार्थोंका यथार्थ निश्चय आगमसे ही होता है । (४) श्रामण्यसिद्धिके लिये मूल उपाय आगम का अभ्यास है । (५) आगमसे ही उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक पदार्थसमूहका यथार्थ निश्चय होता है । (६) अर्थनिश्चयके बिना एकाग्रताकी सिद्धि नहीं । (७) जिसके अर्थनिश्चय नहीं वह कभी तो कुछ करनेकी दिशा न मिलनेसे आकुलित होकर अत्र तत्र डांवाडोल होकर अत्यन्त अस्थिर रहता है । (८) और अर्थनिश्चयरहित जीव कभी करनेकी इच्छा उत्पन्न परवश होकर सब कुछ रच डालनेका इच्छुक होकर सारे व्यापारमें लगकर प्रतिक्षण क्षोभको बढ़ाता रहता है । (९) अर्थनिश्चयरहित जीव कभी भोगनेकी इच्छासे सारे विश्वको भोग्य मानकर उसके प्रसंगमें हुए राग द्वेषसे कलुषित हुआ यह अर्थान्तर परिणमन करके अस्थिरचित्त रहता है । (१०) अर्थनिश्चयरहित यह जीव अपने भगवान आत्माके निष्क्रिय निर्भोग स्व भावको न देखकर निरन्तर व्यग्र रहता है । (११) यह निष्क्रिय निर्भोग भगवान आत्मा समस्त विश्वको पी लिया (जान लिया) जानेपर भी विश्वरूप न होकर एक है यह सहजात्म स्वरूप अज्ञानीको नहीं ज्ञात है अतः वह सतत व्यग्र रहता है । (१) एकाग्रताके बिना श्रा मण्यकी सिद्धि नहीं । (१३) जिसके एकाग्रता नहीं वह जीव "परको यह पर ही है" ऐसा निरखता हुआ ऐसी ही आस्थासे घिरा रहता है । (१४) जिसके एकाग्रता नहीं वह जीव आत्मको "यह अनेक है" ऐसा जानता हुआ अनेकरूपता कलुषित आत्मको हुआता है । (१५) जिसके एकाग्रता नहीं वह जीव आत्मको "यह अनेक ही है" इस प्रकार भिन्न भिन्न चित्तविकल्पसे युक्त होकर वैसी ही वृत्तिसे परिणमता रहता है । (१६) जिसके एकाग्रता नहीं उस जीवके एक आत्माकी प्रतीति अनुभूति वृत्तिरूप एकाग्रताका अभाव है अतः शुद्ध आत्मतत्त्व मग्नतारूप श्रामण्य ही सिद्ध नहीं हो सकता । (१७) श्रामण्य अर्थात् आत्मसंयम सिद्धिके लिये मुमुक्षुको भगवत्प्रणीत अनेकान्तमय शब्दब्रह्म अर्थात् आगममें पारंगत होना ही चाहिये ।

अथागम एवैकश्चक्षुर्मोक्षमार्गमुपसर्पतामित्यनुशास्ति—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥२३४॥

आगमचक्षू साधु प्राणी तो सब अक्षचक्षू हैं।
देवा अवधिचक्षु हैं, सिद्ध सकलरूपसे चक्षू ॥ २३४ ॥

आगमचक्षुः साधुरिन्द्रियचक्षूंषि सर्वभूतानि । देवाश्चावधिचक्षुषः सिद्धाः पुनः सर्वतश्चक्षुषः ॥ २३४ ॥

इह तावद्भगवन्तः सिद्धा एव शुद्धज्ञानमयत्वात्सर्वतश्चक्षुषः शेषाणि तु सर्वाण्यपि भूतानि मूर्तद्रव्यावसक्तदृष्टित्वादिन्द्रियचक्षूंषि देवास्तु सूक्ष्मत्वविशिष्टमूर्तद्रव्यग्राहित्वादवधिचक्षुषः । अथ च तेऽपि रूपिद्रव्यमात्रदृष्टत्वेनेन्द्रियचक्षुर्भ्योऽविशिष्यमाणा इन्द्रियचक्षुष एव । एवं

नामसंज्ञ—आगमचक्खु साहु इन्दियचक्खु सव्वभूद देव य ओहिचक्खु सिद्ध पुण सव्वदोचक्खु । धातु संज्ञ—साह साधने । प्रातिपदिक—आगमचक्षुस् साधु इन्द्रियचक्षुस् सर्वभूत देव च अवधिचक्षुस् सिद्ध

सिद्धान्त—१—स्वपरज्ञाता व परमात्मस्वरूपज्ञाताके ही कर्मका क्षय होता है।

दृष्टि—१—शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ ब)

प्रयोग—कर्मक्षयका कारणभूत स्वपरात्मस्वरूपज्ञान व परमात्मस्वरूपज्ञान आगम ज्ञान बिना नहीं हो पाता, अतः आगमज्ञानका पौरुष करना ॥२३३॥

अब मोक्षमार्गपर चलने वालोंके आगम ही एक चक्षु है, ऐसा उपदेश करते हैं—[साधुः] साधु [आगमचक्षुः] आगमचक्षु है [सर्वभूतानि] सर्वप्राणी [इंद्रिय चक्षूंषि] इंद्रिय चक्षु वाले हैं [च देवाः] और देव [अवधिचक्षुषः] अवधि चक्षु वाले हैं [पुनः] किन्तु [सिद्धाः] सिद्ध [सर्वतः चक्षुषः] सर्वतः चक्षु हैं।

तात्पर्य—साधु आगमचक्षुसे सब निरखकर अपनी चर्या करते हैं।

टीकार्थ—प्रथम तो, इस लोकमें भगवन्त सिद्ध ही शुद्धज्ञानमय होनेसे सर्वतः चक्षु हैं, किन्तु शेष सभी जीव इन्द्रियचक्षु हैं क्योंकि उनकी दृष्टि मूर्त द्रव्योंमें ही लगी होती है। देव सूक्ष्मत्वविशिष्ट मूर्त द्रव्योंको ग्रहण करते हैं इस कारण वे अवधिचक्षु हैं अथवा वे भी मात्र रूपी द्रव्योंको देखते हैं इस कारण वे इन्द्रियचक्षुवालोंसे [illegible] इन्द्रियचक्षु ही हैं। इस प्रकार इन सभी संसारी जीवोंके मोहसे [illegible] ज्ञेयनिष्ठ होनेसे, ज्ञाननिष्ठताके मूल शुद्धात्मतत्त्वके संवेदनसे साध्य सर्वतः चक्षुत्व सिद्ध नहीं होता। अब उस सर्वतः चक्षुत्वकी सिद्धिके लिये [illegible] [illegible] [illegible] और ज्ञानका पारस्परिक मिलन हो जानेसे [illegible] [illegible] [illegible]

ज्ञानस्वभावस्यैकस्य परमात्मनो ज्ञानमपि न सिद्धयेत् । परात्मपरमात्मज्ञानशून्यस्य तु द्रव्यकर्मारब्धैः शरीरादिभिस्तत्प्रत्ययैर्मोहरागद्वेषादिभावैश्चसहैक्यमाकलयतो बध्यघातकविभागाभावान्मोहादिद्रव्यभावकर्मणा क्षपणं न सिद्धयेत् । तथा च ज्ञेयनिष्ठतया प्रतिवस्तु पातोत्पातपरिणतत्वेन ज्ञप्तेरासंसारात्परिवर्तमानायाः परमात्मनिष्ठत्वमन्तरेणानिवार्यपरिवर्ततया ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणा क्षपणमपि न सिद्धयेत् । अत. कर्मक्षपणार्थिभि. सर्वथागमः पर्युपास्यः ॥२३३॥

समास– आगमेन हीन आगमहीन ॥२३३॥

हुआ विवेकहीन होकर अपनेमे व आत्मक्षेत्रावगाही शरीरमे यह मै हू यह पर है ऐसा ज्ञान नही कर पाता । ८– आगमहीन मोह मलीमस विवेकहीन जीव स्वभावमे व उपयोगमिश्रित मोह, राग, द्वेष, भावोमे "यह मैं हू यह पर है" ऐसा ज्ञान नही कर पाता । ९– सहजचैतन्य मात्र परमतत्त्वका अनुभव हुए बिना वास्तवमे स्व पर का भेदविज्ञान नही हो पाता । १०– स्वभावका अनुभव स्वपरनिश्चायक आगमोपदेशका अवधारण हुए बिना नही हो सकता । ११–स्वभावका अनुभव परमात्मस्वरूप निश्चायक आगमोपदेशका अवधारण हुए बिना भी नही हो पाता, आगमहीन मोही जीव ज्ञानस्वभावमय परमात्माका भी ज्ञान नही कर सकता । १२– परमात्मा ज्ञानमात्र है, उत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप है जिसमे उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक समस्त पदार्थ ज्ञेय होते ही है ऐसे प्रतापवत परमात्मस्वरूपका ज्ञान आत्मस्वभावके परिचय बिना नही हो पाता । १३–स्वपरज्ञानशून्य व परमात्मज्ञानशून्य जीवके यह विवेक नही [illegible] कि मोहादि द्रव्यकर्म व भावकर्म घातक है और यह मैं आत्मपदार्थ वध्य हूं । १४– अज्ञानीके [illegible] विभागका अभाव होनेका कारण यह है कि उसने द्रव्यकर्मारब्ध शरीरादिकोके साथ व [illegible] निमित्तक मोह रागद्वेषादिभावोके साथ अपनी सकता मान ली है । १५–[illegible] न होनेसे अज्ञानीके द्रव्यकर्मोका व भावकर्मोका क्षपण नही हो [illegible] । १६–आगमहीन [illegible] रहित जीवके ज्ञप्तिपरिवर्तरूप कर्मोका भी अभाव नही [illegible] । १७–[illegible] बदलते रहनेको ज्ञप्तिपरिवर्त कर्म कहते हैं । [illegible] उत्पाद विनाशरूप परिणमते रहनेके कारण ज्ञप्ति [illegible] है । १९–परमात्मत्वमे निष्ठ हुए बिना ज्ञप्तिका [illegible] । २०– आगमहीन जीवके स्वपरज्ञान नही, परमात्मस्वरूप [illegible] कर्मोका क्षपण नही, ज्ञप्तिपरिवर्तकर्मका क्षपण नही होता [illegible] पूर्वक आगमको भली भाँति उपासना करना [illegible]

अथागम एवैकश्चक्षुर्मोक्षमार्गमुपसर्पतामित्यनुशास्ति—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि ।
देवा य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥२३४॥

आगमचक्षू साधु प्राणी तो सब अक्षचक्षू हैं ।
देवा अवधिचक्षु हैं, सिद्ध सकलरूपसे चक्षू ॥ २३४ ॥

आगमचक्षुः साधुरिन्द्रियचक्षूंषि सर्वभूतानि । देवाश्चावधिचक्षुषः सिद्धाः पुनः सर्वतश्चक्षुषः ॥ २३४ ॥

इह तावद्भगवन्तः सिद्धा एव शुद्धज्ञानमयत्वात्सर्वतश्चक्षुषः शेषाणि तु सर्वाण्यपि भूतानि मूर्तद्रव्यावसक्तदृष्टित्वादिन्द्रियचक्षूंषि देवास्तु सूक्ष्मत्वविशिष्टमूर्तद्रव्यग्राहित्वादवधिचक्षुषः । अथ च तेऽपि रूपिद्रव्यमात्रदृष्टत्वेनेन्द्रियचक्षुर्भ्योऽविशिष्यमाणा इन्द्रियचक्षुष एव । एवं

नामसंज्ञ—आगमचक्खु साहु इंदियचक्खु सव्वभूद देव य ओहिचक्खु सिद्ध पुण सव्वदोचक्खु । धातुसंज्ञ—साह साधने । प्रातिपदिक—आगमचक्षुष् साधु इन्द्रियचक्षुष् सर्वभूत देव च अवधिचक्षुष् सिद्ध

सिद्धान्त—१—स्वरूपज्ञाता व परमात्मस्वरूपज्ञाताके ही कर्मका प्रक्षय होता है ।

दृष्टि—१—शुद्धभावनापेक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ अ)

प्रयोग—कर्मक्षयका कारणभूत स्वपरात्मस्वरूपप्रकाश व परमात्मस्वरूपप्रकाश आगमज्ञान बिना नहीं हो पाता, अतः आगमज्ञानका पौरुष करना ॥२३३॥

अब मोक्षमार्गपर चलने वालोंके आगम ही एक चक्षु है ऐसा उपदेश करते हैं—[साधुः] साधु [आगमचक्षुः] आगमचक्षु है [सर्वभूतानि] सर्वप्राणी [इन्द्रियचक्षूंषि] इन्द्रियचक्षु वाले हैं [च देवाः] और देव [अवधिचक्षुषः] अवधिचक्षु वाले है [पुनः] किन्तु [सिद्धाः] सिद्ध [सर्वतःचक्षुषः] सर्वतःचक्षु हैं ।

तात्पर्य—साधु आगमचक्षुसे सब निरखकर अपनी चर्या करते हैं ।

टीकार्थ—प्रथम तो, इस लोकमें भगवन्त सिद्ध ही शुद्धज्ञानमयपना होनेसे सर्वतःचक्षु हैं किन्तु शेष सभी जीव इन्द्रियचक्षु हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि मूर्त द्रव्योंमें ही लगी होती है। देव सूक्ष्मत्वविशिष्ट मूर्त द्रव्योंको ग्रहण करते हैं इस कारण वे अवधिचक्षु हैं, अथवा वे भी, मात्र रूपी द्रव्योंको देखते हैं इस कारण वे इन्द्रियचक्षुवालोंसे अलग न किये जा रहे इन्द्रियचक्षु ही हैं। इस प्रकार इन सभी संसारी जीवोंमें मोहसे उपहत होनेके कारण ज्ञेयनिष्ठ होनेसे, ज्ञाननिष्ठताके मूल शुद्धात्मतत्त्वके संवेदनसे साध्य सर्वतःचक्षुत्व सिद्ध नहीं होता। अब उस सर्वतःचक्षुत्वकी सिद्धिके लिये भगवन्त श्रमण आगमचक्षु होते हैं। सो ज्ञेय और ज्ञानका पारस्परिक मिलन हो जानेसे उन्हें भिन्न करना अशक्य होनेपर भी वे उस आगम

रोषु समस्तेष्वपि संसारिषु मोहोपहततया ज्ञेयनिष्ठेषु सत्सु ज्ञाननिष्ठत्वमूलशुद्धात्मतत्त्वसंवे-
साध्यं सर्वतश्चक्षुस्त्वं न सिद्धयेत् । अथ तत्सिद्धये भगवन्तः श्रमणा आगमचक्षुषो भवन्ति ।
र ज्ञेयज्ञानयोरन्योन्यसवलनेनाशक्यविवेचनत्वे सत्यपि स्वपरविभागमारचय्य निर्भिन्नमहामोहाः
न्तः परमात्मानमवाप्य सततं ज्ञाननिष्ठा एवावतिष्ठन्ते । अतः सर्वमप्यागमचक्षुषैव मुमुक्षूणां
ष्टव्यम ॥२३४॥

र् सर्वतश्चक्षुः । मूलधातु– सा धु साधने, चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च । उभयपदविवरण—आग-
खू आगमचक्षुः साहू साधुः–प्रथमा एक० । इंदियचक्खूणि इन्द्रियचक्षूंषि सव्वभूदाणि सर्वभूतानि–
मा बहु० । देवा देवाः ओहिचक्खू अवधिचक्षुषः सिद्धा सिद्धाः सव्वदोचक्खू सर्वतश्चक्षुषः–प्रथमा बहु० ।
न पुन पुनः –अव्यय । निरुक्ति–चक्षते इति चक्षुः (चक्ष + उस्) । समास–आगमः चक्षुः येषां ते आग-
क्षुषः, इन्द्रियाणि चक्षूंषि येषां तानि इन्द्रियचक्षूंषि, अवधिः चक्षुः येषां ते अवधिचक्षुषः ॥२३४॥

हुने स्वपरका विभाग करके, महामोहको भेद डाला है जिनने ऐसे वर्तते हुये, परमात्माको
ाकर, सतत ज्ञान निष्ठ ही रहते है ।

इससे मुमुक्षुओंको सब कुछ आगमरूप चक्षु द्वारा ही देखना चाहिये ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे बताया गया था कि आगमहीनके मोक्ष नामक
कर्मक्षय संभव नहीं है । अब इस गाथामे बताया गया है कि मोक्षमार्गपर चलने वालोंका
आगम ही चक्षु है ।

अथागमचक्षुषा सर्वमेव दृश्यत एवेति समर्थयति—

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहि चित्तेहिं ।
जाणंति आगमेण हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥२३५॥

नाना गुण पर्यायों, सहित अर्थ सब सिद्ध आगमसे ।
उन सबको आगमसे, प्रेक्षण कर वे श्रमण जानें ॥२३५॥

सर्वे आगमसिद्धा अर्था गुणपर्यायैश्चित्रैः । जानन्त्यागमेन हि दृष्ट्वा तानपि ते श्रमणाः ॥ २३५ ॥

आगमेन तावत्सर्वाण्यपि द्रव्याणि प्रमीयन्ते विस्पष्टतर्कणस्य सर्वद्रव्याणामविरुद्धत्वात् । विचित्रगुणपर्यायविशिष्टानि च प्रतीयन्ते सहक्रमप्रवृत्तानेकधर्मव्यापकानेकान्तमयत्वेन

नामसंज्ञ—सव्व आगमसिद्ध अत्थ गुणपज्जय चित्त आगम त वि त समण । धातुसंज्ञ—जाण अवबोधने दस दर्शने प इक्ख दर्शने । प्रातिपदिक—सर्व आगमसिद्ध अर्थ गुणपर्यय चित्र आगम हि तत् अपि तत् श्रमण । मूलधातु— ज्ञा अवबोधने दृशि प्रेक्षणे । उभयपदविवरण—सव्वे सर्वे आगमसिद्धा आगमसिद्धाः अत्था अर्थाः ते समणा श्रमणाः—प्रथमा बहुवचन । गुणपज्जयेहि गुणपर्यायैः चित्तेहिं चित्रैः—तृतीया

आगमचक्षुसे ही देखना चाहिये ।

अब आगमरूपचक्षुसे सब कुछ दिखाई देता ही है यह समर्थित करते हैं—[सर्वे अर्थाः] समस्त पदार्थ [चित्रैः गुणपर्यायैः] विचित्र (अनेक प्रकारकी) गुणपर्यायों सहित [आगमसिद्धाः] आगमसिद्ध है । [तान् अपि] उनको भी [ते श्रमणाः] वे श्रमण [आगमेन हि दृष्ट्वा] आगम द्वारा ही वास्तवमें देखकर [जानन्ति] जानते हैं ।

तात्पर्य—श्रमण आगम द्वारा ही विविध गुणपर्यायमय वस्तुको जानते हैं ।

टीकार्थ—प्रथम तो, आगम द्वारा सभी द्रव्य दृढतया जाने जाते हैं क्योंकि सर्वद्रव्य विस्पष्ट तर्कणाके अविरुद्ध हैं, और फिर, आगमसे वे द्रव्य विचित्र गुणपर्यायविशिष्ट प्रतीत होते हैं, क्योंकि सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनेक धर्मोंमें व्यापक अनेकान्तमयपना होनेसे आगमके प्रमाणपनाकी उपपत्ति है इससे सभी पदार्थ आगम सिद्ध ही हैं । और वे श्रमणोंके स्वयमेव ज्ञेयभूत होते हैं क्योंकि श्रमणोंका विचित्रगुणपर्यायवाले सर्वद्रव्योंमें व्यापक अनेकान्तात्मक श्रुतज्ञानोपयोगरूपके होकर विशिष्ट परिणमन होता है । अतः आगमचक्षुओंके कुछ भी अदृश्य नहीं है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि मोक्षमार्गमें चलने वालोंका आगम ही एक चक्षु है । अब इस गाथामें बताया गया है कि आगमचक्षुसे सब कुछ दिखाई देता ही है ।

तथ्यप्रकाश—(१) सभी द्रव्य आगमसे प्रमाण किये जाते है । तर्क युक्तिबलसे निर्णय

आगमस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः । अत. सर्वेऽर्था आगमसिद्धा एव भवन्ति । अथ ते श्रमणानां ज्ञेयत्वमापद्यन्ते स्वयमेव, विचित्रगुणपर्यायविशिष्टसर्वद्रव्यव्यापकानेकान्तात्मकश्रुतज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमनात् । अतो न किंचिदप्यागमचक्षुषामदृश्य स्यात् ॥२३५॥

बहु० । जाणंति जानन्ति–वर्तमान अन्य० बहु० क्रिया । आगमेण आगमेन–तृ० एक० । पेच्छित्ता दृष्ट्वा–सम्बन्धार्थप्रक्रिया । ते तान्–द्वितीया एक० । निरुक्ति—श्राम्यति इति श्रमण (श्रम् + युच्) श्रमु क्लेशे तपसि च दिवादि । समास—आगमेन सिद्धा आगमसिद्धा, गुणाश्च पर्यायाश्चेति गुणपर्याया तै गुणपर्यायैः ॥२३५॥

किये जानेपर सभी द्रव्य वैसे ही ज्ञात होते है जैसे कि आगमसे प्रमाण किये गये है । (३) सभी द्रव्य नाना गुण पर्यायोंसे विशिष्ट ज्ञात होते है । (४) सहजप्रवृत्त अनेक धर्मोंमे (गुणोमे) व क्रमप्रवृत्त अनेक धर्मोंमे (पर्यायोमे) व्यापक अनेकान्तस्वरूप द्रव्य है इस प्रकार ही आगमसे प्रमाण किये जाते है । (५) सभी पदार्थ आगमसे ही प्रमाण किये जाते है । (६) पदार्थ जो जैसे है वैसे ही श्रमणोंके ज्ञेयपनेको प्राप्त होते है, क्योकि श्रमण नानागुणपर्यायविशिष्ट सर्व द्रव्योंमे व्यापक अनेकान्तात्मक श्रुतज्ञानोपयोगी होकर प्रवर्तते है । (७) जिनके आगमचक्षु है उनको कुछ भी अदृश्य नही अर्थात् आगमचक्षु पुरुषोको सब कुछ दिखता ही है ।

अथागमज्ञानतत्पूर्वतत्त्वार्थश्रद्धानतत्पूर्वसंयतत्वानां यौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं नियमयति—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण भवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध समणो ॥२३६॥

प्रागमपूर्वक दृष्टी है नहिं जिसके न संयम भि उसके।
ऐसा हि सूत्र भाषित असंयमी हो श्रमण कसे ॥२३६॥

आगमपूर्वा दृष्टिर्न भवति यस्येह संयमस्तस्य। नास्तीति भणति सूत्रमसंयतो भवति कथं श्रमणः ॥२३६॥

इह हि सर्वस्यापि स्यात्कारकेतनागमपूर्विकया तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणया दृष्ट्या शून्यस्य स्वपरविभागाभावात् कायकषायैः सहैक्यमध्यवसतोऽनिरुद्धविषयाभिलाषतया षड्जीवनिकायघातिनो भूत्वा सर्वतोऽपि कृतप्रवृत्तेः सर्वतो निवृत्त्यभावात्तथा परमात्मज्ञानाभावाद् ज्ञेयचक्रक्रमाक्रमणनिरर्गलज्ञप्तितया ज्ञानरूपात्मतत्त्वैकाग्र्यप्रवृत्त्यभावाच्च संयम एव न तावत् सिद्ध्येत्।

नामसंज्ञ—आगमपुव्वा दिट्ठि ण ज संजमो त ण इति सुत्त असंजद किध समण। धातुसंज्ञ—भव सत्तायां, अस सत्तायां भण कथने। प्रातिपदिक—आगमपूर्वा दृष्टि न यत् इह संयम तत् न इति सुत्त असंयत कथं श्रमण। मूलधातु—भू सत्तायां, अस् भुवि भण शब्दार्थ। उभयपदविवरण—आगमपुव्वा आगमपूर्वा दिट्ठी दृष्टि संजमो संयमः सुत्तं सूत्र असंजदो असंयतः समणो श्रमणः—प्रथमा एक०। ण न इदि

लक्षण वाली दृष्टिसे शून्य मनीको प्रथम तो संयम ही सिद्ध नहीं होता क्योंकि (१) स्वपरके विभागके अभावके कारण काय और कषायोंके साथ एकताका अध्यवसाय करने वाले जीवको विषयाभिलाषाका निरोध नहीं होनेसे छह जीवनिकायके घाती होकर सर्वत प्रवृत्ति होनेसे सर्वत निवृत्तिका अभाव है। तथा (२) परमात्मज्ञानके अभावके कारण ज्ञेयसमूहको क्रमश जानने वाली निरर्गल ज्ञप्ति होनेसे ज्ञानरूप आत्मतत्त्वमें एकाग्रताकी प्रवृत्तिका अभाव है। और इस प्रकार जिनके संयम सिद्ध नहीं होता उन्हें सुनिश्चित ऐकाग्र्यपरिणतिरूप श्रामण्य ही—जिसका कि दूसरा नाम मोक्षमार्ग है, सिद्ध नहीं होता। अत आगमज्ञान—तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वके यौगपद्यके ही मोक्षमार्गपना होनेका नियम किया जाता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें आगमसे ही सब कुछ यथार्थ दिखना बताया था। अब इस गाथामें आगमज्ञान, श्रद्धान व संयमका एक साथ होनेमें ही मोक्षमार्गपना बताया है।

तथ्यप्रकाश—१— जिसके आगमपूर्वक दृष्टि नहीं है उसके संयम सिद्ध नहीं होता। २— प्रथम तो आगमसे ही मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वकी श्रद्धाका साधक स्वपरपदार्थविज्ञान होता है। ३— आगमसे सुनिर्णीत पदार्थविज्ञान प्रमाणभूत है, क्योंकि

असिद्धसंयमस्य तु मुनिरिचतैकाग्र्यगतत्वरूपं मोक्षमार्गापरनामश्रामण्यमेव न सिद्ध्येत् । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं नियम्येत ॥२३६॥

[illegible] इह–अव्यय । भवदि होदि भवति अत्थि अस्ति भणदि भणति–वर्तमान अन्य० एक० क्रिया । निरुक्ति– [illegible] अनया इति दृष्टि. (दृश + क्तिम्) । समास– आगमः पूर्वं यस्याः सा आगमपूर्वा, न [illegible] ॥२३६॥

[illegible] अनेकान्तात्मक पदार्थका विज्ञान होता है । ४– जिसके आगमपूर्विका तत्त्वार्थश्रद्धान-[illegible] दृष्टि नहीं है उसके स्वपरभेदविज्ञान न होनेसे शरीर और कषायभावके साथ अपने [illegible] निश्चय रहता है । ५– जिसका शरीर और कषायभावके साथ अपनी एकताका निश्चय रहता है वह विषयोंकी अभिलाषाको नहीं रोक सकता । ६– जो विषयो [illegible] दूर नहीं कर सकता वह षट्कायके जीवोंकी हिंसासे अलग नहीं रह सकता । ७– [illegible] षट्काय जीवघातीको विषयादिमे निरर्गल प्रवृत्ति होती, निवृत्ति किञ्चि-[illegible] नहीं हो पाती । ८– विषयाभिलाषी षट्कायघाती विषयप्रवृत्त अविरक्त पुरुष पर-[illegible] क्रमशः आंशिक काल्पनिक जानकारी बनाता रहता है । ९– [illegible] अज्ञानी विषयप्रवृत्त जीवोंके ज्ञानरूप आत्मतत्त्वमे ऐका-[illegible] नहीं हो सकता । १०– जिसके संयम सिद्ध न हो उसके [illegible] मोक्षमार्ग अर्थात् श्रामण्य ही सिद्ध नहीं होता । ११– आगमज्ञान, [illegible] आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानपूर्वक संयतपना इनका एक साथ [illegible] नियम है । १२– जिसके आगमज्ञानपूर्वक दृष्टि नहीं, उसके संयम [illegible] श्रमण कैसे हो सकता है ?

दितमात्मानमननुभवन् कथं नाम ज्ञेयनिमग्नो ज्ञानविमूढो ज्ञानी स्यात् । अज्ञानिनश्च ज्ञेयद्योतको भवन्नप्यागमः किं कुर्यात् । ततः श्रद्धानशून्यादागमान्नास्ति सिद्धिः । किंच—सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽप्यनुभवन्नपि यदि स्वस्मिन्नेव सयम्य न वर्तयति तदानादिमोहरागद्वेषवासनोपजनितपरद्रव्यचङ्क्रमणस्वैरिण्याश्चिद्वृत्तेः स्वस्मिन्नेव स्थानान्निर्वासननिष्कम्पैकतत्त्वमूर्च्छितचिद्वृत्त्यभावात्कथं नाम संयतः स्यात् । असंयतस्य च यथोदितात्मतत्त्वप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात् । ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव ॥२३७॥

[illegible] एक० । णिव्वादि [illegible] निर्वाति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । सद्दहण श्रद्धानं सद्दहमाणो [illegible] असंजदो असंयतः–प्रथमा एकवचन । अत्थि अस्ति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । अत्थेसु अर्थेषु–[illegible] अर्थान्–द्वितीया एक० । निरुक्ति– श्री इति श्रत् (श्री+इति) श्रद् दधाति इति श्रद्-[illegible] ॥२३७॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽप्यात्मज्ञानस्य मोक्षमार्गसाधकतमत्वं द्योतयति—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥

अज्ञ जन कर्म जितने, करोड़ भवमें विनष्ट कर पाता ।
विज्ञ जन कर्म उतने, त्रिगुप्त हो छिनकमें नशाता ॥२३८॥

यदज्ञानी कर्म क्षपयति भवशतसहस्रकोटिभिः । तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्तः क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥ २३८ ॥

यदज्ञानी कर्म क्रमपरिपाट्या बालतपोवैचित्र्योपक्रमेण च पच्यमानमुपात्तरागद्वेषतया सुखदुःखादिविकारभावपरिणतः पुनरारोपितसंतानं भवशतसहस्रकोटिभिः कथंचन निस्तरति,

---

नामसंज्ञ—ज अण्णाणि कम्म भवसयसहस्सकोडि त णाणि ति गुत्त उस्सासमेत्त । धातुसंज्ञ—खव क्षय-करणे । प्रातिपदिक—यत् अज्ञानिन् कर्मन् भवशतसहस्रकोटि तत् ज्ञानिन् त्रि गुप्त उच्छ्वासमात्र । मूलधातु—क्षि क्षयकरणे चुरादि । उभयपदविवरण—जं यत् कम्मं कर्म—द्वितीया एक० । खवेदि क्षपयति—वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । भवसयसहस्सकोडीहिं भवशतसहस्रकोटिभिः—तृतीया बहु० । तं तत्—

वहीं संयम पल हो सकता है । १०— वासनारहित अविकार निष्कम्प एक ज्ञानाकारस्वरूप अन्तस्तत्त्वमें चिद्वृत्तिका लीन विलीन होना संयम है । ११— जिस आत्मामें स्वैरिणी चिद्वृत्ति उछल कूद कर रही है उस आत्मामें असंयम ही नाच रहा है । १२— असंयमी जीवको मात्र श्रद्धान ज्ञान होनेसे भी सिद्धि नहीं है । १३— आगमज्ञान, आगमज्ञानपूर्वकतत्त्वार्थश्रद्धान व तदुभयपूर्वक संयम इन तीनोंका एक साथ होना ही मोक्षमार्ग है ।

सिद्धांत—(१) अज्ञान अश्रद्धा व असंयमके परिणामोंका फल अशुद्धत्व व कर्मबद्धत्व है ।

दृष्टि— अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—संकटमोचन रत्नत्रयके लाभके लिये मूल उपायभूत आगमज्ञानका मननपूर्वक अभ्यास बनाना ॥२३७॥

अब आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्वका यौगपद्य होनेपर भी, आत्मज्ञान मोक्षमार्गका साधकतम है यह बतलाते हैं—[यत् कर्म] जो अर्थात् जितना कर्म [अज्ञानी] अज्ञानी [भवशतसहस्रकोटिभि] लक्षकोटिभवोंमें [क्षपयति] खपाता है, [तत्] वह अर्थात् उतना कर्म तो [ज्ञानी] ज्ञानी [त्रिभि गुप्त] मन वचन कायकी गुप्तिसे युक्त हुआ [उच्छ्वासमात्रेण] उच्छ्वासमात्रमें [क्षपयति] खपा देता है ।

तदेव ज्ञानी स्यात्कारकेतनागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यातिशयप्रसादासादितशुद्धज्ञान- मयात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणज्ञानित्वसद्भावात्कायवाङ्मनःकर्मोपरमप्रवृत्तत्रिगुप्तत्वात् प्रचण्डोपक्रम- पच्यमानमपहस्तितरागद्वेषतया दूरनिरस्तसमस्तसुखदुःखादिविकारः पुनरनारोपितसंतानमुच्छ्- वासमात्रेणैव लीलयैव पातयति । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम् ॥२३८॥

द्वि० ए० । णाणी ज्ञानी अण्णाणी अज्ञानी–प्रथमा एक० । तिहिं त्रिभि –तृ० वहु० । गुत्तो गुप्त -प्रथमा ए[illegible]० । उस्सासमेत्तेण उच्छ्वासमात्रेण–तृतीया एकवचन । निरुक्ति—उत् श्वसन उच्छ्वास. (उत् श्वस् [illegible]) श्वस् प्राणने । समास–शतानि च तानि सहस्राणि चेति शतसहस्राणि शतसहस्राणि च ता० को- [illegible] कोटच भवाना शतसहस्रकोटच. इति भवशतसहस्रकोटच. ताभि. भ० ॥२३८॥

अथात्मज्ञानशून्यस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्कर-मित्यनुशास्ति—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ॥२३६॥

परमाणुमात्र मूर्च्छा, देह तथा इन्द्रियादिमें जिसके।
रहती हो वह सर्वागमधर भी सिद्धि नहीं पाता ॥२३६॥

परमाणुप्रमाण वा मूर्च्छा देहादिकेषु यस्य पुनः। विद्यते यदि स सिद्धिं न लभते सर्वागमधरोऽपि ॥२३६॥

यदि करतलामलकीकृतसकलागमसारतया भूतभवद्भावि च स्वोचितपर्यायविशिष्टम् अशेषद्रव्यजातं जानन्तमात्मानं जानन् श्रद्दधान संयमयन्नागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां

नामसंज्ञ— परमाणुपमाण वा मुच्छा देहादिअ ज पुणो जदि त सिद्धि ण सव्वागमधर वि। धातुसंज्ञ— विज्ज सत्तायां, लह प्राप्तौ। प्रातिपदिक— परमाणुप्रमाण वा मूर्च्छा देहादिक यत् पुनर् यदि तत् सिद्धि न सर्वागमधर अपि। मूलधातु— विद सत्तायां, डुलभष् प्राप्तौ। उभयपदविवरण—परमाणुपमाणं परमाणु-

भड़ना कमका खटना भी कहलाता। (३) ज्ञानीके शुद्धज्ञानमय आत्मतत्त्वकी अनुभूति प्रतीति होनेसे कर्म घटता है यहाँ अन्य कर्मोंका बन्धनभार न बननेसे उसके कर्मका झड़ना कर्मका घटना कहलाता है। (४) ज्ञानीके मन वचन काय तीनों योगोंका निरोध है, अतः वहाँसे रागद्वेष भाव हट जाते हैं। (५) राग द्वेषादि हट जानेसे सुख दुःखादि विकार भी दूर हो जाता है। (६) सुख दुःखादि विकार दूर हो जानेसे फिर विकार व बन्ध सन्तान आरोपित नहीं होता। (७) मोक्षमार्गोचित सब कार्य आत्मज्ञानके बलसे होते हैं, अतः आत्मज्ञान मोक्ष-मार्गका साधकतम अन्तः कारण है।

सिद्धान्त—आत्मा अनात्माका भेद करके सहजात्मस्वरूपका सचेतन करने वाले ज्ञानसे आत्मोपलब्धि होती है।

दृष्टि—१- ज्ञाननय, शून्यनय, अविकल्पनय (१६४, १७३, १६२)।

प्रयोग—कर्मक्षपक अथ मन वचन कायकी क्रियाका निरोध कर चैतन्यमात्र सहजा-त्मस्वरूपमें आत्मत्व अनुभवना ॥२३८॥

अब आत्मज्ञानशून्यके सर्व आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयतत्वकी युगपत्ताकी युगपत्ता भी अकिंचित्कर है, यह अनुशासित करते हैं— [पुनः] और [यदि] यदि [यस्य] जिसके [देहादिकेषु] शरीरादिकोंमें [परमाणुप्रमाणं वा] परमाणुमात्र भी [मूर्च्छा] मूर्च्छा [विद्यते] पाई जाती है तो [सः] वह [सर्वागमधरः अपि] सर्वागमका धारी होनेपर भी

योगपद्येऽपि मनाङ्मोहमलोपलिप्तत्वात् यदा शरीरादिमूर्च्छोपरक्ततया निरुपरागोपयोगपरिणतं कृत्वा ज्ञानात्मानमात्मानं नानुभवति तदा तावन्मात्रमोहमलकलङ्ककीलिकाकीलितैः कर्मभिरविमुच्यमानो न सिद्ध्यति । अत आत्मज्ञानशून्यमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यमप्यकिंचित्करमेव ॥२३९॥

प्रमाण–क्रियाविशेषण । वा जदि यदि ण न वि अपि–अव्यय । मुच्छा मूर्च्छा सव्वागमधरो सर्वागमधर–प्रथमा एकवचन । देहादिएसु देहादिकेषु–सप्तमी बहुवचन । जस्स यस्य–षष्ठी एक० । विज्जदि विद्यते लहदि लभते–वर्त० अन्य० एक० क्रिया । सो सः–प्रथमा एक० । सिद्धिं–द्वितीया एकवचन । निरुक्ति–प्रमाणं मननं इति प्रमाण (प्र मा+ल्युट्) प्र मा माने अदादि । समास–सर्वश्चासौ आगमश्चेति सर्वागमः सर्वागमं धरतीति सर्वागमधरः ॥२३९॥

[सिद्धिं न लभते] सिद्धिको प्राप्त नहीं होता ।

तात्पर्य––देहादिकमें जिसके मूर्च्छा है वह कितना भी आगमका जानकार हो उसका मोक्ष नहीं होता ।

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं साधयति—

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो जिदकसाओ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ॥२४०॥

समिति गुप्तिने संवृत इन्द्रियविजयी कषायपरिहारी।
दर्शनज्ञानसुसंयुत श्रमण कहा संयमी प्रभुने ॥२४०॥

पंचसमितस्त्रिगुप्तः पंचेन्द्रियसंवृतो जितकषायः। दर्शनज्ञानसमग्रः श्रमणः स संयतो भणितः ॥ २४० ॥

यः खल्वनेकान्तकेतनागमज्ञानबलेन सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमा-
त्मानं श्रद्दधानोऽनुभवंश्चात्मन्येव नित्यनिश्चलां वृत्तिमिच्छन् समितिपञ्चकाङ्कुशितप्रवृत्तिप्रव-

नामसंज्ञ—पंचसमिद तिगुत्त पंचेंदियसंवुड जिदकसाअ दंसणणाणसमग्ग समण त संजद भणिद।
धातुसंज्ञ— भास भासा। प्रातिपदिक—पंचसमित त्रिगुप्त पंचेन्द्रियसंवृत जितकषाय दर्शनज्ञानसमग्र श्रमण

सिद्धान्त—(१) रंच भी विकारमें उपयुक्त पुरुष कर्मभारसे रहित नहीं हो पाता।

दृष्टि—१- अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४स)।

प्रयोग—शाश्वत सिद्धि पानेके लिये देहादिकमें रंचमात्र भी राग न करके अविकार ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी आत्मरूपमें अनुभवना ॥२३६॥

अब आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ताको साधते हैं—[पंचसमित] जो पांच समितियुक्त, [पंचेन्द्रियसंवृत] पांच इन्द्रियोंको रोकने वाला [त्रिगुप्त] तीन गुप्ति सहित, [जितकषाय] कषायोंको जीतने वाला, [दर्शनज्ञान समग्र] दर्शनज्ञानसे परिपूर्ण [श्रमण] श्रमण है [स] वह [संयत] संयत [भणित] कहा गया है।

तात्पर्य—समितिवान् इन्द्रियनिरोधी गुप्तिपालक कषायविजयी दर्शनज्ञानपरिपूर्ण श्रमण ही संयमी है।

टीकार्थ—जो पुरुष अनेकान्तकेतन आगमज्ञानके बलसे, सकल पदार्थोंके ज्ञेयाकारोंके साथ मिलित विशद एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे आत्माका श्रद्धान और अनुभव करता हुआ आत्मामें ही नित्यनिश्चल वृत्तिको चाहता हुआ, संयमके साधनरूप बनाये हुये शरीरपात्रको पांचसमितियोंसे अंकुशित प्रवृत्ति द्वारा प्रवर्तित करता हुआ, क्रमशः पंचेन्द्रियोंके निश्चल निरोध द्वारा जिसके काय वचन मनका व्यापार विरामको प्राप्त हुआ है, ऐसा होकर, चिद्वृत्तिके लिये परद्रव्यमें भ्रमणके निमित्तभूत कषायचक्रको आत्माके साथ अन्योन्य मिलनके कारण अत्यन्त एकरूप हो जानेपर भी स्वभावभेदके कारण पररूपसे निश्चित करके आत्माके द्वारा

अथास्य सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतस्य कीदृग्ल
क्षणमित्यनुशास्ति —

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥२४१॥

शत्रु बन्धुवर्गमें सम, सुख दुखमें सम प्रशंस निन्दामें ।
लोष्ठ व कांचनमें सम जन्म मरण सम श्रमण होता ॥२४१॥

समशत्रुबन्धुवर्गः समसुखदुःखः प्रशंसानिन्दासमः । समलोष्टकाञ्चनः पुनर्जीवितमरणे समः श्रमणः ॥२४१॥
संयमः सम्यग्दर्शनज्ञानपुरःसरं चारित्रं चारित्रं धर्मः, धर्मः साम्यं, साम्यं मोहक्षोभवि

नामसंज्ञ—समसत्तुबंधुवग्ग समसुहदुक्ख पसंसणिंदासम समलोट्ठुकंचण पुण जीविदमरण सम समण ।

बन जाता है तथापि आत्मस्वभावसे भिन्न होनेसे विकार परभाव है । (७) कषायचक्रको दूर करनेके लिये श्रमणको आरम्भसे विधिवत् साधना होती है । (८) श्रमण स्याद्वादगर्भित आगमज्ञानका अभ्यास करता है । (९) श्रमण आगमज्ञानके बलसे सर्वजानन स्वभाव वाले विशद एक ज्ञानस्वरूप स्वात्माका श्रद्धान करता है, अनुभव करता है और इसी परमार्थतत्त्व में अपने उपयोगको रमाये रहना चाहता है । (१०) श्रमणने पाँचों समितियोंसे अंकुशित प्रवृत्तियोंसे शरीरपात्रको संयमसाधनीभूत किया है । (११) श्रमणने पंच इन्द्रियद्वारोंको रोक कर मन वचन कायकी चञ्चलताको हटाकर त्रिगुप्ति प्राप्त की है । (१२) समितियुक्त गुप्ति-सहित पंचेन्द्रियविजयी श्रमण जितकषाय होता है और जितकषाय होनेसे श्रमण दर्शनज्ञान-समग्र होता है सो वह साक्षात् संयम ही तो है ।

सिद्धान्त—(१) अविकार चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वकी भावनासे कषायप्रकृतियोंका क्षय होता है कषायभावोंका अभाव होता है ।

दृष्टि—१- शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—अपने आत्माके शाश्वत सहज पवित्र निश्चल परमाह्लादमय एकरूप आनंद को पानेके लिये निष्प्रपञ्च होकर इन्द्रियव्यापाररहित होकर स्व सहजात्मस्वरूपमें मग्न होनेका पौरुष होने देना ॥२४०॥

अब आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्वकी युगपत्ताके साथ आत्मज्ञानकी युगपत्ता जिसे सिद्ध हुई है ऐसे इस संयतका क्या लक्षण है सो अनुशासित करते हैं—[समशत्रुबन्धुवर्ग] जिसके लिये शत्रु और बन्धु वर्ग समान है, [समसुखदुःख] जो सुख दुःखमें समान है, [प्रशंसानिन्दासम] जिसके लिये प्रशंसा और निन्दा समान है, [समलोष्टुकाञ्चन] जिसके लिये

हीनः आत्मपरिणामः । ततः संयतस्य साम्यं लक्षणम् । तत्र शत्रुबन्धुवर्गयोः सुखदुःखयोः प्रशंसानिन्दयोः लोष्टकाञ्चनयोर्जीवितमरणयोश्च समम् अयं मम परोऽयं स्वः, अयमाह्लादोऽयं परितापः, इद ममोत्कर्षणमिदमपकर्षणमयं ममाकिञ्चित्कर इदमुपकारकमिदं ममात्मधारणमयमत्यन्तविनाश इति मोहाभावात् सर्वत्राप्यनुदितरागद्वेषद्वैतस्य सततमपि विशुद्धदृष्टिज्ञप्तिस्व-

धातुसंज्ञ—जीव प्राणधारणे, मर प्राणत्यागे । प्रातिपदिक– समशत्रुबन्धुवर्ग समसुखदु ख प्रशंसानिन्दासमः समलोष्टकाञ्चन पुनर् जीवितमरण सम श्रमण । मूलधातु–जीव प्राणधारणे, मृ मरणे । उभयपदविवरण–समसत्तुबन्धुवग्गो समशत्रुबन्धुवर्ग सममुहदुक्खो समसुखदु ख पससणिंदसमो प्रशंसानिन्दासमः समलोट्ठुकञ्चणो समलोष्टकाञ्चन समो सम समणो श्रमण जीविदमरणे जीवितमरणे–सप्तमी एकवचन । निरु-

ढेला और सुवर्ण समान है, [पुनः] तथा [जीवितमरणेसमः] जो जीवन-मरणके प्रति समान है वह [श्रमणः] श्रमण है।

तात्पर्य—समताका पुञ्ज आत्मा श्रमण है।

भावेन अनुभवतः शत्रुबन्धू सुखदुःखे प्रशंसानिन्दे लोष्टकाञ्चने जीवितमरणे निर्विशेषमेव ज्ञेयत्वेनाक्रम्य ज्ञानात्मन्यात्मन्यचलितवृत्तेर्यत्किल सर्वतः साम्यं तत्सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यस्य संयतस्य लक्षणमालक्षणीयम् ॥२४१॥

लिङ्ग—शत्रुबन्धु शब्द नपुंसकलिङ्ग (कादि ...) कांचनेऽपि च पुंसि ... । समास—शत्रु-बन्धुवर्गौ समौ इति समः, सुखदुःखे समे इति समसुखदुःखः, प्रशंसानिन्दयोः समः इति प्रशंसानिन्दासमः ॥ २४१ ॥

है। (६) श्रमणके शत्रु और बन्धुवर्गमें यह मेरा है यह दूसरा है ऐसा मोह रंच नही है। (७) श्रमणके सुख और दुःखमें ऐसा पक्ष नहीं है कि सुख तो आह्लादरूप है और दुःख परितापरूप है। (८) श्रमणके प्रशंसा और निन्दामें यह पक्ष नही है कि प्रशंसा तो मेरा उत्कर्ष है और निन्दा मेरा पतन है। (९) श्रमणके लोष्ठ व काञ्चनमें यह विषमता नही है कि लोष्ठ आदि तो मेरे लिये अकिञ्चित्कर है और काञ्चन (सुवर्ण) मेरा उपकारक है। (१०) श्रमणके जीवन व मरणमें ऐसा विषमभाव नही होता कि जीवन तो मेरा आत्मधारण है और मरण मेरा आत्मविनाश है। (११) उदाहरणोक्त पाँच घटनावोंमें व उपलक्षणतः सब घटनाओंमें श्रमणके रंच भी मोह नही है सो सभी घटनाओंमें श्रमणके रागद्वेष उदित नही होता है। (१२) अनुकूल प्रतिकूल घटनावोंमें श्रमणके राग द्वेष नही है सो वह सतत ज्ञानदर्शनस्वभाव आत्माका अनुभव लेता है। (१३) अविकार चेतनामात्र अपनेको अनुभवने वाले श्रमणके उपयोगमें शत्रु बन्धु सुख दुःख प्रशंसा निन्दा लोष्ठ काञ्चन जीवन मरण सभी बिना भेदभावके ज्ञेयरूपसे झलकते हैं। (१४) श्रमणके इस उत्कृष्ट साम्यभावका कारण ज्ञानस्वरूप अपने आत्मामें अपने उपयोगका अचलितरूपसे प्रवर्तना है। (१५) उक्त विवेचनासे संयतका लक्षण यही लक्षित होता है कि आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान व संयतपनेके यौगपद्यके साथ आत्मज्ञानका भी साथ साथ नियमतः होना संयतका वास्तविक लक्षण है।

सिद्धान्त—(१) श्रमणका साम्यभाव स्वभावका यथोचित विकास है।

दृष्टि—१- शुद्ध सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय नामक पर्यायार्थिक नय (३४)।

प्रयोग—वर्तमानमें व भविष्यमें शाश्वत सहज पवित्र अचल आनन्दके लाभके लिये आत्माभिमुख ज्ञानके बलसे अनुकूल प्रतिकूल सब घटनाओंमें समताभाव धारण करना।२४१।

अब सिद्ध है आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान संयतत्वके यौगपद्यके साथ साथ आत्मज्ञानका यौगपद्य जिसके ऐसा संयतपना जिसका कि अपर नाम एकाग्रता लक्षण वाला श्रामण्य है इसको ही मोक्षमार्गसे समर्थित करते हैं—[यः तु] जो [दर्शनज्ञानचरित्रेषु] दर्शन, ज्ञान

अथैदमेव सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतत्वमैकाग्र्य-लक्षणश्रामण्यापरनाम मोक्षमार्गत्वेन समर्थयति—

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥२४२॥

चारित्र ज्ञान दर्शन, तीनोमें एक साथ जो उत्थित।
एकाग्रगत हुआ वह, उसके श्रामण्य है पूरा ॥२४२॥

[illegible] युगपत्समुत्थितो यस्तु। एकाग्रगत इति मत. श्रामण्य तस्य परिपूर्णम् ॥ २४२ ॥

[illegible]प्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूतिलक्षणेन ज्ञा-[illegible]क्रियान्तरनिवृत्तिसूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृतत्त्ववृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण च त्रि-

[illegible] जुगव समुट्ठिद ज दु एयग्गगद त्ति मद सामण्ण त पडिपुण्ण। धातु-[illegible] प्रातिपदिक—दर्शनज्ञानचरित्र त्रि युगपत् समुत्थित यत् तु एकाग्रगत इति मत श्रा-[illegible] मूलधातु—मनु ज्ञाने। उभयपदविवरण—दंसणणाणचरित्तेसु दर्शनज्ञानचारित्रेषु तीसु

[illegible] [त्रिषु] इन तीनोमे [युगपत्] एक ही साथ [समुत्थितः] प्रवर्तित है, वह [एकाग्र-गतः] [illegible] [इति] इस प्रकार [मतः] शास्त्रमे कहा गया है [तस्य] उसके [श्रामण्यं] श्रामण्य [परिपूर्णम्] परिपूर्ण है।

भिरपि योगपद्येन आत्मभावस्मात्रविजृम्भितातिनिर्भरतरतरसवलनबलादङ्गाङ्गिभावेन परिणत स्या मना यदात्मनिष्ठत्वं सति यत्तत्व तत्वानकत्वमनेकात्मकस्यैकस्यानुभूयमानतायामपि समस्त परद्रव्यपरावृत्त वादभिव्यक्ताग्रलक्षणश्रामण्यापरनामा मोक्षमार्ग एवावगन्तव्य । तस्य तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेनकाग्र्य मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वाद्द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन विश्वस्यापि भेदाभेदात्मकत्वात्तदुभयमिति प्रमाणेन प्रज्ञप्ति ॥ इत्येवं प्रतिपत्तुराशयवशादेकोऽप्यनेकोभव स्वलक्षण्यमयकतामुपगतो मार्गो ऽपवर्गस्य य । द्रष्टृज्ञातृनिबद्धवृत्तिमचलं लोकस्तमास्कन्दतामास्कन्दत्यचिराद्विकाशमतुलं येनो ल्लसन्त्याश्रितः ॥१६॥ ॥२४२॥

त्रिय–सप्तमी एक० । जुगव युगपत् दु तु ति सर्ग–अव्यय । समुट्ठिदो समुत्थित जो य एयग्गगदो एकाग्र गत सो मत गामण्ण श्रामण्य पडिपुण्ण परिपूर्ण–प्रथमा एकवचन । तस्स तस्य–षष्ठी एकवचन । निरु क्ति–दुर्लभिव पदत इति युगपत् (युग पद्+विवप्) प० गतो । समास–दर्शन च ज्ञान च चरित्र चेति दर्शनज्ञानचारित्राणि तदु दसणणाणचरित्तु ॥२४२॥

मोक्षमार्ग है' इस प्रकार प्रमाणसे उसका प्रज्ञापन है । इत्येव इत्यादि । अर्थ—इस प्रकार, प्रतिपादकके आशयके वश, एक होनेपर भी अनेक होता हुआ एकताको तथा त्रिलक्षणताको प्राप्त जो मोक्षका मार्ग उसे लोक द्रष्टा ज्ञातामे निबद्ध वृत्तिको अचलरूपसे अवलम्बन करे, जिससे वह लोक उल्लसित चेतनाके अतुल विकासको अल्पकालमे प्राप्त हो ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे श्रमणको अनुकूल प्रतिकूल सब घटनावोमे साम्य भाव रखने वाला बतलाते हुए आगमज्ञान आदि चारोके यौगपद्यको सयतका लक्षण बतलाया गया था । अब इस गाथामे बतलाया गया है कि आगमज्ञान आदि चारोका यौगपद्य ऐकाग्र्यगतपना है जो कि श्रामण्यका दूसरा नाम है और मोक्षमार्गरूप है ।

तथ्यप्रकाश—(१) सारा विश्व भेदाभेदात्मक है, सो प्रत्येक तथ्यको भेदरूपसे व अभेदरूपसे दोनो विधियोसे निरख सकते हैं । (२) मोक्षमार्ग भेदात्मकपनेसे तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है । (३) अभेदात्मकपनेसे एकाग्र्य मोक्षमार्ग है । (४) एकाग्र्यमे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र इन तीनोंके होनेपर भी उनकी एकताका अनुभव होता है । (५) जैसे पानकमे (शरबतमे) अनेक चीजोंके होनेपर उनकी एकरसताका अनुभव होता है । (६) ज्ञेयतत्त्व व ज्ञाता तत्त्व जो जैसे है उनकी उसी रूपसे प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है । (७) ज्ञेयतत्त्व व ज्ञाता तत्त्वका उस ही रूपसे अनुभव होना सम्यग्ज्ञान है । (८) ज्ञेय सब पदार्थोंकी क्रियाओंकी निवृत्तिके कारण स्पष्ट स्वरूपमात्र द्रष्टा ज्ञाता स्वभाव मय आत्मतत्त्वमे उपयुक्त होना सम्यक्चारित्र है । (९) जब सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक

तथाभूतश्च बध्यत एव न तु विमुच्यते । अत अनैकाग्र्यस्य न मोक्षमार्गत्वं सिद्ध्येत् ॥२४३॥

हदि-वर्त० अन्य० एक० क्रिया । णो जदि यदि-अव्यय । अण्णं अन्यं अन्यत्-द्वितीया एक० । आसेज्ज आसाद्य-असमाप्तिकी क्रिया । समणो श्रमणः अण्णाणी अज्ञानी-प्रथमा एकवचन । बज्झदि बध्यते-वर्त० अन्य० एक० भावकर्मप्रक्रिया । कम्मेहिं कर्मभिः विविहेहिं विविधैः-तृतीया बहुवचन । निरुक्ति-श्राम्यति इति श्रमणः । समास- विविधा विधा येषां ते विविधाः तैः विविधैः ॥२४३॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतपना व आत्मज्ञान इन चारोंके योगपद्य रूप एकाग्रपनेका मोक्षमार्गरूपसे समर्थन किया था। अब इस गाथामें एकाग्रतारहित श्रावक मोक्षमार्गपनेका निषेध किया है।

तथ्यप्रकाश—(१) जो ज्ञानस्वरूप एकमात्र आत्माको नहीं भावता, अनुभवता, वह अवश्य ही अन्य परभूत द्रव्यका आश्रय करेगा। (२) जो पुरुष ज्ञानात्मक आत्माको नहीं जानेगा परभूत अन्य द्रव्यका आश्रय करता है वह ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वके ज्ञानसे भ्रष्ट हुआ स्वयं अज्ञानी होकर मोह राग द्वेष करता है। (३) अनात्मज्ञानी अन्य द्रव्यका आश्रयी मोही रागी द्वेषी प्राणी कर्मोंसे बंधता ही है विमुक्त नहीं होता। (४) चूंकि ऐकाग्र्यके अभावमें ये सब विडम्बनायें होती हैं अतः प्रकट सिद्ध है कि अनैकाग्र्य परिणमनके मोक्षमार्गपना सिद्ध नहीं होता।

सिद्धान्त—(१) रागी द्वेषी मोही श्रमण अज्ञानी है और वह नाना कर्मोंसे बँध जाता है।

दृष्टि—१- अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब)।

प्रयोग—कर्मोंसे छुटकारा पानेके लिये ज्ञानात्मक आत्मतत्त्वकी भावना करना जिससे न तो अन्य द्रव्यका आश्रय हो सके और न राग द्वेष मोह उत्पन्न हो ॥२४३॥

अब एकाग्रताके मोक्षमार्गपना निश्चित करते हुये मोक्षमार्ग प्रज्ञापनका उपसंहार करते हैं—[यदि य श्रमण] यदि श्रमण [अर्थेषु] पदार्थोंमें [न मुह्यति] मोह नहीं करता [न हि रज्यति] राग नहीं करता, [न एव द्वेषम् उपयाति] और न द्वेषको प्राप्त होता है [स] तो वह [नियतं] नियमसे [विविधानि कर्माणि] विविध कर्मोंको [क्षपयति] दूर कर देता है अर्थात् नष्ट कर देता है।

तात्पर्य—मोह राग द्वेष न करने वाला श्रमण नाना कर्मोंको नष्ट कर देता है।

टीकार्थ—जो ज्ञानात्मक आत्माको एक अग्ररूपसे भाता है वह ज्ञेयभूत अन्य द्रव्यका आश्रय नहीं करता, और उसका आश्रय नहीं करके ज्ञानात्मक आत्मज्ञानसे अभ्रष्ट वह स्वयं ज्ञानीभूत रहता हुआ मोह नहीं करता, राग नहीं करता, द्वेष नहीं करता, और ऐसा

अथैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वमवधारयन्नुपसंहरति—

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि ।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥२४४॥

मोह न पदार्थोंमें, तूषे नहिं द्वेष नहिं करे जो यदि ।
वह श्रमण विविध कर्मों-का प्रक्षय किया करता है ॥२४४॥

अर्थेषु यो न मुह्यति न हि रज्यति नैव द्वेषमुपयाति । श्रमणो यदि स नियतं क्षपयति कर्माणि विविधानि ॥

यस्तु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति स न ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति । तदनासादनाच्च ज्ञानात्मात्मज्ञानादभ्रष्टः स्वयमेव ज्ञानीभूतस्तिष्ठन्न मुह्यति न रज्यति न द्वेष्टि तथाभूतः सन् मुच्यत एव न तु बध्यते । अत ऐकाग्र्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं सिद्ध्येत् ॥२४४॥ इति मोक्षमार्गप्रज्ञापनम् ।

अथ शुभोपयोगप्रज्ञापनम् । तत्र शुभोपयोगिनः श्रमणत्वेनान्वाचिनोति—

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि ।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥२४५॥

श्रमण शुद्धोपयोगी शुभोपयोगी कहे जिनागममे ।
किन्तु शुद्धोपयोगी अनास्रवी शेष सास्रव हैं ॥ २४५ ॥

श्रमणाः शुद्धोपयुक्ताः शुभोपयुक्ताश्च भवन्ति समये । तेष्वपि शुद्धोपयुक्ता अनास्रवाः सास्रवाः शेषाः ।२४५।

ये खलु श्रामण्यपरिणतिं प्रतिज्ञायापि जीवितकषायकणतया समस्तपरद्रव्यनिवृत्तिप्रवृत्तसुविशुद्धदृशिज्ञप्तिस्वभावात्मतत्त्ववृत्तिरूपां शुद्धोपयोगभूमिकामधिरोढुं न क्षमन्ते । ते तदुप

नामसंज्ञ—समण सुद्धुवजुत्त सुहोवजुत्त य समय त वि सुद्धुवजुत्त अणासव सेस सासव । धातुसंज्ञ—हो सत्तायां । प्रातिपदिक—श्रमण शुद्धोपयुक्त शुभोपयुक्त च समय तत् अपि शुद्धोपयुक्त अनास्रव सास्रव शेष ।

सम्यग्दर्शन व आत्मज्ञान इन भावोंका यौगपद्य सर्वश्रामण्य, ज्ञानात्मकस्वसंवेदन, एकाग्रय, श्रामण्य व शुद्धोपयोग यह एकार्थकभाव मोक्षमार्ग है ऐसा मोक्षमार्गका प्रज्ञापन किया गया है ।

सिद्धांत—(१) शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनाके कारण स्वयं ही कर्मोंसे छुटकारा प्राप्त हो जाता है ।

दृष्टि—१- शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—कर्मोंसे व संसारसंकटोंसे छुटकारा पानेके लिये पदार्थोंमें न मोह करना, न राग करना, न द्वेष करना ॥२४४॥

इस प्रकार मोक्षमार्ग-प्रज्ञापन समाप्त हुआ ।

अब शुभोपयोगका प्रज्ञापन करते हैं । उसमें प्रथम शुभोपयोगियोंको श्रमणरूपमें गौण तया बतलाते हैं—[समये] परमागममें [श्रमणाः] श्रमण [शुद्धोपयुक्ताः] शुद्धोपयोगी [च शुभोपयुक्ताः भवंति] और शुभोपयोगी होते हैं [तेषु अपि] उनमें भी [शुद्धोपयुक्ताः अनास्रवाः] शुद्धोपयोगी निरास्रव है, [शेषाः सास्रवाः] शेष सास्रव हैं अर्थात् शुभोपयोगी आस्रव सहित हैं ।

तात्पर्य—आगममें शुभोपयोगी व शुद्धोपयोगी दोनोंको श्रमण कहा गया है ।

टीकार्थ—जो वास्तवमें श्रामण्यपरिणतिकी प्रतिज्ञा करके भी, कषाय कणके जीवित होनेसे, समस्त परद्रव्यसे निवृत्तिरूपसे प्रवर्तमान सुविशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव आत्मतत्त्वमें परिणतिरूप शुद्धोपयोगभूमिकामें आरोहण करनेको समर्थ नहीं हैं, वे जीव शुद्धोपयोगभूमिकाके

सकलनिविष्टाः कषायकुण्ठीकृतशक्तयो नितान्तमुत्कण्ठुलमनसः श्रमणाः किं भवेयुर्न वेत्यत्राभिधी-यते । 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो । पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं' इति स्वयमेव निरूपितत्वादस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवायः । ततः शुभोपयोगिनोऽपि धर्मसद्भावाद्भवेयुः श्रमणाः किंतु तेषां शुद्धोपयोगिभिः समं समकाष्ठत्वं न भवेत् यतः शुद्धोपयोगिनो निरस्तसमस्तकषायत्वादनास्रवा एव । इमे पुनरनवकीर्णकषायकण-त्वात्सास्रवा एव । अत एव च शुद्धोपयोगिभिः सममभी न समुच्चीयन्ते केवलमन्वाचीयन्त एव ॥४८॥

अथ शुभोपयोगिश्रमणलक्षणमासूत्रयति—

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु ।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥२४६॥

सिद्ध जिनोंमें भक्ती, प्रवचन अभियुक्तमें सुवत्सलता ।
श्रामण्यमें यदी हो वह हो शुभयुक्त चर्या है ॥२४६॥

अर्हदादिषु भक्तिर्वत्सलता प्रवचनाभियुक्तेषु । विद्यते यदि श्रामण्ये सा शुभयुक्ता भवेच्चर्या ॥ २४६ ॥

सकलसंगसंन्यासात्मनि श्रामण्ये सत्यपि कषायलवावेशवशात् स्वयं शुद्धात्मवृत्तिमात्रे-णावस्थातुमशक्तस्य परेषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थितेष्वर्हदादिषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रावस्थितिप्रति

नामसंज्ञ—अरहंतादि भत्ति वच्छलदा पवयणाभिजुत्त जदि सामण्ण त सुहजुत्ता चरिया । धातुसंज्ञ—भव सत्तायां, विज्ज सत्तायां । प्रातिपदिक—अर्हदादि भक्ति वत्सलता प्रवचनाभियुक्त यदि श्रामण्य तत्

धर्मपरिणत आत्मा शुभोपयोगसे युक्त रहता है तो वह मरण कर स्वर्गादि सुखको प्राप्त होता है, इससे सिद्ध है कि शुभोपयोगी श्रमण भी धर्मसाधक है । (६) शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थसमवाय है, इस कारण शुभोपयोगी भी श्रमण है । (७) शुभोपयोगी श्रमण शुद्धोपयोगी श्रमणसे नीचे है, क्योंकि शुद्धोपयोगी श्रमण कषाय दूर कर देनेसे निरास्रव हैं, शुभोपयोगी श्रमण कषायकणसद्भावके कारण सास्रव हैं । (८) शुभोपयोगी श्रमण भी साधनामें है, अतः वह भी श्रमण ही है ।

सिद्धान्त—(१) शुभोपयोगमें सहज शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी प्रतीति युक्त श्रमण अन्त आत्मतत्त्वकी साधना कर रहा है ।

दृष्टि—१- क्रियानय (१९३) ।

प्रयोग—शुद्धोपयोगी होनेके प्रधान पौरुषकी विधेयता समझते हुए कषायकणप्रेरणा की स्थितिमें शुभोपयोगी होना ॥२४५॥

अब शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण आसूचित करते हैं—[श्रामण्ये] मुनि अवस्थामें [यदि] यदि [अर्हदादिषु भक्ति] अर्हन्तादिके प्रति भक्ति तथा [प्रवचनाभियुक्तेषु वत्सलता] प्रवचनरत जीवोंके प्रति वात्सल्य [विद्यते] पाया जाता है तो [सा] वह [शुभयुक्ता चर्या] शुभयुक्त चर्या अर्थात् शुभोपयोगी चारित्र [भवेत्] है ।

तात्पर्य—अर्हन्तादिमें भक्ति व सहधर्मियोंमें वात्सल्य करने वाला मुनि शुभोपयोगी है ।

टीकार्थ—सकल संगके संन्यासस्वरूप श्रामण्यके होनेपर भी कषायांशके आवेशके

अथ शुभोपयोगिश्रमणानां प्रवृत्तिमुपदर्शयति—

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥२४७॥

श्रमणोंके प्रति सविनय, वदन उत्थान अनुगमन प्रणयन ।
प्रतिपत्ति श्रमापनयन, निन्दित नहिं रागचर्यामें ॥२४७॥

वन्दननमस्करणाभ्यामभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः । श्रमणेषु श्रमापनयो न निन्दिता रागचर्यायाम् ॥२४७॥

शुभोपयोगिनां हि शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रतया समधिगतशुद्धात्मवृत्तिषु श्रमणेषु वन्दननमस्करणाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता श्रमापनयनप्रवृत्तिश्च न दुष्यत् ॥२४७॥

नामसंज्ञ—वदणणमंसण अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ति समण समावणअ ण णिंदिदा रायचरिय । धातुसंज्ञ—णिंद पद गतौ । प्रातिपदिक—वन्दननमस्करण अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्ति श्रमण श्रमापनय न निन्दिता रागचर्या । मूलधातु—प्रति पद गतौ । उभयपदविवरण— वदणणमंसणेहिं—तृतीया बहु० । वन्दननमस्करणाभ्यां—तृतीया द्वि० । अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः—प्रथमा एक० । समणेसु श्रमणेषु—स० बहु० । समावणओ श्रमापनयः—प्रथमा एक० । ण न—अव्यय । णिंदिदा—प्रथमा एक० । रायचरियम्हि रागचर्यायां—सप्तमी एकवचन । निरुक्ति—प्रतिपादनं प्रतिपत्तिः (प्रति पद + क्तिन्) । समास—वंदनं च नमस्करणं वंदननमस्करणे ताभ्यां व० ॥२४७॥

[वन्दननमस्करणाभ्यां] वंदन नमस्कारके साथ [अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिः] अभ्युत्थान और अनुगमनरूप विनीत प्रवृत्ति करना तथा [श्रमापनयः] उनका श्रम दूर करना [रागचर्यायाम्] रागचर्यामें [न निन्दिता] निन्दित नहीं है।

तात्पर्य—शुभोपयोगचारित्रमें श्रमणोंका वंदन विनय आदि करना निन्दित नहीं।

टीकार्थ—शुभोपयोगियोंके शुद्धात्माके अनुरागयुक्त चारित्र होनेसे शुद्धात्मपरिणति प्राप्त की है जिनमें ऐसे श्रमणोंके प्रति वंदन नमस्कार अभ्युत्थान अनुगमनरूप विनीत वर्तनकी प्रवृत्ति तथा शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षाकी निमित्तभूत जो श्रम दूर करनेकी वैयावृत्यरूप प्रवृत्ति है, वह शुभोपयोगियोंके लिये दूषित नहीं है।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुभोपयोगी श्रमणका लक्षण कहा गया था। अब इस गाथामें शुभोपयोगी श्रमणोंकी प्रवृत्ति बताई गई है।

तथ्यप्रकाश—(१) शुभोपयोगी श्रमणोंका शुद्धात्मानुरागयोगी चारित्र होता है, इस कारण उनके रागचर्या होती है जो कि इस भूमिकामें निन्दित नहीं है। (२) शुभोपयोगी श्रमण रागचर्यामें अन्य श्रमणोंके प्रति वन्दन, नमस्कार, अभ्युत्थान, अनुगमनकी प्रतिपत्ति

अथ शुभोपयोगिनामेवैवंविधाः प्रवृत्तयो भवन्तीति प्रतिपादयति—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥२४८॥

दर्शनज्ञानसुदेशन, शिष्य ग्रहण शिष्य आत्मपोषण भी ।
जिनपूजोपदेश सब, चर्या हि सराग श्रमणोंकी ॥२४८॥

दर्शनज्ञानोपदेशः शिष्यग्रहणं च पोषणं तेषाम् । चर्या हि सरागाणां जिनेन्द्रपूजोपदेशश्च ॥ २४८ ॥

अनुजिघृक्षापूर्वकदर्शनज्ञानोपदेशप्रवृत्तिः शिष्यसंग्रहणप्रवृत्तिस्तत्पोषणप्रवृत्तिर्जिनेन्द्रपूजो-

---

नामपद—दंसणणाणुवदेस सिस्सग्गहण च पोसण त चरिया हि सरागजिणिदपूजोवदेस य । धातु-संज्ञ—[illegible] । प्रातिपदिक—दर्शनज्ञानोपदेश शिष्यग्रहण च पोषण तत् चर्या हि सराग जिनेन्द्रपूजो-पदेश [illegible] । मूलधातु—[illegible] । उभयपदविवरण—दंसणणाणुवदेसो दर्शनज्ञानोपदेश सिस्सग्गहण [illegible] पोसणं पोषणं चरिया चर्या जिणिदपूजोवदेसो जिनेन्द्रपूजोपदेश.–प्रथमा एकवचन । तेसिं तेषां

पोषणप्रवृत्तिश्च शुभोपयोगिनामेव भवन्ति न शुद्धोपयोगिनाम् ॥२४८॥

सरागाणां सरागाणाम्-षष्ठी बहुवचन। निरुक्ति—शिष्यते असौ शिष्य (शिस्+क्यप्) शासु अनुशिष्टौ अदादि। समास-दर्शन च ज्ञान च दर्शनज्ञान तयो उपदेश दर्शनज्ञानोपदेश शिष्यस्य ग्रहण शिष्यग्रहण, जिनेन्द्रस्य पूजा जिनेन्द्रपूजा तस्या उपदेश जिनेन्द्रपूजोपदेश ॥ २४८ ॥

प्रवृत्ति, उनके पोषणकी प्रवृत्ति और जिनेन्द्रपूजाके उपदेशकी प्रवृत्ति ये सब शुभोपयोगियोंके ही होती है, शुद्धोपयोगियोंके नहीं।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुभोपयोगी श्रमणोंकी प्रवृत्ति दिखाई गई थी। अब इस गाथामें बताया गया है कि उक्त प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियोंके ही होती हैं।

तथ्यप्रकाश—(१) अनुग्रहपूर्वक दर्शन ज्ञानके उपदेशकी प्रवृत्ति करना शुभोपयोगियोंके ही होती है शुद्धोपयोगियोंके नहीं, क्योंकि उपदेशप्रवृत्ति सरागचर्या है। (२) शिष्योंके संग्रहकी प्रवृत्ति व शिष्योंकी अन्तर्बाह्यपोषणप्रवृत्ति शुभोपयोगियोंके ही होती है, शुद्धोपयोगियोंके नहीं, क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति शुभरागपूर्वक ही होती है। (३) जिनेन्द्रपूजनके उपदेशकी प्रवृत्ति भी शुभोपयोगियोंकी होती है शुद्धोपयोगियोंके नहीं, क्योंकि शुभप्रवृत्तिका उपदेश भी सरागचर्या है। (४) ऐसी शुभ प्रवृत्तियाँ निन्दित नहीं है, क्योंकि शुभोपयोगमें इन प्रवृत्तियोंका आगममें वर्णन है।

सिद्धान्त—(१) शुभोपयोगियोंके शुभ क्रियायें शुद्धात्मानुरागसे होती हैं।

दृष्टि—१- क्रियानय (१९३)।

प्रयोग—शुद्धोपयोग न बननेकी स्थितिमें शुद्धोपयोगका लक्ष्य न छोड़कर शुभोपयोगकी उक्त क्रियायें करना ॥२४८॥

अब सभी प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियोंके ही होती हैं यह अवधारित करते हैं—[य अपि] जो कोई भी श्रमण [नित्य] सदा [चातुर्वर्णस्य] चार प्रकारके [श्रमणसघस्य] श्रमण सघका [नित्यं] सदा [कायविराधनरहित] छह कायकी विराधनासे रहित [उपकरोति] उपकार करता है, [स अपि] वह भी [सरागप्रधान स्यात्] सरागधर्म है प्रधान जिसके ऐसा शुभोपयोगी है।

तात्पर्य—श्रमणोंका उपकार करने वाले श्रमण भी शुभोपयोगी हैं।

टीकार्थ—सयमकी प्रतिज्ञा की हुई होनेसे षट्कायके विराधनसे रहित जो कुछ भी, शुद्धात्मपरिणतिके रक्षणमें निमित्तभूत, चार प्रकारके श्रमणसघका उपकार करनेकी प्रवृत्ति है वह सभी रागप्रधानताके कारण शुभोपयोगियोंके ही होती है, शुद्धोपयोगियोंके कदाचित् भी नहीं।

अथ सर्वा एव प्रवृत्तयः शुभोपयोगिनामेव भवन्तीत्यवधारयति—

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥ २४९ ॥

चतुर्विध श्रमणसंघों का जो उपकार नित्य करता है।
कायविराधनविरहित, वह साधु शुभोपयोगी है ॥२४९॥

उपकरोति योऽपि नित्यं चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्य। कायविराधनरहितं सोऽपि सरागप्रधानः स्यात् ।२४९।

प्रतिज्ञातसंयमत्वात् षट्कायविराधनरहिता या काचनापि शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता चातुर्वर्ण्यस्य श्रमणसंघस्योपकारकरणप्रवृत्तिः सा सर्वापि रागप्रधानत्वात् शुभोपयोगिनामेव भवति न कदाचिदपि शुद्धोपयोगिनाम् ॥२४९॥

अथ प्रवृत्तेः संयमविरोधित्वं प्रतिषेधयति—

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥२५०॥

जो संयम नहिं रखता, वयावृत्याय उद्यमी साधु ।
वह न श्रमण किन्तु गृही, यह तो है धर्म श्रावकका ॥२५०॥

यदि करोति कायखेदं वैयावृत्त्यार्थमुद्यतः श्रमणः । न भवति भवत्यगारी धर्मः स श्रावकाणां स्यात् ॥२५०॥

यो हि परेषां शुद्धात्मवृत्तित्राणाभिप्रायेण वैयावृत्त्यप्रवृत्त्या स्वस्य संयमं विराधयति स

नामसंज्ञ—जदि कायखेद वेज्जावच्चत्थं उज्जद समण ण अगारि धम्म त सावय । धातुसंज्ञ—हुव सत्तायां, अस सत्तायां । प्रातिपदिक—यदि कायखेद वैयावृत्त्यार्थ उद्यत श्रमण न अगारिन् धर्म तत् श्रावक । मूलधातु—भू सत्तायां, अस सत्तायां । उभयपदविवरण—जदि यदि वेज्जावच्चत्थं वैयावृत्त्यार्थं ण न—अव्यय । कायखेदं—द्वितीया एक० । उज्जदो उद्यतः समणो श्रमणः अगारी धम्मो धर्मः सो सः—प्रथमा एक० । हवदि

रागरहित है ।

सिद्धान्त—(१) शुद्धोपयोगी सहजशुद्ध अन्तस्तत्त्वमें उपयुक्त होनेसे सर्वप्रवृत्तियोंसे निवृत्त है ।

दृष्टि—१— ज्ञाननय (१९४) ।

प्रयोग—शुद्धात्मत्वकी रुचिपूर्वक शुद्धात्मत्वके साधक गुरु जनोंकी सेवा अहिंसापद्धतिसे करना ॥२४९॥

अब प्रवृत्तिके संयमविरोधित्वका निषेध करते हैं—[वैयावृत्त्यार्थम् उद्यतः] वैयावृत्तिके लिये उद्यमी श्रमण [यदि] यदि [कायखेदं] छह कायके खेदको, घातको [करोति] करता है तो वह [श्रमणः न भवति] श्रमण नहीं है, [अगारी भवति] गृहस्थ है, (क्योंकि) [सः] छहकायकी विराधना सहित वयावृत्ति [श्रावकाणां धर्मः स्यात्] श्रावकोंका धर्म है ।

तात्पर्य—यदि कोई श्रमण छहकायकी विराधना न टालकर वैयावृत्त्य करता है तो वह श्रमण नहीं रहता ।

टीकार्थ—जो (श्रमण) दूसरेके शुद्धात्मपरिणतिकी रक्षा हो, इस अभिप्रायसे वैयावृत्यकी प्रवृत्ति द्वारा अपने संयमकी विराधना करता है, वह गृहस्थधर्ममें प्रवेश कर रहा होनेसे श्रामण्यसे च्युत होता है । अतः जो भी प्रवृत्ति हो वह सर्वथा संयमके साथ विरोध न आये इस प्रकार ही करनी चाहिये, क्योंकि प्रवृत्तिमें भी संयम ही साध्य है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें सारी ही ये प्रवृत्तियाँ शुभोपयोगियोंके ही

गृहस्थधर्मानुप्रवेशात् श्रामण्यात् प्रच्यवते। अतो या काचन प्रवृत्तिः सा सर्वथा संयमाविरोधेनैव विधातव्या। प्रवृत्तावपि संयमस्यैव साध्यत्वात् ॥२५०॥

[illegible] किया। भावयाण श्रावकाणां–षष्ठी बहु०। से स्यात्–विधौ अन्य [illegible] किया। निरुक्ति—धर्मं शृणोति असौ श्रावक (श्रु + ण्वुन्)। समास–कायस्य खेदः काय-[illegible]खेदम् ॥२५०॥

[illegible] प्रधारित किया गया था। अब इस गाथामें प्रवृत्तिके संयमविरोधित्वका निषेध किया गया है अर्थात् श्रमणकी प्रवृत्ति संयमविरोधी नहीं होना चाहिये यह विदित कराया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) जो साधु दूसरे श्रमणोंकी शुद्धात्मवृत्तिरक्षाके भावसे वैयावृत्य करे, किन्तु अपने संयमकी विराधना कर डाले तो वह श्रामण्यसे च्युत हो जाता है, क्योंकि उसका गृहस्थधर्ममें प्रवेश हो गया। (२) षट् कायके जीवको जिसमें खेद पहुंचे वह [illegible] कहलाती है। (३) श्रमणको वैयावृत्यादि कार्यमें भी संयमकी रंच भी विराधना न करना चाहिये। (४) वैयावृत्यादि प्रवृत्तिमें भी श्रमणोंको संयम ही साध्य है।

सिद्धान्त—(१) शुभोपयोगी चारित्रमें प्रवृत्ति संयमप्रधान ही होती है।

अथ प्रवृत्तेर्विषयविभागं दर्शयति—

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो ॥२५१॥

अल्प लेप होते भी, श्रावक मुनिपद चरित्रयुक्तोंका ।
शुद्ध लक्ष्य नहिं तजकर हो निरपेक्ष उपकार करो ॥२५१॥

जनानां निरपेक्षं साकारानाकारचर्यायुक्तानाम् । अनुकम्पयोपकारं करोतु लेपो यद्यप्यल्पः ॥ २५१ ॥

या किलानुकम्पापूर्विका परोपकारलक्षणा प्रवृत्तिः सा खल्वनेकान्तमैत्रीपवित्रितचित्तेषु शुद्धेषु जनेषु शुद्धात्मज्ञानदर्शनप्रवृत्तवृत्तितया साकारानाकारचर्यायुक्तेषु शुद्धात्मोपलम्भेतरसकलनिरपेक्षतयैवाल्पलेपाप्यप्रतिषिद्धा न पुनरल्पलेपेति सर्वत्र सर्वथैवाप्रतिषिद्धा, तत्र तथाप्रवृत्त्या शुद्धात्मवृत्तित्राणस्य परात्मनोरनुपपत्तेरिति ॥२५१॥

नामसंज्ञ—जोण्ह णिरवेक्ख सागारणगारचरियजुत्त अणुकंपा उवयार लेव जदि वि अप्प । धातुसंज्ञ—कुव्व करणे । प्रातिपदिक—जन निरपेक्ष साकारानाकारचर्यायुक्त अनुकम्पा उपकार लेप यदि अपि अल्प । मूलधातु—डुकृञ् करणे । उभयपदविवरण—जोण्हाण जनाना सागारणगारचरियजुत्ताण साकारानाकारचर्यायुक्तानां-षष्ठी बहु० । णिरवेक्खं निरपेक्ष उवयारं उपकार-द्वितीया एक० । अणुकंपया अनुकम्पया-तृतीया एक० । कुव्वदु करोतु-आज्ञार्थे अन्य० एक० क्रिया । लेवो लेपः अप्पो अल्पः-प्रथमा एक० । जदि यदि वि अपि-अव्यय । निरुक्ति—लिप्यते असौ लेपः लिपु गतौ भ्वादि । समास—साकाराश्च अनाकाराश्च इति साकारानाकाराः साकारानाकारे चासौ चर्या इति साकारानाकारचर्या ताभ्यां युक्ताः साकारानाकारचर्यायुक्ताः ॥२५१॥

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे संयमका घात न करने वाली ही प्रवृत्ति शुभोपयोगियोकी बताई गई थी । अब इस गाथामे प्रवृत्तिका विषय दिखाया गया है ।

तथ्यप्रकाश— १- यद्यपि अनुकम्पापूर्वक परोपकाररूप प्रवृत्तिसे अल्प लेप होता है तथापि शुद्ध जिनमार्गानुयायियोके प्रति शुद्धात्मोपलब्धिकी अपेक्षासे की जाती है तो वह प्रवृत्ति निषिद्ध नही है । २- जिनका चित्त अनेकान्तके साथ मैत्री द्वारा पवित्र हुआ है व शुद्धात्माके ज्ञानदर्शनरूप चर्या वाले हैं वे शुद्ध जिनमार्गानुयायी हैं । ३- "अनुकम्पापूर्वक परोपकारस्वरूप प्रवृत्तिमे अल्प ही तो लेप होता है" ऐसा सोचकर कोई सबके प्रति सब प्रकार की प्रवृत्ति अप्रतिषिद्ध समझे सो ठीक नही हैं । ४- शुद्ध जिन विनिर्दिष्ट मार्गानुयायियोके अतिरिक्त अन्यके प्रति व शुद्धात्मोपलब्धिके अतिरिक्त अन्य अपेक्षासे प्रवृत्ति करना शुभोपयोगी श्रमणोके लिये निषिद्ध है, क्योकि इस तरहकी प्रवृत्ति परको या निजको शुद्धात्मवृत्तिकी रक्षा नहीं बनती ।

स्यात् स शुभोपयोगिनः स्वशक्त्या प्रतिचिकीर्षा प्रवृत्तिकालः । इतरस्तु स्वयं शुद्धात्मवृत्तेः समधिगमनाय केवलं निवृत्तिकाल एव ॥२५२॥

साधु-प्रथमा एक० । अभिउज्जदु प्रतिपद्यताम्-आज्ञार्थे अन्य० एक० क्रिया । आदसत्तीए आत्मशक्त्या-तृतीया एकवचन । निर्दिश--भूयन क्षुधा (क्षुध्+विवप्+टाप्) तथा तृषा (तृष्+न+टाप्) जिघृषा पिपासायां । आत्मन आत्मशक्ति तथा आत्मशक्त्या ॥२५२॥

रोगादिक कोई उपसर्ग था तब तो वह काल शुभोपयोगीका स्वशक्त्यनुसार प्रतीकार करनेकी इच्छारूप प्रवृत्तिका काल है। (२) उस प्रवृत्ति कालमें निश्चयतः प्रतीकार करनेकी इच्छा व योग चल रहा है, व्यवहारतः रोगादिक उपसर्गको दूर करनेका प्रयत्न चल रहा है। (३) जब श्रमणपर कोई रोगादिक उपसर्ग नहीं है तो वह स्वयको शुद्धात्मवृत्ति पानेके लिये केवल निवृत्तिकाल है ही। (४) साधु जब श्रमणको रोग क्षुधा तृषा व श्रमसे आक्रान्त देखे तब वह आत्मशक्त्यनुसार विधिसहित मनसे वाचनिक व कायिक वैयावृत्य करे, इस परिस्थितिके अतिरिक्त अन्य काल निवृत्तिका है सो आत्मध्यानमें परमात्मध्यानमें रहे।

सिद्धान्त—१- शुभोपयोगी श्रमण अनुकम्पापूर्वक परोपकाररूप प्रवृत्तिका भाव होनेसे वैयावृत्यादि कार्य करता ही है।

दृष्टि—१- क्रियानय (१९३)।

प्रयोग—शुद्धात्मवृत्तिकी ओर अभिमुख रहने वाले साधकोंपर रोगादिक आये तो शुद्धात्मवृत्तिकी रक्षाके लिये उनकी आत्मशक्त्यनुसार सेवा करना ॥२५२॥

अब लोगोंके साथ बातचीत करनेकी प्रवृत्तिको उसके निमित्तके विभाग सहित बतलाते हैं—[वा] और [ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम्] रोगी, गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणोंकी [वैयावृत्यनिमित्तं] सेवाके निमित्त [शुभोपयुता] शुभोपयोगयुक्त [लौकिकजनसंभाषा] लौकिक जनोंके साथकी बातचीत [न निन्दिता] निन्दित नहीं है।

तात्पर्य—रोगी आदि सेव्य श्रमणोंकी सेवाके निमित्त लौकिक जनोंके साथ शुभोपयुक्त संभाषण निषिद्ध नहीं है।

टीकार्थ—शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त रोगी, गुरु, बाल और वृद्ध श्रमणोंकी सेवाके निमित्त ही शुद्धात्मपरिणतिशून्य लोगोंके साथ बातचीत प्रसिद्ध है, किन्तु अन्य निमित्तसे भी प्रसिद्ध हो ऐसा नहीं है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुभोपयोगी श्रमणोंकी प्रवृत्तिका काल बताया गया था। अब इस गाथामें बताया गया है कि शुभोपयोगी श्रमणकी लोगोंसे संभाषण करने

अथ लौकिकसंभाषणप्रवृत्तिं सनिमित्तविभागं दर्शयति--

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥२५३॥

बाल वृद्ध गुरु रोगी, श्रमणोंकी खेदहरणसेवामें ।
लौकिकजनसंभाषण, निन्दित न शुभोपयोगीके ॥२५३॥

वैयावृत्यनिमित्तं ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम् । लौकिकजनसंभाषा न निन्दिता वा शुभोपयुता ॥२५३॥

अनधिगतशुद्धात्मवृत्तीनां ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानां वैयावृत्यनिमित्तमेव शुद्धात्मवृत्तिशून्यजनसंभाषणं प्रसिद्धं न पुनरन्यनिमित्तमपि ॥२५३॥

अथैवमुक्तस्य शुभोपयोगस्य गौणमुख्यविभागं दर्शयति—

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ॥२५४॥

यह पुन चर्या श्रमणों, गृहियोंके गौण मुख्यरूप कही।
उससे हि परम्परया पुरुष परम सौख्यको पाते ॥२५४॥

एषा प्रशस्तभूता श्रमणानां वा पुनर्गृहस्थानाम्। चर्या परेति भणिता तयैव परं लभते सौख्यम् ॥२५४॥

एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोगः तदयं शुद्धात्मप्रकाशिकां समस्तविरतिमुपेयुषां कषायकणसद्भावात्प्रवर्तमानः शुद्धात्मवृत्तिविरुद्धरागसंगतत्वाद्गौण-

नामसंज्ञ—एत पसत्थभूद समण वा पुणो घरत्थ चरिया परा त्ति भणिय त एव पर सोक्ख। धातुसंज्ञ—भण कथने, लह प्राप्तौ। प्रातिपदिक—एतत् प्रशस्तभूत श्रमण वा पुनर् गृहस्थ चर्या परा इति भणित तत् एव पर सौख्य। मूलधातु—भण शब्दार्थः, डुलभष् प्राप्तौ। उभयपदविवरण—एसा एषा पसत्थभूदा प्रशस्तभूता चरिया चर्या परा परा-प्रथमा एक०। समणाणं श्रमणानां घरत्थाणं गृहस्थानां-

प्रयोग—शुद्धात्मवृत्तिको पाने वाले रोगादिसे आक्रान्त श्रमणोंकी वैयावृत्तिके लिये आवश्यक होनेपर लौकिक जनोंसे भी सम्भाषण करना, किन्तु वह भी शुद्धतासे व शुभोपयुक्त होकर ही करना ॥२५३॥

अब इस प्रकारसे कहे गये शुभोपयोगका गौण मुख्य विभाग दिखलाते हैं—[एषा] यह [प्रशस्तभूता] प्रशस्तभूत [चर्या] चर्या [श्रमणानां] श्रमणोंके होती है [वा गृहस्थानां पुनः] और गृहस्थोंके तो [परा] मुख्य होती है, [इति भणिता] ऐसा आगममें कहा है, [तया एव] उसीसे [परं सौख्यं लभते] श्रावक परम्परया परमसौख्यको प्राप्त होता है।

तात्पर्य—शुभोपयोगसम्बन्धित चर्यासे परम्परया परमसौख्य प्राप्त होता है।

टीकार्थ—इस प्रकार शुद्धात्मानुरागयुक्त प्रशस्त चर्यारूप यह शुभोपयोग वर्णित किया गया है सो शुद्धात्माको प्रकाशक सर्वविरतिको प्राप्त श्रमणोंके कषायकणके सद्भावके कारण प्रवर्तित होता हुआ यह शुभोपयोग शुद्धात्मपरिणतिसे विरुद्ध रागके साथ संगत होनेसे गौण होता है, किन्तु गृहस्थोंके तो, सर्वविरतिके अभावसे शुद्धात्मप्रकाशनका अभाव होनेसे कषायके सद्भावके कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी, ईंधनको स्फटिकके संपर्कसे सूर्यके तेजके अनुभवकी तरह गृहस्थको रागके संयोगसे शुद्धात्माका अनुभव होनेके कारण और क्रमसे परम निर्वाण-सौख्यका कारण होनेसे यह शुभोपयोग मुख्य होता है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि शुभोपयोगी श्रमण शुद्धात्म-

श्रमणानां, गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानो-ऽपि स्फटिकसंपर्केणार्कतेजस इवैधसां रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्य-कारणत्वाच्च मुख्यः ॥२५४॥

पदों [illegible] । भणिदा भणिता-प्रथमा एक० कृदन्त क्रिया । ता तया-तृतीया एक० । पर सोक्ख सौ-ख्य-द्वितीया एक० । लहदि लभते-वर्त० अन्य० एक० क्रिया । वा त्ति इति एव-अव्यय ॥२५४॥

[illegible] रोगादिसे आक्रान्त श्रमणोंकी वैयावृत्तिके लिये आवश्यक हो तो लौकिक जनोंसे भी संभाषण करते हैं। अब इस गाथामें उक्त शुभोपयोग गौण मुख्य विभाग बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) शुद्धात्मानुरागसे सम्बन्धित प्रशस्त चर्याको शुभोपयोग कहते हैं। (२) यह शुभोपयोग [illegible] कषायकणके सद्भावसे हुआ है तो भी श्रमणोंके गौणरूपसे होता बताया, क्योंकि प्रशस्त राग भी शुद्धात्मवृत्तिके विरुद्ध है। (३) गृहस्थ जनोंके शुभोपयोग मुख्य रूपसे है क्योंकि गृहस्थके सकलसंयम तो है नहीं सो शुद्धात्मत्वका प्रकाशन नहीं होता, तो भी शुद्धात्मानुरागयोगी प्रशस्त रागके संयोगसे गृहस्थको शुद्धात्माका अनुभव होता है [illegible] आनन्दका कारण बनता है। (४) सम्यक्त्वकी अपेक्षासे श्रमणको व गृहस्थको शुद्धात्मा ही ध्येय है। (५)

अथ शुभोपयोगस्य कारणवैपरीत्यात् फलवैपरीत्यं साधयति—

राग्रो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥२५५॥

शुभ राग पात्रसे कुछ, विरुद्धतासे विरुद्ध फल देता।
बीज कुभूगत फलता, उल्टा फलकालमें जैसे ॥२५५॥

रागः प्रशस्तभूतो वस्तुविशेषेण फलति विपरीतम्। नानाभूमिगतानीह बीजानिव सस्यकाले ॥ २५५ ॥

यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यंभावित्वात् ॥२५५॥

नामसंज्ञ—राग पसत्थभूद वत्थुविसेस विवरीद णाणाभूमिगद इह बीज इव सस्सकाल। धातुसंज्ञ—फल निष्पत्तौ। प्रातिपदिक—राग प्रशस्तभूत वस्तुविशेष विपरीत नानाभूमिगत बीज सस्यकाल इह इव। मूलधातु—फल निष्पत्तौ। उभयपदविवरण—रागो राग पसत्थभूदो प्रशस्तभूत—प्रथमा एक०। वत्थुविसेसेण वस्तुविशेषेण—तृतीया एक०। फलदि फलति—वर्तमान अन्य० एक० क्रिया। विवरीदं विपरीत—क्रियाविशेषण। णाणाभूमिगदाणि नानाभूमिगतानि बीजाणि बीजानि—प्रथमा बहु०। इह इव—अव्यय। सस्यकालम्हि सस्यकाले—सप्तमी एकवचन। निरुक्ति—प्रशस्यते स्म इति प्रशस्त (प्र शस्+क्त) शस स्तुतौ। समास—नाना भूमौ गतानि इति नानाभूमिगतानि सस्यस्य काल सस्यकाल तस्मिन् सस्यकाले ॥२५५॥

तात्पर्य—प्रशस्त राग भी कुपात्रगत होनेसे उल्टा फल देने वाला होता है।

टीकार्थ—जैसे एक ही बीजोंका भूमिकी विपरीततासे निष्पत्तिका वैपरीत्य होता है उसी प्रकार एक ही प्रशस्तरागस्वरूप शुभोपयोगका पात्रकी विपरीततासे फलका वैपरीत्य होता है, क्योंकि कारणके भेदसे कार्यका भेद अवश्यम्भावी है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें शुभोपयोगका गौण मुख्य विभाग दर्शाया गया था। अब इस गाथामें बताया गया है कि शुभोपयोगका आश्रयभूत विपरीत कारण होनेपर उसका विपरीत फल होता है।

तथ्यप्रकाश—(१) कारणके भेदसे कार्यका भेद अवश्यभावी है। (२) अच्छी भूमिमें डाले गये बीजका अच्छा फल उत्पन्न होता है, किन्तु उसी बीजको रेतीली आदि खराब भूमिमें डाला जाय तो उसका फल खराब होता है या उत्पन्न ही नहीं होता। (३) प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग सर्वज्ञोपदिष्ट सुदेव सद्धर्म व सुगुरुके विषयमें हो तो पुण्यसंचयपूर्वक कुछ काल बाद मोक्षकी प्राप्ति होती है। (४) अज्ञानी जनों द्वारा व्यवस्थापित देव धर्म गुरुके विषयमें प्रशस्तरागरूप शुभोपयोग हो तो उसका फल विपरीत होगा, मोक्षशून्य पुण्यापदाकी प्राप्ति है जिसे उस अधिकसे अधिक यही हो सकता कि मरकर अच्छा मनुष्य बन जाय या देव बन जाय।

तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरत वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भावशून्यकेवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत् कुदेवमनुजत्वम् ॥२५६॥

प्राकृतशब्द—छदमत्थ प्राप्तौ। उभयपदविवरण— छद्मस्थविहितवस्तुषु छद्मस्थविहितवस्तुषु-सप्तमी बहु०। व्रतनियम, व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरत -प्रथमा एकवचन। ण न-अ यय। लहदि लभते-वत० अन्य० एक० क्रिया। अपुणभाव अपुनर्भाव भाव सातप्पग सातात्मक-द्वितीया एक०। निरुक्ति—छद्म-पत इति छद्म तत्र तिष्ठति इति छद्मस्थ छदि सवरणे चुरादि वसति सत्त्व यत्र तद् वस्तु (वस+तुन्) वस निवासे। समास— व्रत च नियमश्च अध्ययन च ध्यानं च दान चेति व्रतनियमाध्ययनध्यानदानानि तेषु रत इति व्रत०॥२५६॥

कारण है। (२) अविपरीत आश्रयत हुए शुभोपयोगका फल पुण्योपचयपूर्वक मोक्षलाभ है। (३) छद्मस्थ अज्ञानी जनो द्वारा स्थापित कल्पित सराग देव आदि तत्त्व शुभोपयोगके विपरीत आश्रयभूत कारण है। (४) विपरीत कारणोमे किये गये दान ध्यान अध्ययनादिरूप शुभोपयोगका फल मात्र मोक्षशून्य व पुण्यापदकी प्राप्ति है।

सिद्धान्त—(१) सराग जीवको वीतरागके लिये प्रयुक्त होने वाले देव शब्दसे कहना उपचार है।

दृष्टि—१- एकजातिपर्याय मे अन्यजातिपर्यायोपचारक असद्भूत व्यवहार (१०७)।

प्रयोग—सत्य असत्य तत्त्वका विवेक करके असत्यका आश्रय छोडकर सत्यके आश्रय से उपयोगका प्रवर्तन करना॥२५६॥

अब पुन कारणविपरीतता और फलविपरीतता ही बतलाते है—[अविदितपरमार्थेषु] नही जाना है परमार्थको जिन्होने ऐसे [च] और [विषयकषायाधिकेषु] विषय कषाय में अधिक [पुरुषेषु] पुरुषोके प्रति [जुष्ट कृत या दत्त] सेवा, उपकार अथवा दान [कुदेवेषु मनुजेषु] कुदेवरूपमे और कुमनुष्यरूपमे [फलति] फलता है।

तात्पर्य—विषयकषायवान पुरुषोमे किया हुआ दान आदिका फल कुदेव व कुनर होना है।

टीकार्थ—जो छद्मस्थस्थापित वस्तुयें कारणवैपरीत्य हैं, वे वास्तवमे शुद्धात्मज्ञानसे शून्यताके कारण नही जाना है और शुद्धात्मपरिणतिको प्राप्त न करनेसे 'विषयकषायमे अधिक' ऐसे पुरुष है। उनके प्रति सेवा, उपकार या दान करने वाले शुभोपयोगात्मक जीवो को जो केवल पुण्यापसदकी प्राप्ति है सो वह फलविपरीतता है, वह (फल) कुदेवत्व व कुमनुष्यत्व है।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे शुभोपयोगके विपरीत कारण व विपरीत फलको

अथ कारणविपरीतत्वात् फलमविपरीतं न सिध्यतीति श्रद्धापयति—

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु ।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ॥२५८॥

जब वे विषयकषायें पापमयी ही कही जिनागममें ।
फिर उनके अनुरागी, किमु हो संसारनिस्तारक ॥२५८॥

यदि ते विषयकषायाः पापमिति प्ररूपिता वा शास्त्रेषु । कथं ते तत्प्रतिबद्धाः पुरुषा निस्तारका भवन्ति ॥

विषयकषायास्तावत्पापमेव तद्वन्तः पुरुषा अपि पापमेव तदनुरक्ता अपि पापानुरक्तत्वात् पापमेव भवन्ति । ततो विषयकषायवन्तः स्वानुरक्तानां पुण्यायापि न कल्प्यन्ते कथं पुनः संसारनिस्तारणाय । ततो न तेभ्यः फलमविपरीतं सिध्येत् ॥२५८॥

नामसंज्ञ—जदि त विसयकसाय पाव त्ति परूविद व सत्थ किह त तप्पडिबद्ध पुरिस णित्थारग । धातुसंज्ञ—हो सत्तायां । प्रातिपदिक—यदि तत् विषयकषाय पाप इति प्ररूपित वा शास्त्र कथं तत् तत्प्रतिबद्ध पुरुष निस्तारक । मूलधातु—भू सत्तायां । उभयपदविवरण—जदि यदि त्ति इति व वा किह कथं—अव्यय । ते विसयकसाया विषयकषायाः—प्रथमा बहु० । पाव पापं—प्रथमा एक० । परूविदा प्ररूपिताः—प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया । सत्थेसु शास्त्रेषु—सप्तमी बहु० । ते तप्पडिबद्धा तत्प्रतिबद्धाः पुरिसा पुरुषाः णित्थारगा निस्तारकाः—प्रथमा बहु० । होंति भवन्ति—वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । निरुक्ति—शास्यते भव्या अनेन इति शास्त्रम् (शास् + ष्ट्रन्) शासु शिक्षणे अदादि । समास—विषयाश्च कषायाश्चेति विषयकषायाः, तत्र प्रतिबद्धा इति तत्प्रतिबद्धाः ॥२५८॥

प्रयोग—आत्महितके लिये कुदेव कुगुरु कुधर्मकी सेवा छोड़कर सुदेव सुगुरु सुधर्मकी सेवा करते हुए परमार्थकी प्रतीति रखना ॥२५७॥

अब कारणकी विपरीततासे अविपरीत फल सिद्ध नहीं होता यह श्रद्धा कराते हैं—[यदि वा] जब कि '[ते विषयकषाया] वे विषयकषाय [पापम्] पाप हैं' [इति] इस प्रकार [शास्त्रेषु] शास्त्रोंमें [प्ररूपिता] प्ररूपित किया गया है, तो [तत्प्रतिबद्धा] उन विषय कषायोंमें लीन [ते पुरुषा] वे पुरुष [निस्तारका] पार लगाने वाले [कथं भवन्ति] कैसे हो सकते हैं ?

तात्पर्य—विषय कषाय पापमें लीन पुरुष निस्तारक नहीं हो सकते हैं ।

टीकार्थ—विषय कषाय पाप ही है, विषयकषायवान् पुरुष भी पाप ही हैं, विषयकषायवान् पुरुषोंके प्रति अनुरक्त जीव भी पापमें अनुरक्त होनेसे पाप ही हैं । इसलिये विषयकषायवान् पुरुष स्वानुरक्त पुरुषोंको पुण्यका कारण भी नहीं होते, तब फिर वे संसारसे निस्तारके कारण तो कैसे माने जा सकते हैं ? (नहीं हो सकते), इसलिये उनसे अविपरीत फल सिद्ध नहीं होता ।

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं दर्शयति—

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु ।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥२५६॥

पापविरत सब धार्मिक, में समभावी सुगुणगणाश्रित जो ।
वह ज्ञानी पात्र पुरुष, होता सन्मार्गका भागी ॥ २५६ ॥

उपरतपापः पुरुषः समभावो धार्मिकेषु सर्वेषु । गुणसमितितोपसेवी भवति स भागी सुमार्गस्य ॥ २५६ ॥

उपरतपापत्वेन सर्वधर्मिमध्यस्थत्वेन गुणग्रामोपसेवित्वेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयोग-

---

नामसंज्ञ- उवरदपाव पुरिस समभाव धम्मिग सव्व गुणसमिदिदोपसेवि त भागि सुमग्ग । धातुसंज्ञ- हव सत्तायां । प्रातिपदिक- उपरतपाप पुरुष समभाव गुणसमितितोपसेविन् भागिन् धर्मिक सर्व सुमार्ग ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें कारणवैपरीत्य और फलवैपरीत्यका व्याख्यान किया गया था । अब इस गाथामें बताया गया है कि कारणवैपरीत्यसे फल अविपरीत सिद्ध नहीं होता ।

पदर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यपरिणतिनिवृत्तैकाग्र्यात्मकसुमार्गभागी स श्रमणः स्वयं मोक्षपुण्यायतनत्वादविपरीतफलका-
रणं कारणमविपरीतं प्रत्येयम् ॥२५९॥

मूलधातु—भू सत्तायां । उभयपदविवरण—उवरदपावो उपरतपाप पुरिसो पुरुष समभावो समभाव गुण
समिदिसेवओ गुणसमितिसेवकः—प्रथमा एक० । धम्मिगेसु धार्मिकेषु सव्वेसु सर्वेषु—सप्त-
मी बहु० । सुमग्गस्स सुमार्गस्य—षष्ठी एक० । हवदि भवति—वर्तमान अन्य एक० क्रिया । निरुक्ति—मान्यते
निश्चित यत्र स मार्ग (मार्ग + घञ्) मार्ग अन्वेषणे चुरादि । समास—उपरत पापं यस्य सः उपरतपापः
॥२५९॥

टीकार्थ—पापके रुक जानेसे, सर्व धार्मिकोंके प्रति मध्यस्थ होनेसे और गुणसमूहका
सेवन करनेसे जो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रकी युगपत्ताक्ष परिणतिसे रचित एकाग्रतास्वरूप
सुमार्गका भागी (सुमार्गशाली-सुमार्गका भाजन) है वह श्रमण निजको और परको मोक्षका
और पुण्यका आयतन होनेसे अविपरीत फलका कारणभूत 'अविपरीत कारण' है, ऐसा सम
झना चाहिये।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि कारणकी विपरीततासे फल
अविपरीत सिद्ध नहीं होता। अब इस गाथामें अविपरीत फलका कारणभूत अविपरीत कारण
(आश्रयभूत कारण) दिखाया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) एक अन्तस्तत्त्वकी धुन वाला श्रमण आराध्य अविपरीत कारण
(आश्रयभूत कारण) है, क्योंकि वह मोक्ष और पुण्यका आयतन है। (२) श्रमणोंके एक पर
मात्र सहजात्मस्वरूप ही ध्येय रहता है इसका कारण है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र
का योगपद्यपरिणमन। (३) रत्नत्रयभाव गुणपुञ्ज आत्मतत्त्वकी उपासनासे विकसित होता है।
(४) साम्यभाव होनेपर गुणपुञ्ज आत्मतत्त्वकी आराधना बनती है। (५) निष्पाप होनेपर
साम्यभाव प्रकट होता है। (६) श्रमण निष्पाप साम्यपुञ्ज अन्तस्तत्त्वोपासक होनेसे सुमार्ग
भागी हैं अतएव अविपरीत कारण हैं। (७) मोक्षके अविपरीत कारणकी उपासनासे मोक्ष
मार्गरूप अविपरीत फल प्राप्त होता है।

सिद्धान्त—(१) शुद्धतत्त्वकी भावनासे शुद्धता प्रकट होती है।

दृष्टि—१— शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब)।

प्रयोग—मोक्षपात्र बननेके लिये निष्पाप निष्पक्ष अन्तस्तत्त्वोपासक होकर सुमार्गभागी
होनेका पौरुष होने देना ॥२५९॥

अब अविपरीत फलके कारणभूत 'अविपरीत कारण' को विशेषतया प्रतिपादित करते
हैं—[अशुभोपयोगरहिताः] अशुभोपयोगरहित [शुद्धोपयुक्ताः] शुद्धोपयुक्त [वा] अथवा

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं ।
अंजलिकरणं पणमं भणिदं इह गुणाधिगाणं हि ॥२६२॥

श्रमण गुणाधिक श्रमणोंके प्रति उत्थान ग्रहण सत्सेवा ।
पोषण प्रशस्ति प्रणमन, सत्कार व विनयवृत्ति करें ॥२६२॥

अभ्युत्थानं ग्रहणमुपासनं पोषणं च सत्कारं । अञ्जलिकरणं प्रणामो भणितमिह गुणाधिकानां हि ॥२६२॥

श्रमणानां स्वतोऽधिकगुणानामभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामप्रवृत्तयो न प्रतिषिद्धा ॥२६२॥

नामसंज्ञ—अब्भुट्ठाण गहण उवासण पोसण च सक्कार अंजलिकरण पणम भणिद इह गुणाधिग हि। धातुसंज्ञ—भण कथने। प्रातिपदिक—अभ्युत्थान ग्रहण उपासन पोषण च सत्कार अंजलिकरण प्रणाम भणित इह गुणाधिक हि। मूलधातु—भण शब्दार्थः। उभयपदविवरण—अब्भुट्ठाणं अभ्युत्थानं गहणं ग्रहणं उवासणं उपासनं पोसणं पोषणं सक्कारं सत्कारं अंजलिकरणं अंजलिकरणं पणमं प्रणामं—प्रथमा ए०। भणिदं भणितं—प्रथमा ए० कृदन्त क्रिया। इह च हि—अव्यय। गुणाधिगाणं गुणाधिकानां—षष्ठी बहु०। निरुक्ति—अञ्चनं इति अञ्जलिः (अञ्ज+अलिच्) अञ्ज व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु रुधादि। समास—गुणेषु अधिकाः गुणाधिकाः तेषां गुणाधिकानाम् ॥२६२॥

की (श्रमणोंकी) उपासनाकी प्रवृत्ति सामान्यपने दिखाई गई थी। अब इस गाथामें उन्हींकी उपासनाकी प्रवृत्ति कुछ विशेषतया दिखाई गई है।

तथ्यप्रकाश—(१) अपनेसे अधिक गुण वाले श्रमणको आता हुआ देखकर उठकर खड़े होना प्रथम विनय है। (२) स्वतोधिगुणीका अभ्युत्थान द्वारा विनयकर उनको आदरसे स्वीकारना द्वितीय विनय है। (३) उन श्रमणोंको विनयपूर्वक हाथ जोड़ना प्रणाम करना तृतीय विनय है। (४) उन श्रमणोंके गुणोंकी प्रशंसा करना चतुर्थ विनय है। (५) श्रमणोंकी सेवा वैयावृत्य करना पञ्चम विनय है। (६) उन श्रमणोंके अशन, शयन आदिका ध्यान रखना छठा विनय है। (७) विनयभाव आनेपर उनके अनुकूल अन्य प्रवृत्तियाँ भी समुचित होती हैं। (८) श्रमणोंकी अपनेसे अधिक गुण वाले श्रमणोंकी उक्त विनयप्रवृत्तियाँ अप्रतिषिद्ध है प्रभुने उपदिष्ट की हैं।

सिद्धान्त—(१) शुद्ध भावनासे विशुद्धि बढ़ती है और प्रतिबन्धक कर्म दूर होते हैं।

दृष्टि—१- शुद्धभावनापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब)।

प्रयोग—अपनेसे अधिक गुण वाले श्रमणके प्रति अपनेमें गुणातिशयाधानकी साधनभूत विनयप्रवृत्तियाँ करना ॥२६२॥

अब श्रमणाभासोंके प्रति समस्त प्रवृत्तियोंका प्रतिषेध करते हैं—[श्रमणः हि] श्रमणोंके द्वारा [सूत्रार्थविशारदाः] सूत्रार्थविशारद, [संयमतपोज्ञानाढ्याः] संयम

अथ श्रमणाभासेषु सर्वाः प्रवृत्ती प्रतिषेधयति—

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥२६३॥

विदितार्थसूत्रसंयत, ज्ञानी तपमुक्त श्रमण संतोंके।
अभ्युत्थान उपासन, प्रणमन कर श्रमण भक्त रहे ॥२६३॥

अभ्युत्थेयाः श्रमणाः सूत्रार्थविशारदा उपासेयाः। संयमतपोज्ञानाढ्याः प्रणिपतनीया हि श्रमणैः ॥२६३॥

सूत्रार्थवैशारद्यप्रवर्तितसंयमतपःस्वतत्त्वज्ञानानामेव श्रमणानामभ्युत्थानादिकाः प्रवृत्तयोऽप्रतिषिद्धा इतरेषां तु श्रमणाभासानां ताः प्रतिषिद्धा एव ॥२६३॥

स्चारित्र भवति ॥२६५॥

समण श्रमण–द्वितीया एक०। दिट्ठा दृष्ट्वा–असमाप्तिकी क्रिया। पओसदो प्रद्वेषत –पञ्चम्यर्थे अव्यय। जो य सो य एदु चारित्तो नट्ठ चारित्र –प्र० एक०। किरियासु क्रियासु–स० बहु०। अणुमण्णदि अनुमन्यते हवदि भवति–वर्त० अन्य० एक० क्रिया। हि च न–अव्यय। निरुक्ति–चरण चारित्र (चर + इ त्र) चर गतौ। समास– नष्ट चारित्र यस्य स न० शासने तिष्ठतीति शासनस्थ त शासनस्थ ॥२६५॥

वाला हो ही जाता है।

तात्पर्य—जो श्रमण शासनस्थ अन्य श्रमणको न माने बुरा कहे उसका चारित्र नष्ट समझना।

टीकार्थ—द्वेषके कारण शासनस्थ श्रमणका भी अपवाद करने वालेका और उसके प्रति सत्कारादि क्रियायें करनेमें अननुमत श्रमणका द्वेषसे कषायित होनेसे चारित्र नष्ट हो जाता है।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि श्रमणाभास कैसा होता है। अब इस गाथामें यह बताया गया है कि जो श्रामण्यसे समान है उस श्रमणका आदर न करनेवालेके श्रामण्यका विनाश हो जाता है।

तथ्यप्रकाश—१– जो श्रमण शासनमें स्थित है यथार्थ श्रमण है उसका यदि कोई द्वेषसे अपवाद करे आदर न करे तो उसका चारित्र (श्रामण्य) नष्ट हो जाता है। २– जब किसी श्रमणके अन्य श्रमणके प्रति द्वेष ईर्ष्या आदिक कषाय जग गये तो वहाँ चारित्र नहीं रहता।

सिद्धान्त—(१) अशुद्ध भावनासे अशुद्धता व बद्धता चलती रहती है।

दृष्टि— १–अशुद्धभावनापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ स)।

प्रयोग— आत्मविशुद्धिके हेतु व स्वचारित्ररक्षाहेतु शासनस्थ सुमार्गभागी श्रमणके प्रति द्वेष न करना, ईर्ष्या न करना, अपवाद न करना, किन्तु विनय करना सेवा करना ॥२६५॥

अब श्रामण्यसे अधिक श्रमणके प्रति हीनकी तरह आचरण करने वालेका विनाश बतलाते है—[य] जो श्रमण [यदि गुणाधर भवन्] यदि गुणोंमें हीन होता हुआ भी [अपि श्रमण भवामि] मैं भी श्रमण हूं' [इति] ऐसा गर्व करके [गुणत अधिकस्य] गुणों में अधिक वाले श्रमण पाससे [विनय प्रत्येषक] विनय करवाना चाहता है [स] तो वह [अनन्तसंसारी भवति] अनन्तसंसारी होता है।

तात्पर्य—गुणहीन श्रमण यदि गुणाधिक श्रमणसे अपना विनय करवाना चाहता है तो वह अनन्तसंसारी होता है।

अथ श्रामण्येन सममननुमन्यमानस्य विनाशं दर्शयति—

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ॥२६५॥

शासनस्थ श्रमणको लखि, जो कुछ अपवाद द्वेषवश करता ।
अनुमोदे न विनयसे, वह मुनि है नष्टचारित्री ॥ २६५ ॥

अपवदति शासनस्थं श्रमणं दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि । क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्रः ॥२६५॥

श्रमणं शासनस्थमपि प्रद्वेषादपवदतः क्रियास्वननुमन्यमानस्य च प्रद्वेषकषायितत्वा-

अथासत्संसर्गं प्रतिषेध्यत्वेन दर्शयति—

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥२६८॥

विदितसूत्रार्थपद हो, उपशान्तकषाय तथा तपोधिक भी।
लौकिकसंग न तजता, यदि तो वह संयमी नहिं है ॥२६८॥

निश्चितसूत्रार्थपदः समितकषायस्तपोऽधिकश्चापि। लौकिकजनसंसर्गं न त्यजति यदि संयतो न भवति।

यतः सकलस्यापि विश्ववाचकस्य सल्लक्षणस्य शब्दब्रह्मणस्तद्वाच्यस्य सकलस्यापि सल्लक्षणस्य विश्वस्य च युगपदनुस्यूततदुभयज्ञेयाकारतयाधिष्ठानभूतस्य सल्लक्षणस्य ज्ञातृतत्त्वस्य निश्चयनयान्निश्चितसूत्रार्थपदत्वेन निरुपरागोपयोगत्वात् समितकषायत्वेन बहुशोऽभ्यस्तनिष्क

नामसंज्ञ – णिच्छिदसुत्तत्थपद समिदकसाअ तवोधिग च अवि लोगिगजणसंसग्ग ण जदि संजद ण। धातुसंज्ञ – चय त्याग हव सत्तायां। प्रातिपदिक – निश्चितसूत्रार्थपद समितकषाय तपोधिक च अपि लौकिकजनसंसर्ग न यदि संयत न। मूलधातु – त्यज त्यागे, भू सत्तायां। उभयपदविवरण – णिच्छिदसुत्तत्थपदो निश्चितसूत्रार्थपदः समिदकसाओ समितकषायः तवोधिगो तपोधिकः संजदो संयतः – प्रथमा एकवचन। लोगिगजणसंसग्गं लौकिकजनसंसर्गं – द्वितीया एकवचन। च अवि अपि ण न जदि यदि – अव्यय।

की भाँति उस विकार प्रवर्तनावी होनेसे लौकिक संगसे असंयत ही होता है, इस कारण लौकिक संग सर्वथा निषेध्य ही है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें बताया गया था कि श्रामण्यसे अधिक गुण वाले होकर यदि गुणहीन साधुका समानकी तरह विनयादि आचरण करे तो वह चारित्रभ्रष्ट हो जाता है। अब इस गाथामें असत्संग करनेका निषेध किया गया है।

तथ्यप्रकाश—१– यदि कोई श्रमण लौकिक असंयमी जनोंका संसर्ग नहीं छोड़ता है तो वह भी असंयत हो जाता है। २– जल शीतल होता है, किन्तु वह अग्निकी संगतिको प्राप्त है तो वह जल भी संतापकारी हो जाता है। ३– श्रमण चाहे सूत्रार्थपदोंका ज्ञानी होय कषायका शमन करने वाला हो, तपस्यामें भी अधिक हो तो भी लौकिकजनसंसर्गमें रहनेसे वह असंयत हो जाता है। ४– सूत्र समस्त विश्वका वाचक सत् शब्दब्रह्म है। ५– अ' शब्दब्रह्म द्वारा वाच्य समस्त सत् पदार्थ हैं। ६– वाचक वाच्य दोनोंके ज्ञेयाकार रूपसे अधि ष्ठाता सत् ज्ञातृतत्त्व है। ७–शब्दब्रह्म, अर्थब्रह्म, ज्ञातृब्रह्म तीनोंका ज्ञानी श्रमण निश्चितसूत्रा र्थपद कहलाता है। ८– कषायोंका शमन उपराग (रागद्वेषादिविकार) रहित उपयोग होनेसे होता है। ९–बहुत बार निष्कम्प उपयोग रखनेके अभ्यासके बलसे श्रमण तपोधिक (बड़ा तप-

नित्यमेवाधिवसनीयः। तथास्य शीतापवरककोणनिहितशीततोयवत्समगुणसङ्गाद्गुणरक्षा शीततरतुहिनशर्करासम्पृक्तशीततोयवद् गुणाधिकसङ्गाद् गुणवृद्धिः ॥ इत्यध्यास्य शुभोपयोगजनितां कांचित्प्रवृत्तिं यतिः सम्यक् संयमसौष्ठवेन परमां क्रामन्निवृत्तिं क्रमात्। हेलाक्रान्तसमस्तवस्तुविसरप्रसारिरम्योदयां ज्ञानानन्दमयीं दशामनुभवत्वेकान्ततः शाश्वतीम् ॥१७॥ इति शुभोपयोग प्रज्ञापनम् ।

अथ पञ्चरत्नम् । तन्त्रस्यास्य शिखण्डमण्डनमिव प्रद्योतयत्सर्वतोद्वैतीयीकमथार्हतो भगवतः संक्षेपतः शासनम् । व्याकुर्वञ्जगतो विलक्षणपथां संसारमोक्षस्थितिं जीयात्संप्रति पञ्च रत्नमनघं सूत्रैरिमैः पञ्चभिः ॥१८॥२७०॥

[illegible] क्रिया। तम्हि तस्मिन्–सप्तमी एक०। [illegible] अन्य० एक० क्रिया। निरुक्ति– समयते [illegible] । समास– दुःखस्य परिमोक्षः दुःखपरिमोक्षः ॥ २७०॥

विकारशील [illegible] हो जाता है। २– दुःखसे छुटकारा पानेके अभिलाषी श्रमणको अपनेसे अधिक गुण वाले श्रमणकी संगति करना चाहिये अथवा समान गुण वाले श्रमणकी संगति करना चाहिये। ३– [illegible] से गुणाधिक श्रमणकी संगति गुणवृद्धि होती है जैसे कि बर्फ शक्कर [illegible] जलमें शीतलताकी वृद्धि होती है। ४– अपने समान गुण वाले श्रमणकी संगतिसे गुणरक्षा होती है जैसे कि शीतल घरके कोनेमें रखा हुआ जल शीतल रहता है। ५– श्रमण शुभोपयोगजनित प्रवृत्तिका सेवन करके संयमकी प्रबलताकी ओर ही बढ़ता है और परमनिवृत्तिको प्राप्त कर एकान्ततः ज्ञानानन्दमयी अवस्थाका अनुभव करता है।

सिद्धान्त—(१) श्रमण शुद्धभावनाके बलसे शुद्धताकी ओर बढ़ता है और कर्मभारसे मुक्त हो जाता है।

दृष्टि—१– शुद्धभावनापक्ष शुद्धद्रव्यार्थिकनय (२४ब)।

प्रयोग—दुःखोंसे छुटकारा पानेके लिये सहज अन्तस्तत्त्वमें लीन होनेका मुख्य ध्येय रखते हुए गुणाधिक श्रमणकी अथवा समान गुण वाले श्रमणकी संगतिमें रहना ॥२७०॥

इस प्रकार शुभोपयोग प्रज्ञापन पूर्ण हुआ।

अब पाँच रत्नों जैसी पाँच गाथायें कहते हैं, उसकी उत्थानिका तन्त्रस्यास्य इत्यादि। अर्थ—अब इस शास्त्रके चूडामणि समान व सर्वतः अर्हन्तभगवानके समग्र अद्वितीय शासनको सर्वतः प्रकाशित कर रहे व इन पाँच सूत्रोंके द्वारा विलक्षण पथ वाली संसार मोक्षकी स्थितिको जगतके समक्ष प्रगट कर रहे निर्मल पंच रत्न जयवन्त वर्तो।

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वं सर्वमनोरथस्थानत्वेनाभिनन्दयति—

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥२७४॥

श्रामण्य शुद्धके ही दर्शन ज्ञान भी शुद्धके होते।
निर्वाण शुद्धका है, सो मैं उन सिद्धको प्रणमूं ॥२७४॥

शुद्धस्य च श्रामण्यं भणितं शुद्धस्य दर्शनं ज्ञानम्। शुद्धस्य च निर्वाणं स एव सिद्धो नमस्तस्मै ॥२७४॥

यत्तावत्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यप्रवृत्तैकाग्र्यलक्षणं साक्षान्मोक्षमार्गभूतं श्रामण्यं तच्च शुद्धस्यैव। यच्च समस्तभूतभवद्भाविव्यतिरेककरम्बितानन्तवस्त्वन्वयात्मकविश्वसामान्यविशेषप्रत्यक्षप्रतिभासात्मकं दर्शनं ज्ञानं च तत् शुद्धस्यैव। यच्च निःप्रतिघविजृम्भितसहजज्ञानानन्दमुद्रितदिव्यस्वभावं निर्वाणं तत् शुद्धस्यैव। यश्च टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दावस्थासुस्थितात्म-

---

नामसंज्ञ—सुद्ध य सामण्ण भणिय सुद्ध दंसण णाण सुद्ध य णिव्वाण त च इय सिद्ध णमो त। धातुसंज्ञ—भण कथने। प्रातिपदिक—शुद्ध श्रामण्य भणित शुद्ध दर्शन ज्ञान शुद्ध च निर्वाण तत् च एव सिद्ध नमस् तत्। मूलधातु—भण शब्दार्थे। उभयपदविवरण—सुद्धस्स शुद्धस्य—षष्ठी एक०। य च इय एव णमो नमः—अव्यय। सामण्णं श्रामण्यं दंसणं दर्शनं णाणं ज्ञानं णिव्वाणं निर्वाणं सो सः सिद्धो सिद्धः—

वही सिद्ध होता है।

टीकार्थ—वास्तवमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके यौगपद्यमें प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है ऐसा साक्षात् जो मोक्षमार्गभूत जो श्रामण्य है वह 'शुद्ध' के ही होता है। और जो समस्त भूत वर्तमान भावी व्यतिरेकोंके साथ मिलित, अनन्त वस्तुओंका अन्वयात्मक विश्वके सामान्य और विशेषके प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप दर्शन और ज्ञान है वह 'शुद्ध' के ही होता है। और जो निर्विघ्न खिले हुए सहज ज्ञानानन्दकी मुद्रावाला दिव्य जिसका स्वभाव है ऐसा निर्वाण है वह 'शुद्ध' के ही होता है। और जो टंकोत्कीर्ण परमानन्दरूप अवस्थाओंमें स्थित आत्मस्वभावकी उपलब्धिसे गंभीर भगवान सिद्ध है वह 'शुद्ध' ही होता है। वचन विस्तारसे बस हो? सर्व मनोरथोंके स्थानभूत, मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वरूप, 'शुद्ध' को, जिसमेंसे परस्पर अंग अंगीरूपसे परिणमित भावक भाव्यताके कारण स्व परका विभाग अस्त हुआ है ऐसा भावनमस्कार होओ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वकी महिमा कही गई थी। अब इस गाथामें उसी तत्त्वका अभिनन्दन किया गया है।

तथ्यप्रकाश—१–मोक्षतत्त्वके साधनतत्त्वमय शुद्धोपयोगको भावनमस्कार होओ।

परमात्म-आरती

(पू० श्री मनोहर जी वर्णी द्वारा रचित)

ॐ जय जय अविकारी।

जय जय अविकारी, स्वामी जय जय अविकारी।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॐ ॥ टेक ॥

काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥ १ ॥ ॐ

हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी।
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ॥ २ ॥ ॐ

परसम्बन्ध बन्ध दुख कारण, करत अहित भारी।
परमब्रह्म का दर्शन, चहु गति दुखहारी ॥ ३ ॥ ॐ

ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥ ४ ॥ ॐ

बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ ५ ॥ ॐ

नोट—यह आरती निम्नांकित अवसरोंपर पढ़ी जाती है—

१- मन्दिर आदिमें आरती करनेके समय।
२- पूजा, विधान, जाप, पाठ, उद्घाटन आदि मंगल कार्योंमें।
३- किसी भी समय भक्ति-उमंगमें टेकका व किसी छंदका पाठ।
४- सभाओंमें बोलनेके या सुननेके मंगलाचरण करना।
५- यात्रा वंदनामें प्रभुस्मरणसहित पाठ करते जाना।

रसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सर्वस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो महतोऽक्षस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम्। एवं शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः किमन्यैरध्वनीनाङ्गसंगच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः ॥१९२॥

द्वितीया एकवचन। अहं-प्रथमा एकवचन। मण्णे मन्ये-वर्तमान उत्तम पुरुष एकवचन क्रिया। निरालंब-आलंबन आलम्ब तेन रहितं अनालम्ब त लवि अवलम्बन। समास—ज्ञानं आत्मा स्वरूपं यस्य स ज्ञानात्मा तं ॥१९२॥

(प्राप्तव्य) है।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्माका ध्रुव सर्वस्व शुद्ध (केवल) आत्मा ही है अन्य कुछ नहीं। (२) आत्मा स्वयं सत् अहेतुक होनेसे अनादि अनन्त है और स्वतः सिद्ध है, इसी कारण शाश्वत ध्रुव है। (३) आत्मा समस्त परद्रव्योंसे जुदा है और अपने स्व धर्मोंमें तन्मय है, यही एकत्व है, यही आत्माकी यहाँ अभिप्रेत शुद्धता है। (४) अपने आपमें ज्ञानमय होनेसे अखण्ड ज्ञानात्मक यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व निजचित्स्वभावमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (५) स्वयं प्रतिभासमान होनेसे दर्शनभूत यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व स्वचित्स्वभावमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (६) प्रतिनियत स्पर्शादिका ग्रहण करने वाली मूर्त विनश्वर इन्द्रियोंसे पर और सर्वस्पर्शादिका ज्ञाता अमूर्त अविनश्वर यह अतीन्द्रियस्वभाव आत्मा इन्द्रियात्मक परद्रव्योंसे जुदा व ज्ञायकस्वरूप स्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (७) क्षणिक परिच्छेद्य पर्यायोंका ग्रहण मोक्षण न होनेसे चञ्चल त्रियोग व्यापाररहित स्वरूपतः अचल यह आत्मा परिच्छेद्यपर्यायात्मक परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (८) परिच्छेद्य द्रव्यका आलम्बन न होनेसे अनालम्ब यह स्वाधीन आत्मा परिच्छेद्य परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (९) विकारमय निर्विकल्पसाधनका स्वाभाविकता न होनेसे मार्गमें प्राप्त छायाका साधक यह आत्मा परवृत्तियोंसे जुदा व स्वसहजवृत्तियोंमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है। (१०) उक्त प्रकार सुनिश्चित चिन्मात्र यह एक आत्मा ही ध्रुव है और उपलभ्य है।

अथ परद्रव्यसंयोगकारणविनाशमभ्यस्यति—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि ।
होज्जं मज्झत्थोऽहं णाणप्पगमप्पगं झाए ॥ १५६ ॥

अशुभोपयोगविरहित, शुभोपयोगी न हो परार्थोंमें ।
मैं मध्यस्थ रहूं अरु, ज्ञानात्मक आपको ध्याऊँ ॥१५६॥

अशुभोपयोगरहित शुभोपयुक्तो न अन्यद्रव्ये । भवन्मध्यस्थोऽहं ज्ञानात्मकमात्मकं ध्यायामि ॥ १५६ ॥

यो हि नामायं परद्रव्यसंयोगकारणत्वेनोपन्यस्तोऽशुद्ध उपयोगः स खलु मन्दतीव्रोदयदशाविश्रान्तपरद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वादेव प्रवर्तते न पुनरन्यस्मात् । ततोऽहमेषसर्वस्मिन्नेव परद्रव्ये

नामसंज्ञ— असुहोवओगरहिद सुहोवजुत्त ण अण्णदविय मज्झत्थ णाणप्पग अप्पग । धातुसंज्ञ—हो [illegible], [illegible] ध्याने । प्रातिपदिक—अशुभोपयोगरहित शुभोपयुक्त न अन्यद्रव्य मध्यस्थ ज्ञानात्मक आत्मन् । मूलधातु— [illegible], ध्यै ध्याने रह त्यागे भ्वादि। उभयपदविवरण— असुहोवओगरहिओ अशुभोपयोग

[illegible] प्रवृत्त हुआ उपयोग अशुभोपयोग है । (३) सहजात्मस्वरूप व उसके [illegible] सिद्धोंके अतिरिक्त अन्य जीवोमे देवत्व व गुरुत्वका श्रद्धान विपरीत मार्ग है । (४) अशुभोपयोगमें अशुभ उपरागका ग्रहण है । (५) अशुभ उपराग होनेका निमित्त [illegible] उदयविशेष है । (६) आत्मस्वभाव विषयकषाय आदि विभावोंसे रहित [illegible] विरुद्ध है उक्त सर्वचेष्टायें, अतः ये सब विपरीत मार्ग हैं ।

सिद्धान्त— (१) अशुभोपयोगके परिणाम औपाधिक व विकृत भाव हैं ।

दृष्टि— १— उपाधिसापेक्ष अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय, उपचरित अशुद्ध असद्भूत व्यवहार [illegible]) ।

मध्यस्थो भवामि । एवं भवश्चाहं परद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वाशुद्धोपयोगेन निर्मुक्तो भूत्वा केवलस्वद्रव्यानुवृत्तिपरिग्रहात् प्रसिद्धशुद्धोपयोग उपयोगात्मनात्मन्येव नित्यं निश्चलमुपयुक्तस्तिष्ठामि । एष मे परद्रव्यसंयोगकारणविनाशाभ्यासः ॥१५६॥

रहित सुहोवजुत्तो शुभोपयुक्त मज्झत्थो मध्यस्थ अहं-प्रथमा एकवचन । ण न-अव्यय । अण्णदवियम्हि अन्यद्रव्ये-सप्तमी एकवचन । होज्ज भूत्वा-असमाप्तिकी क्रिया कृदन्त । णाणप्पग ज्ञानात्मक अप्पगं आत्मक-द्वितीया एकवचन । झाये ध्यायामि-वर्तमान उत्तम पुरुष एकवचन क्रिया । निरुक्ति- शोभन शुभ, द्रवति द्रोरयति अदुद्रुवत् पर्यायान् इति द्रव्य । समास-अशुभश्चासौ उपयोग अशुभोपयोग तेन रहित अ० मध्ये तिष्ठति इति मध्यस्थ शुभे उपयुक्त शुभोपयुक्त ॥१५६॥

पयोग है यह वास्तवमें मन्द तीव्र उदयदशामें रहने वाले परद्रव्यानुसार परिणतिके आधीन होनेसे ही प्रवर्तता है, अन्य कारणसे नहीं । इसलिये यह मैं समस्त परद्रव्यमें मध्यस्थ होऊँ और इस प्रकार मध्यस्थ होता हुआ मैं परद्रव्यानुसार परिणतिके आधीन न होनेसे शुभ अथवा अशुभ अशुद्धोपयोगसे मुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणतिको ग्रहण करनेसे प्रसिद्ध हुआ है शुद्धोपयोग जिसको ऐसा यह मैं उपयोगस्वरूप निजस्वरूपके द्वारा आत्मामें ही सदा निश्चलतया उपयुक्त रहता हूं । यह मेरा परद्रव्यके संयोगके कारणके विनाशका अभ्यास है ।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें अशुभोपयोगके स्वरूपका प्ररूपण किया गया था । अब इस गाथामें परसंयोगके कारणके विनाशका अभ्यास कराया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) अशुभोपयोग व शुभोपयोग दोनोंको अशुद्धोपयोग कहते हैं । (२) अशुद्धोपयोग कर्मोदयके निमित्तसे एवं परद्रव्योंके अवलम्बनसे प्रकट होता है अतः समस्त परद्रव्योंमें मध्यस्थ होनेपर अशुद्धोपयोगसे छुटकारा मिलेगा । (३) जब किसी परपरिणतिके आधीन यह आत्मा न होगा तो अशुद्धोपयोगसे मुक्त होकर केवल स्वद्रव्यमें मग्न रहेगा । (४) मात्र स्वद्रव्यमें मग्न होनेको शुद्धोपयोग कहते हैं । (५) अशुद्धोपयोगसे छूटकर निज सहज चतन्यस्वरूपमें आत्मत्वको अनुभवना, यह परद्रव्यके संयोगके कारणका विनाश करनेका अमोघ तन्त्र है । (६) परविषयक समस्त विकल्प छोड़कर स्वरसतः ज्ञानसे रचे ज्ञानात्मक निज परमात्मद्रव्यको ज्ञानदृष्टिसे निरखना शुद्ध उपयोग है ।

सिद्धान्त—(१) उपाधिका अभाव होनेपर शुद्धोपयोग प्रकट होता है ।

दृष्टि—१- उपाध्यभावापेक्ष शुद्ध द्रव्यार्थिकनय (२४ब) ।

प्रयोग—शरीर आदि सब पदार्थोंमें राग द्वेष न कर, सहजानन्दमय ज्ञानस्वरूप निज परमात्मद्रव्यमें उपयुक्त होना ॥१५६॥

[illegible] शरीरादावपि परद्रव्ये माध्यस्थं प्रकटयति--

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥१६०॥

देह न मन नहिं वाणी, उनका कारण भि हूं नहीं मै यह।
कर्ता न कारयिता, कर्ताका हूं न अनुमोदक ॥ १६० ॥

[illegible] मनो न चैव वाणी न कारण तेषाम्। कर्ता न न कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तृणाम् ॥१६०॥

[illegible] न वाच च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातो- [illegible]। [illegible]मत्यन्त मध्यस्थोऽस्मि। तथाहि--न खल्वहं शरीरवाङ्मनसा स्वरूपाधार- [illegible]स्मि, तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मन स्वरूपं धारयन्ति। ततोऽहं [illegible] मन [illegible]मपास्यात्यन्त मध्यस्थोऽस्मि। न च मे शरीरवाङ्मनःकारणाचेतनद्रव्य- [illegible], [illegible] मा कारणमन्तरेणापि कारणवंति भवन्ति। ततोऽहं तत्कारणत्वपक्षपातम-

---

[illegible] ण मण ण च एव वाणी ण कारण त कत्तार ण ण कारयितार अणुमन्तार

[illegible] परद्रव्यमे भी माध्यस्थ भाव प्रगट करते है--[अहं न देहः] मैं न [illegible] [न मनः] न मन हू, [च] और [न एव वाणी] न वाणी ही हू, [तेषां कारणं न] [illegible] हू [कर्ता न] कर्ता नही हू [कारयिता न] कराने वाला नही हू, [illegible] न एव] और कर्ताका अनुमोदक भी नही हूं।

[illegible]--मैं परद्रव्यसे अत्यन्त निराला हू।

पास्यास्म्ययमत्यन्त मध्यस्थ । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङमन कारकाचेतनद्रव्यत्वमस्ति, तानि खलु मां कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्त मध्यस्थ । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङमन कारकाचेतन द्रव्यप्रयोजकत्वमस्ति, तानि खलु मा कारकप्रयोजकमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कारकप्रयोजकत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्त मध्यस्थ । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङमन कारकाचेतनद्रव्यानुज्ञातृत्वमस्ति तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्त मध्यस्थ। ॥ १६० ॥

ण एव कत्तार । धातुसज्ञ—कर करणे मन्न अवबोधने । प्रातिपदिक—न अस्मन् देह न मनस् न च एव वाणी न कारण तत् कर्तृ न न कारयितृ अनुमतृ न एव कर्तृ । मूलधातु– डुकृञ करणे मनु अवबोधने । उभयपदविवरण—ण न एव–अव्यय । अहं देहो देह मणो मन वाणी कारण कत्ता कर्ता कारयिदा कारयिता अणुमता अनुमता–प्रथमा एकवचन । तेसिं तेषा कत्तीण कर्तृणाम्–षष्ठी बहुवचन । निरुक्ति—दिह्यते य स देह दिह उपचये मन्यते बुध्यते अनेन इति मन वणन वाणी वण शब्दे ॥ १६० ॥

ही वे वास्तवमें किये जाते हैं । इस कारण यह मैं उनके कर्ताके प्रयोजकत्वका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हू । और मेरे स्वतन्त्र शरीर, वाणी तथा मनका कारकभूत अचेतनद्रव्य का अनुमोदकपना नही है । निश्चयत वे मुझ कारक अनुमोदकके बिना ही अर्थात् उनके कर्ताका अनुमोदक हुये बिना ही किये जाते हैं । इस कारण उनके कर्ताके अनुमोदक होनेका पक्षपात छोडकर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हू ।

प्रसगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे परद्रव्यके सयोगके कारणभूत अशुद्धोपयोगके विनाशका अभ्यास कराया गया था । अब इस गाथामे शरीरादिक परद्रव्यके विषयमे माध्यस्थ्य भाव प्रकट किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) मेरा शरीर आदि सब परद्रव्योंमें माध्यस्थ्य भाव है । (२) शरीर, वचन, मनको मैं परद्रव्यरूपसे जानता हू । (३) परद्रव्यरूप शरीर वचन मन आदि समस्त पदार्थोंमें किसीमे भी मेरा कुछ भी पक्षपात नहीं है । (४) मैं शरीर वचन मनके स्वरूपका आधारभूत नही हू, वे सब मुझसे भिन्न हो अपने स्वरूपको धारण करते हैं । (५) मैं शरीर वचन मनका कारणभूत नही हू, वे मुझ उपादानसे भिन्न ही अपने कारण वाले हैं । (६) मैं शरीर वचन मनका कर्ता नही हू वे मुझ कर्ताके बिना ही अपने उपादानभूत अचेतन द्रव्य के द्वारा ही किये जाने वाले हैं । (७) मैं शरीर वचन मनका प्रयोजक नहीं हू व मेर प्रयोजनके बिना ही अपने उपादानभूत अचेतन द्रव्यके सत्वके प्रयोजनसे क्रियमाण हैं । (८) मैं शरीर वचन मनका अनुमोदक भी नही हू व मुझ अनुमोदकके बिना ही क्रियमाण हैं । (९)

अथ शरीरवाङ्मनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति—

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥१६१॥

देह तथा मन वाणी, ये पुद्गलद्रव्यमय हैं बताये ।
पुद्गलद्रव्य अचेतन, अणुवोंका पिण्ड यह सब है ॥१६१॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः । पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिण्डः परमाणुद्रव्याणाम् ॥१६१॥

शरीरं च वाक् च मनश्च त्रीण्यपि परद्रव्यं पुद्गलद्रव्यात्मकत्वात् । पुद्गलद्रव्यत्वं तु तेषां पुद्गलद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितत्वात् । तथाविधपुद्गलद्रव्यं त्वनेकपरमाणु-

नामसंज्ञ—देह य मण वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठ पोग्गलदव्व हि पुणो पिंड परमाणुदव्व । धातुसंज्ञ—णिर् दिस पेक्षणे दाने च । प्रातिपदिक—देह च मनस् वाणी पुद्गलद्रव्यात्मक इति निर्दिष्ट पुद्गलद्रव्य हि पुनर् पिण्ड परमाणुद्रव्य । मूलधातु—निर् दिश् अतिसर्जने । उभयपदविवरण—देहो देहः मणो मनः वाणी पोग्गलदव्वं पुद्गलद्रव्यं पिंडो पिण्डः—प्रथमा एकवचन । पुग्गलदव्वप्पगे—प्रथमा बहु० ।

मैं शरीर वचन मनका न कर्ता हूं, न कराने वाला हूं, न करने वालेको अनुमोदने वाला हूं, इस प्रकार शरीरादि समस्त परद्रव्यके प्रति मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूं ।

सिद्धान्त—आत्मा शरीरादिका कर्ता आदि नहीं है ।

दृष्टि—१- प्रतिषेधक शुद्धनय (४९अ) ।

प्रयोग—किसी भी परद्रव्यमें आत्माका किसी भी कारकरूप सम्बन्ध नहीं, अतः ... परद्रव्योंसे ... मानकर किसी भी परद्रव्यमें रागद्वेष न करना, मध्यस्थ रहना ॥१६०॥

द्रव्याणामेकपिण्डपर्यायेण परिणाम । अनेकपरमाणुद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वानामनेकत्वे ऽपि कथंचिदेकत्वेनावभासनात् ॥१६१॥

य च त्ति इति हि–अव्यय । निर्दिष्टा –प्रथमा बहुवचन कृदन्त क्रिया । परमाणुद्रव्याण परमाणुद्रव्याण–षष्ठी बहु० । निर्वर्तित—पिण्डन पिण्ड पिडि सघाते भ्वादि । समास—पुद्गलद्रव्यं आत्मक यथा ते पुद्गलद्रव्यात्मका ॥ १६१ ॥

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे शरीरादिके प्रति अत्यन्त माध्यस्थ्य भाव प्रकट किया गया था । अब इस गाथामे शरीरादिका परद्रव्यपना सुदृढ निश्चित किया गया है ।

तथ्यप्रकाश—(१) शरीर वचन और मन तीनो ही पुद्गलद्रव्यरूप होनेसे परद्रव्य हैं । (२) यद्यपि व्यवहारसे जीवके साथ शरीर वचन मनका एकत्व है, किन्तु निश्चयत परम चैतन्यप्रकाशवृत्तिलक्षण वाले जीवसे शरीरादि अत्यन्त भिन्न हैं । (३) शरीर, वचन, मन पुद्गलद्रव्यके स्वरूपास्तित्वसे निश्चित हैं, अत पुद्गलद्रव्यरूप हैं । (४) शरीर वचन मनकी ऐसी पिण्डरूप रचना अनेक परमाणुद्रव्योंके एक पिण्डरूप पर्यायसे बनी है । (५) शरीरादि की इस पिण्डरूप एक स्कन्धकी दशामे भी अपने अपने स्वरूपास्तित्वसे अनेक परमाणुवोंका अपना-अपना सत्त्व है । (६) ये शरीरादि मुझसे अत्यन्त पृथक् हैं ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा अपने चैतन्यमय स्वरूपास्तित्वसे ही है । (२) आत्मा अचेतनद्रव्यके स्वरूपसे नही है । (३) आत्माका स्वरूप अखण्ड चैतन्यप्रकाश है ।

दृष्टि—१– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८) । २– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिक नय (२९) । ३– परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय (३०) ।

प्रयोग–समस्त परद्रव्योंसे उपयोग हटाकर अपने स्वरूपमें ही उपयुक्त होना ॥१६१॥

अब आत्माके परद्रव्यपनेका अभाव और परद्रव्यके कर्तापनका अभाव सिद्ध करते हैं—[अहं पुद्गलमय न] मैं पुद्गलमय नही हू और [ते पुद्गला] वे पुद्गल [मया] मेरे द्वारा [पिण्ड न कृता] पिण्डरूप नही किये गये हैं, [तस्मात् हि] इस कारण निश्चयत [अहं न देह] मैं दह नही हू, [वा] तथा [तस्य देहस्य कर्ता] उस देहका कर्ता नहीं हू ।

तात्पर्य—मैं देह नही हू और न देहका कर्ता हू, क्योंकि देह पुद्गलमय है ।

टीकार्थ—जिसके भीतर वाणी और मनका समावेश हो जाता है ऐसा जो यह प्रकरणमें निर्धारित पुद्गलात्मक शरीर नामक परद्रव्य है, वह मैं नहीं हू क्योंकि मुझ अपुद्गलात्मकका पुद्गलात्मक शरीररूप होनेमें विरोध है । और इसी प्रकार उस शरीरके कारण द्वारा, कर्ता द्वारा, कर्ताके प्रयोजक द्वारा या कर्ताके अनुमोदक द्वारा शरीरका कर्ता मैं नहीं हू क्योंकि

अथात्मनः परद्रव्यत्वाभावं परद्रव्यकर्तृत्वाभावं च साधयति—

णाहं पोग्गलमइओ ण ते मया पोग्गला कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥१६२॥

मै पुद्गलमय नहिं हुं, न वे किये पिण्ड पौद्गलिक मैने।
इससे मैं देह नहीं, नहिं हूं उस देहका कर्ता॥ १६२॥

नाहं पुद्गलमयो न ते मया पुद्गलाः कृता पिण्डम्। तस्माद्धि न देहोऽहं कर्ता वा तस्य देहस्य॥ १६२॥

यदेतत्प्रकरणनिर्धारितं पुद्गलात्मकमन्तर्नीतवाङ्मनोद्वैतं शरीरं नाम परद्रव्यं न तावदहमस्मि, ममापुद्गलमयस्य पुद्गलात्मकशरीरत्वविरोधात्। न चापि तस्य कारणद्वारेण कर्तृद्वारेण कर्तृप्रयोजकद्वारेण कर्त्रनुमन्तृद्वारेण वा शरीरस्य कर्ताहमस्मि, ममानेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामस्याकर्तुरनेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामात्मकशरीरकर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात्॥१६२॥

नामसंज्ञ—[illegible] अम्ह पोग्गलमइअ ण त अम्ह पोग्गल कय पिंड त हि ण देह अम्ह कत्तार व त देह। धातुसंज्ञ—[illegible]। प्रातिपदिक—न अस्मत् पुद्गलमय न तत् अस्मत् पुद्गल कृत पिण्ड तत् हि न देह [illegible] देह। मूलधातु—[illegible] करणे। उभयपदविवरण—ण न हि वा—अव्यय। अहं पोग्ग[illegible] [illegible] कत्ता कर्ता—प्रथमा एकवचन। ते पोग्गला पुद्गला—प्रथमा बहु०। [illegible]—प्रथमा बहु० कृदन्त क्रिया। पिंड पिण्ड—क्रियाविशेषण पिण्ड यथा स्यात्तथा। [illegible] तस्स देहस्स तस्य देहस्य—षष्ठी एकवचन। निरुक्ति—पूरयन्ति गलन्ति इति [illegible], दिह्यते उपचीयते असौ इति देह दिह उपचये, पुद्गलेन निर्वृत्त [illegible]।

अथ क्व परमाणुद्रव्याणां पिण्डपर्यायपरिणतिरिति संदेहमपनुदति—

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुहवदि ॥१६३॥

परमाणु अप्रदेशी एकप्रदेशी स्वयं अशब्द कहा।
स्निग्धत्व रूक्षतावश, द्विप्रदेशादित्व अनुभवता ॥१६३॥

अप्रदेशः परमाणुः प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो यः। स्निग्धो वा रूक्षो वा द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ॥१६३॥

परमाणुर्हि द्व्यादिप्रदेशानामभावादप्रदेशः, एकप्रदेशसद्भावात्प्रदेशमात्रः, स्वयमनेक-परमाणुद्रव्यात्मकशब्दपर्यायव्यक्त्यसंभवादशब्दश्च। यतश्चतुःस्पर्शपञ्चरसद्विगन्धपञ्चवर्णानाम

नामसंज्ञ—अपदेस परमाणु पदेसमेत्त य सय असद्द ज णिद्ध वा लुक्ख वा दुपदेसादित्त। धातुसंज्ञ—अणु हव सत्तायां, सद्द आह्वाने। प्रातिपदिक—अप्रदेश परमाणु प्रदेशमात्र च स्वयं अशब्द यत् स्निग्ध वा रूक्ष द्विप्रदेशादित्व। मूलधातु—अनु भू सत्तायां, शप शब्दे। उभयपदविवरण—अपदेसो अप्रदेशः परमाणू परमाणुः पदेसमेत्तो प्रदेशमात्रः असद्दो अशब्दः जो यः णिद्धो स्निग्धः लुक्खो रूक्षः—प्रथमा एकवचन। य

त्रिकाल भी कर्ता नहीं हो सकता। (७) पुद्गलपिण्ड परिणामात्मक शरीरके कर्ता निश्चयतः पुद्गलद्रव्य ही हैं।

सिद्धान्त—(१) आत्मा शरीरका कर्ता कारयिता कारण आदि कुछ भी नहीं है। (२) जीवको शरीरका कर्ता आदि कहना उपचार है।

दृष्टि—१- प्रतिषेधक शुद्धनय (४६अ)। २- परकर्तृत्व उपचरित असद्भूत व्यवहार (१२६)।

प्रयोग—परद्रव्यसे अत्यन्त विविक्त आत्माको मात्र अपने परिणमनका कर्ता निरखना ॥१६२॥

अब "परमाणुद्रव्योंकी पिण्डपर्यायरूप परिणति कैसे होती है" इस संदेहको दूर करते हैं—[परमाणु] परमाणु [य अप्रदेशः] जो कि अप्रदेश है, [प्रदेशमात्रः] एक प्रदेशमात्र है, [च] और [स्वयं अशब्दः] स्वयं शब्दरहित है, [स्निग्धः वा रूक्षः वा] वह स्निग्ध अथवा रूक्ष होता हुआ [द्विप्रदेशादित्वम् अनुभवति] द्विप्रदेशादित्वका अनुभव करता है।

तात्पर्य—एकप्रदेशी परमाणु संघातयोग्य स्निग्धता व रूक्षताके कारण द्व्यणुक आदि स्वयं हो जाता है।

टीकार्थ—वास्तवमें परमाणु दो-तीन आदि प्रदेशोंका अभाव होनेसे अप्रदेश है एक प्रदेशका सद्भाव होनेसे प्रदेशमात्र है और स्वयं अनेक परमाणु द्रव्यात्मक शब्दपर्यायकी प्रगटता

अथ कीदृश तत्स्निग्धरूक्षत्व परमाणोरित्यावेदयति—

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं ।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि ॥१६४॥

एकादिक एकोत्तर, अणुके स्निग्धत्व रूक्षता होती ।
परिणतिस्वभाववशसे, जब तक भि अनन्तता होती ॥१६४॥

एकोत्तरमकाद्यणो स्निग्धत्व वा रूक्षत्वम् । परिणामाद्भणित यावदनन्तत्वमनुभवति ॥ १६४ ॥

परमाणोर्हि तावदस्ति परिणाम तस्य वस्तुस्वभावत्वेनानतिक्रमात् । ततस्तु परिणामादुपात्तकादाचित्कवचित्र्य चित्रगुणयोगित्वात्परमाणोरेकाद्येकोत्तरानन्तावसानाविभागपरिच्छेदव्यापि स्निग्धत्व वा रूक्षत्व वा भवति ॥१६४॥

नामसंज्ञ—एगुत्तर एगादि अणु णिद्धत्तण च लुक्खत्त परिणाम भणिद जाव अणतत्त । धातुसंज्ञ—अणु भव सत्तायां । प्रातिपदिक— एकोत्तर एकादि अणु स्निग्धत्व वा रूक्षत्व परिणाम भणित यावत् अनन्तत्व । मूलधातु—अनु भू सत्तायां । उभयपदविवरण—एगादि एकादि एगुत्तर एकोत्तरं णिद्धत्तण स्निग्धत्व लुक्खत्त रूक्षत्व-प्रथमा एकवचन । अणुस्स अणो -षष्ठी एक० । परिणामादो परिणामात्-पंचमी एक० । भणिद भणित-प्र० एक० कृदन्त क्रिया । च जाव यावत्-अव्यय । अणतत्त अनन्तत्व-द्वितीया एकवचन । अणुभवदि अनुभवति-वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । निरुक्ति- स्निह्यति स्म य स स्निग्ध ष्णिह प्रीतौ दिवादि ष्णिह स्नेहन चुरादि ॥१६४॥

अब परमाणुके वह स्निग्ध रूक्षत्व किस प्रकारका होता है, यह बतलाते है—[अणो] परमाणुके [परिणामात्] परिणमनके कारण [एकादि] एक अविभाग प्रतिच्छेदसे लेकर [एकोत्तर] एक एक बढ़ता हुआ [स्निग्धत्व वा रूक्षत्व] स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व [भणितम्] कहा गया है । [यावत्] जब तक कि [अनन्तत्व अनुभवति] अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदपनेको प्राप्त होता है ।

तात्पर्य—परमाणु एक डिग्रीसे अनन्त डिग्री तकके स्निग्ध रूक्ष होते हैं ।

टीकार्थ—वास्तवमे परमाणुके परिणमन होता है क्योंकि वस्तुस्वभावपनेसे उसका उल्लंघन नही होता । इस कारण अनेक प्रकारके गुणों वाले परमाणुके परिणमनके कारण प्राप्त किया है क्षणिक वैचित्र्य जिसने ऐसा, एकसे लेकर एक एक बढ़ते हुए अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदों तक व्याप्त होने वाला स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व होता है ।

प्रसंगविवरण—अनतरपूर्व गाथामे परमाणुवोंका पिण्डरूप होनेका कारण परमाणुमें होने वाला स्निग्धत्व व रूक्षत्वको बताया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि परमाणुवोंको वह स्निग्धत्व रूक्षत्व पिण्डरूप होनेका अर्थात् परस्पर बन्ध होनेका कारण बंध

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वात्पिण्डत्वमित्यावेदयति—

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा व विसमा वा।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदिपरिहीणा ॥१६५॥

रूक्ष हो स्निग्ध हो अणु-के वे परिणाम सम व विषम हो।
समसे द्व्यधिक हो यदि, बंधते है किन्तु आदि रहित ॥१६५॥

स्निग्धा वा रूक्षा वा अणुपरिणामा समा वा विषमा वा। समतो द्व्यधिका यदि बध्यन्ते हि आदिपरिहीना ॥१६५॥

समतो द्व्यधिकगुणाद्धि स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्युत्सर्गः, स्निग्धरूक्षद्व्यधिकगुणत्वस्य हि परिणामकत्वेन बन्धसाधनत्वात्। न खल्वेकगुणात् स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्यपवादः एकगुण

नामसंज्ञ- णिद्ध वा लुक्ख अणुपरिणाम सम विसम समदो दुराधिग जदि हि आदिपरिहीण। [illegible] ... प्रातिपदिक—स्निग्ध वा रूक्ष वा अणुपरिणाम सम वा विषम वा समत द्व्यधि[illegible]

[illegible]

तथ्यप्रकाश—(१) परमाणुके परिणमन तो होता ही रहता है, क्योंकि परिणमन [illegible] प्रत्येक वस्तुका स्वभाव है। (२) परमाणुवोमे स्निग्धत्व, रूक्षत्व, [illegible] चार प्रकारके पर्याय होते है। (३) परमाणुके वे चार गुणपर्यायके एकसे लेकर [illegible] होते है। (४) पुद्गलके उन चार पर्यायोमे स्निग्धत्व व रूक्षत्व [illegible] परमाणुवोंके परस्पर बन्धके कारणभूत है।

सिद्धान्त—(१) परमाणु परस्पर बँध बँधकर शरीरादि पिण्डरूपमे बहुप्रदेशी [illegible]

स्निग्धरूक्षत्वस्य हि परिणम्यपरिणामकत्वाभावेन बंधस्यासाधनत्वात् ॥१६५॥

यदि हि आदिपरिहीन। मूलधातु—बन्ध बन्धने। उभयपदविवरण—णिद्धा स्निग्धाः लुक्खा रूक्षाः अणुपरिणामा अणुपरिणामाः समा समाः विसमा विषमाः दुराधिगा द्वयधिकाः आदिपरिहीणा आदिपरिहीणाः-प्रथमा बहुवचन। बज्झंति बध्यन्ते-वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन भावकर्मप्रक्रिया। निरुक्ति—रूक्ष पारुष्ये, परिणमनं परिणामः। समास—अणोः परिणामाः अणुपरिणामाः ॥१६५॥

तात्पर्य—दो व अधिक डिग्रीके स्निग्ध या रूक्ष परमाणु अपनेसे दो अधिक डिग्रीके स्निग्ध या रूक्ष परमाणुके साथ बँध जाते हैं।

टीकार्थ—समानसे दो अंश अधिक स्निग्धत्व या रूक्षत्व होनेसे बंध होता है, यह उत्सर्ग है, क्योंकि स्निग्धत्व या रूक्षत्वकी द्विगुणाधिकता निश्चयसे परिणामक होनेसे बंधका कारण है। निश्चयतः एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व होनेसे बंध नहीं होता, यह अपवाद है, क्योंकि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्वके परिणम्य परिणामकताका अभाव होनेसे बंधके कारणपनेका अभाव है।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें परमाणुवोंके पिण्डत्वके साधनभूत स्निग्धत्व व रूक्षत्वके अनेक अविभाग प्रतिच्छेदोंके रूपमें परिणमन बताया गया था। अब इस गाथामें बताया गया है कि किस प्रकारके अविभागी प्रतिच्छेदोंमें परिणत परमाणुवोंका स्निग्धत्व रूक्षत्व परस्पर बंधका कारण होता है।

तथ्यप्रकाश—(१) एक अविभागप्रतिच्छेदमें परिणत स्निग्धत्व व रूक्षत्व बंधका कारण नहीं होता, जैसे कि जघन्य गुण वाला स्नेह मोह परिणाम मोहनीय प्रकृतिके बंधका कारण नहीं होता। (२) दो आदि अविभाग प्रतिच्छेदोंमें परिणत स्निग्धत्व व रूक्षत्व बंधका कारण हो सकता है। (३) जिन परमाणुवोंमें स्निग्धत्व व रूक्षत्व एकसे दूसरेमें दो अधिक अविभागप्रतिच्छेद वाला हो, उन परमाणुवोंका परस्पर बंध होता है, वे परमाणु परस्पर चाहे स्निग्ध स्निग्ध हों या रूक्ष रूक्ष हों या स्निग्ध रूक्ष हों या रूक्ष स्निग्ध हों।

सिद्धान्त—(१) परमाणुवोंका पिण्डरूप पर्यायमें आनेका कारण विशिष्ट स्निग्धत्व रूक्षत्व युक्त परमाणु ही हैं।

दृष्टि—१- उपादानदृष्टि (४६ब)।

प्रयोग—आत्मा शरीरादि पिण्डरूप बनानेका कर्ता आदि रंच मात्र भी नहीं है, अतः इन समस्त परपदार्थोंको अपनेसे अत्यन्त भिन्न जानकर उनसे उपयोग हटाना और अपने स्वरूपमें उपयोग लगाना ॥१६५॥

अब परमाणुओंके पिण्डपनेका यथोक्त हेतु दृढ़तासे निश्चित करते हैं—[स्निग्धत्वेन

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानेतृत्वाभावमवधारयति—

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो।
सुहुमेहिं बादरेहिं य अप्पा ओग्गेहिं जोग्गेहिं ॥१६८॥

अवगाढ गाढ संभृत पुद्गल कायोंसे लोक संपूरण।
सूक्ष्म व बादरोंसे, योग्य अथवा अयोग्योंसे ॥१६८॥

अवगाढगाढनिचितः पुद्गलकायैः सर्वतो लोकः। सूक्ष्मैर्बादरैश्चाप्रायोग्यैर्योग्यैः ॥ १६८ ॥

यतो हि सूक्ष्मत्वपरिणतैर्बादरपरिणतैश्चानतिसूक्ष्मत्वस्थूलत्वात् कर्मत्वपरिणमनशक्ति

नामसंज्ञ—ओगाढगाढणिचिद पुग्गलकाय सव्वदो लोग सुहुम बादर अप्पाओग्ग जोग्ग। धातुसंज्ञ—गाह स्थापनाग्रहणप्रवदोपु। प्रातिपदिक—अवगाढगाढनिचित पुद्गलकाय सर्वतः लोक सूक्ष्म बादर अप्रायोग्य योग्य। मूलधातु—गुहू प्रवगाहन। उभयपदविवरण—ओगाढगाढणिचिदो अवगाढगाढनिचितः लोगो लोकः—प्रथमा एकवचन। पुग्गलकायेहिं पुद्गलकायैः सुहुमेहिं सूक्ष्मैः बादरेहिं बादरैः अप्पाओग्गेहिं अप्रा

धारणशक्तिके कारण हैं। (६) पृथ्वी आदिमें जो पतलापन मोटापनकी विशेषता है वह उन परमाणुपिण्डोंकी विशिष्ट अवगाहन शक्तिके कारण है। (७) निश्चयतः टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैक रूपसे शुद्ध बुद्ध एकस्वभाव आत्मा है। (८) व्यवहारसे अनादिकर्मबन्धनवश शुद्धात्मस्वभावको न पाते हुए जीव पृथ्वी, जल, अग्नि वायु कायिकोंमें उत्पन्न होते हैं। (९) पृथ्वी आदि कायिकोंमें उत्पन्न होकर भी जीव अपने सुख दुःख ज्ञान विकल्प आदि परिणतियोंका ही उपादान कारण है, पृथ्वी आदि कायाकार परिणतिका नहीं। (१०) पृथ्वी कायाकारपरिणतिका उपादान कारण तो पुद्गलस्कन्ध ही है। (११) शरीर आदि किसी भी पुद्गलपिण्डका कर्ता जीव नहीं है।

सिद्धान्त—जीव शरीर आदि पौद्गलिक पिण्डोंका कर्ता नहीं है।

दृष्टि—प्रतिषेधक शुद्धनय (४९५)।

प्रयोग—आत्मा शरीरादि पुद्गलपिण्डका व अन्य भी किसी द्रव्यका कर्ता हो ही नहीं सकता, अतः कर्तृत्वका विकल्प छोड़कर अपने स्वद्रव्यमें उपयुक्त होकर मग्न विश्राम करना ॥१६७॥

अब आत्मा पुद्गलपिण्डका लाने वाला नहीं है, यह निश्चित करते हैं—[लोकः] लोक [सर्वतः] सर्वतः [सूक्ष्मैः च बादरैः] सूक्ष्म तथा बादर [अप्रायोग्यैः योग्यैः] एवं कर्मत्वके अयोग्य तथा योग्य [पुद्गलकायैः] पुद्गल स्कंधोंके द्वारा [अवगाढगाढनिचितः] अवगाहित होकर गाढ़ भरा हुआ है।

अथात्मनः कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्तृत्वाभावमवधारयति—

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स ।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥ १७० ॥

वे वे कर्मविपरिणत, पुद्गलपिण्ड देहान्तरसंक्रम पा ।
बार बार परिवर्तित जीवोंके देह बनते हैं ॥१७०॥

ते ते कर्मत्वगताः पुद्गलकायाः पुनरपि जीवस्य । संजायन्ते देहा देहान्तरसंक्रमं प्राप्य ॥ १७० ॥

ये ये नामामी यस्य जीवस्य परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य पुद्गलकायाः स्वयमेव कर्मत्वेन परिणमन्ति, अथ ते ते तस्य जीवस्यानादिसंतानप्रवृत्तिशरीरान्तरसंक्रान्तिमाश्रित्य स्वयमेव च शरीराणि जायन्ते । अतोऽवधार्यते न कर्मत्वपरिणतपुद्गलद्रव्यात्मकशरीरकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥ १७० ॥

नामसंज्ञ—त त कम्मत्तगद पोग्गलकाय पुणो वि जीव देह देहांतरसंकम । धातुसंज्ञ—स जा प्रादुर्भावे, प अप्प अपणे । प्रातिपदिक—तत् तत् कर्मत्वगत पुद्गलकाय पुनर् अपि जीव देह देहान्तरसंक्रम । मूलधातु—सम् जनी प्रादुर्भावे, प्र आप्लृ व्याप्तौ । उभयपदविवरण—ते ते कम्मत्तगदा कर्मत्वगताः पोग्गलकाया पुद्गलकायाः देहा देहाः—प्रथमा बहुवचन । पुणो पुनः वि अपि—अव्यय । जीवस्स जीवस्य—षष्ठी एकवचन । संजायंते संजायन्ते—वर्तमान अन्य पुरुष बहुवचन क्रिया । पप्पा प्राप्य—सम्बन्धार्थप्रक्रिया कृदन्त । देहंतरसंकमं देहान्तरसंक्रमं—द्वितीया एकवचन । निरुक्ति—सं क्रमणं संक्रमः क्रमु पादविक्षेपे । समास—देहान्तरस्य संक्रमः देहान्तरसंक्रमः तं देहान्तरसंक्रमं ॥१७०॥

नहीं है । अब इस गाथामें बताया गया है कि आत्मा कर्मरूपपरिणत पुद्गलद्रव्यात्मक शरीरका भी कर्ता नहीं है ।

तथ्यप्रकाश—(१) जीवके परिणामको निमित्तमात्र करके पुद्गलकाय स्वयं ही कर्मरूपसे परिणमते हैं । (२) अब वे पुद्गलकाय उस जीवके शरीरान्तरके संक्रमणका आश्रय करके स्वयं ही शरीर हो जाते हैं, शरीरके बननेमें निमित्तरूप हो जाते हैं । (३) शरीररूप जो पुद्गलपिण्ड है, चूंकि वे ही शरीररूप होते हैं, अतः शरीरका कर्ता पुद्गलपिण्ड ही है । (४) आत्मा पुद्गल कर्मके उदयसे होने वाले पुद्गलद्रव्यात्मक शरीरका कर्ता नहीं है । (५) आत्मा अपने ही परिणमनका कर्ता है, अन्यका नहीं ।

सिद्धान्त—(१) पुद्गलपिण्ड ही शरीरका कर्ता है । (२) आत्मा परद्रव्यात्मक शरीरका कर्ता नहीं है ।

दृष्टि—१- उपादानदृष्टि (४६ब) । २- प्रतिषेधक शुद्धनय (४६अ) ।

प्रयोग—शरीरका कर्ता पुद्गलपिण्डका ही निश्चय कर शरीरसे अत्यन्त विविक्त

अथात्मनः शरीरत्वाभावमवधारयति—

ओरालिओ य देहो देहो वेउव्विओ य तेजइओ ।
आहारय कम्मइओ पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥१७१॥

औदारिक वैक्रियक, आहारक तैजस कार्माण तथा ।
ये सब शरीर पांचो है पुद्गलद्रव्यरूपी जड़ ॥१७१॥

अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिसर्वपरद्रव्यविभागसाधनमसाधारणं स्वलक्षणमित्यावेदयति—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥१७२॥

अरस अरूप अगंधी अव्यक्त अशब्द चेतनागुणमय ।
चिह्नाग्रहण अरु स्वयं असंस्थान जीवको जानो ॥१७२॥

अरसमरूपमगंधमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम् । जानीह्यलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥ १७२ ॥

आत्मनो हि रसरूपगंधगुणाभावस्वभावत्वात्स्पर्शगुणव्यक्त्यभावस्वभावत्वात् शब्दपर्यायाभावस्वभावत्वात्तथा तन्मूलादलिङ्गग्राह्यत्वात्सर्वसंस्थानाभावस्वभावत्वाच्च पुद्गलद्रव्यविभागसाधनमरसत्वमरूपत्वमगंधत्वमव्यक्तत्वमशब्दत्वमलिङ्गग्राह्यत्वमसंस्थानत्वं चास्ति । सकलपुद्गलापुद्गलाजीवद्रव्यविभागसाधनं तु चेतनागुणत्वमस्ति । तदेव च तस्य स्वजीवद्रव्यमा

नामसंज्ञ—अरस अरूव अगंध अव्वत्त चेदणागुण असद्द अलिंगग्गहण जीव अणिद्दिट्ठसंठाण । धातुसंज्ञ—जाण अवबोधने, लिंग आलिंगने चित्रीकरणे । प्रातिपदिक—अरस अरूप अगंध अव्यक्त चेतनागुण

कार्माणशरीर कार्माणवर्गणात्मक पुद्गलस्कंधोंसे बनता है । (६) आत्मा अमूर्त चैतन्यस्वरूप है । (७) आत्मा शरीर नहीं है आत्माके शरीरपना नहीं है । (८) आत्मा सर्व शरीरोंसे अत्यन्त भिन्न है, अतः निश्चयतः आत्माके शरीरकर्तृत्वकी चर्चा बेतुकी है ।

सिद्धान्त—१– शरीरको देखकर उसे जीव कहना उपचार है । २– जीवको शरीर का कर्ता कहना लोकोपचार है ।

दृष्टि—१– एकजातिपर्याये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूतव्यवहार (१२१) । २– परकर्तृत्व उपचरित असद्भूतव्यवहार (१२६ब) ।

प्रयोग—पवित्र शुद्ध आनन्दमय होनेके लिये शरीरसे विविक्त सहजानन्दमय आत्मतत्त्वरूप अपनेको निरखना ॥१७१॥

तब फिर जीवका शरीरादि सर्वपरद्रव्योंसे विभागका साधनभूत असाधारण स्वलक्षण क्या है ? यह कहते हैं—[जीवम्] जीवको [अरसम्] रसरहित [अरूपम्] रूपरहित [अगंधम्] गंधरहित, [अव्यक्तम्] अव्यक्त [चेतनागुणम्] चेतनागुणमय, [अशब्दम्] शब्दरहित, [अलिंगग्रहणम्] लिंग द्वारा ग्रहण न होने योग्य और [अनिर्दिष्टसंस्थानम्] जिसका कोई संस्थान नहीं कहा गया ऐसा [जानीहि] जानो ।

तात्पर्य—जीव स्पर्शरसगंधवर्णरहित अमूर्त चैतन्यस्वभाववान है ।

टीकार्थ—आत्मा रस रूप व गंधगुणके अभावरूप स्वभाववाला होनेसे स्पर्शगुणरूप

यस्यति द्रव्यकर्मासंपृक्तत्वस्य । न लिंगेभ्य इन्द्रियेभ्यो ग्रहणं विषयाणामुपभोगो यस्येति विषयोपभोक्तृत्वाभावस्य । न लिंगात्मनो वेन्द्रियादिलक्षणाद्ग्रहणं जीवस्य धारणं यस्यति शुक्रार्तवानुविधायित्वाभावस्य । न लिंगस्य मेहनाकारस्य ग्रहणं यस्यति लौकिकसाधनमात्रताभावस्य । न लिंगनामेहनाकारेण ग्रहणं लोकव्याप्तिर्यस्यति कुहुकप्रसिद्धसाधनाकारलोकव्याप्तिकाभावस्य । न लिंगानां स्त्रीपुंनपुंसकवेदानां ग्रहणं यस्यति स्त्रीपुंनपुंसकद्रव्यभावाभावस्य । न लिंगानां

अव्यक्त अव्यक्त चेदणागुण चेतनागुण असद्द अशब्द अलिंगग्गहण अलिङ्गग्रहण जाव अणिद्दिट्ठसंठाण अनिर्दिष्टसंस्थान-द्वितीया एकवचन । जाण जानीहि-आज्ञार्थे मध्यम पुरुष एकवचन क्रिया । निरुक्ति—

इस प्रकार 'आत्मा अनुमाता मात्र नहीं है, इस अर्थकी जानकारी होती है । जिसका लिंगसे नहीं किन्तु स्वभावके द्वारा ग्रहण होता है वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (७) लिंग द्वारा अर्थात् उपयोगनामक लक्षण द्वारा जिसका ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंका आलम्बन नहीं है वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्माके बाह्य पदार्थोंका आलम्बन वाला ज्ञान नहीं है', इस अर्थकी जानकारी होती है । (८) लिंगका अर्थात् उपयोग नामक लक्षणका ग्रहण अर्थात् स्वयं कहीं बाहरसे लाया जाना नहीं है जिसका सो अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्माके अनाहार्य ज्ञानपनेकी जानकारी होती है । (९) लिंगका अर्थात् उपयोग नामक लक्षणका ग्रहण अर्थात् परसे हरण नहीं हो सकता जिसका सो अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्माका ज्ञान हरण नहीं किया जा सकता', इस अर्थकी जानकारी होती है । (१०) लिंगमें अर्थात् उपयोग नामक लक्षणमें ग्रहण अर्थात् सूर्य की भाँति उपराग नहीं है जिसके वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा शुद्धोपयोगस्वभावी है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (११) लिंगसे अर्थात् उपयोग नामक लक्षणसे ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्मका ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है इस प्रकार 'आत्मा द्रव्य कर्मसे असंपृक्त है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (१२) लिंगोंके द्वारा अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयोंका उपभोग नहीं है जिसके सो अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा विषयोंका उपभोक्ता नहीं है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (१३) लिंगात्मक इन्द्रियादि लक्षणके द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्वको धारण कर रखना जिसके नहीं है वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा शुक्र और रजके अनुसार होने वाला नहीं है' इस अर्थकी जानकारी होती है । (१४) लिंगका अर्थात् मेहनाकारका ग्रहण जिसके नहीं है सो अलिंगग्रहण है इस प्रकार 'आत्मा लौकिकसाधनमात्र नहीं है, इस अर्थकी जानकारी होती है । (१५) लिंगके द्वारा अर्थात् अमेहनाकारके द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोकमें व्यापकत्व नहीं है सो अलिंगग्रहण

पानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य । न लिंग प्रत्यभिज्ञानहेतुग्रहणमर्थावबोधसामान्य यस्येति द्रव्यानालीढ शुद्धपर्यायत्वस्य ॥१७२॥

निर्दिष्ट संस्थान यस्य स अ० त, (अलिङ्गग्रहणकी निरुक्ति आत्मख्याति टीकाम) ॥१७२॥

अलिङ्गसे अर्थात् स्वभावसे आत्माका ग्रहण होनेसे आत्मा प्रत्यक्षज्ञाता होता है" यह ज्ञात होता है । १०– दूसरोके द्वारा लिङ्गसे (साधनसे) ही आत्माका ग्रहण नहीं है, अतः 'आत्मा अनुमेयमात्र हो ऐसा नहीं है" यह विदित होता है । ११– लिङ्ग (साधन) से ही किसीके ग्रहणमे आत्मा आये ऐसा नहीं है अत "आत्मा अनुमाता मात्र ही नहीं है" यह विदित होता है । १२– उपयोगरूप लिङ्गसे ज्ञेय अथवा आलम्बनरूप ग्रहण आत्माके नहीं है, अत बाह्य पदार्थके आलम्बन वाला ज्ञान होनेके अभावकी जानकारी होती है । १३– उपयोगरूप लिङ्ग कहीं बाहरसे नहीं हरा जाता, अत आत्माका अनाहार्य ज्ञानपना ज्ञात होता है । १४–उपयोगरूप लिङ्गका दूसरके द्वारा हरण नहीं होता अत आत्माका अहार्य ज्ञानपना ज्ञात होता है । १५– उपयोगरूप लिङ्गमे ग्रहण (सूर्यग्रहणकी तरह) अर्थात् उपराग नहीं होता, अत आत्माके शुद्ध उपयोग स्वभावकी जानकारी होती है । १६– उपयोगरूप लिङ्गके द्वारा ग्रहण अर्थात् पौद्गलिक कर्मोंका ग्रहण नहीं होता, अतः 'आत्मा द्रव्यकर्मसे विविक्त है" यह जाना जाता है । १७– इन्द्रियरूप लिङ्गोंके द्वारा ग्रहण अर्थात् विषयोका उपभोग नहीं होता, अतः "आत्मा विषयोका उपभोक्ता नहीं है" यह ज्ञात होता है । १८– आत्मामें स्त्री पुरुष नपुंसक इन लिङ्गोंका ग्रहण नहीं है अत आत्माके स्त्रीपना पुरुषपना व नपुंसकपना नहीं है" यह ज्ञात होता है । १९– आत्मामें धर्ममुद्रारूप लिङ्गोंका ग्रहण नहीं है, अत आत्माके बाह्य द्रव्य मुनिलिङ्गका अभाव है यह जाना जाता है । २०– लिङ्ग अर्थात् गुणका ग्रहण अर्थावबोध आत्माके नहीं है, अत आत्मा गुणविशेषसे अनालिङ्गित है" यह ज्ञात होता है । २१– लिङ्ग अर्थात् पर्यायका ग्रहण आत्माके नहीं है अतः आत्मा पर्यायविशेषसे अनालिङ्गित है" यह ज्ञात होता है । २२– लिङ्ग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान कारणभूत ग्रहण आत्माके नहीं है, अत द्रव्यसे अनालिङ्गित शुद्ध (केवल) पर्यायपनेका ज्ञान होता है । २३– आत्मा स्वतःसिद्ध अनादि अनंत अहेतुक चेतनागुणमय है ।

सिद्धान्त—(१) आत्मा स्वभावसे सत है । (२) आत्मा परभावसे असत् है ।

दृष्टि—१– स्वद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२८) । २– परद्रव्यादिग्राहक द्रव्यार्थिकनय (२९) ।

प्रयोग—आत्मसिद्धिके लिए परसे विविक्त स्वभावमय अन्तस्तत्त्वको ज्ञानमें लेना ॥१७२॥

युक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषसंभवेऽप्यमूर्तस्यात्मनो रूपादिगुणयुक्तत्वाभावेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषासंभावनया चैकाङ्गविकलत्वात् ॥१७३॥

प्रथमा एकवचन। बज्झदि बध्यते-वर्त० अन्य० एक० भावकर्मप्रक्रिया। फासेहिं स्पर्शैः अण्णमण्णेहिं अन्योन्य-तृतीया बहु०। बज्झदि बध्नाति-वर्त० अन्य० एक० क्रिया। किध कथ-अव्यय। पोग्गलं पौद्गलं कम्मं कर्म-द्वितीया एकवचन। निरुक्ति- स्पर्शनं स्पर्शः स्पृश्यते य स स्पर्शः विपर्ययनं य स विपरीत वि परि इण गतौ। समास- तस्माद् विपरीत तद्विपरीत ॥१७३॥

है, क्योंकि कर्ममें स्निग्धरूक्षपना रहा आओ, किन्तु आत्मामें तो स्निग्धरूक्षपना असंभव ही है। (२) प्रश्न—दोनो मूर्तोंमें तो बंध हो सकता है किन्तु एक अमूर्त हो व दूसरा मूर्त हो उनका परस्पर बंध कैसे हो सकता है ?

सिद्धान्त— १- अमूर्त आत्मामें मूर्त कर्मोंका बंध कहना मात्र उपचार कथन है।

दृष्टि— १- एक जात्याधारे अन्यजात्याधेयोपचारक व्यवहार (१४२)।

प्रयोग—आत्मा व कर्ममें निमित्तनैमित्तिक बंध होनेपर भी आत्मसत्त्वकी दृष्टि करके आत्माको समस्त परतत्त्वोंसे पृथक् देखना ॥१७३॥

अब यह अमूर्त होनेपर भी आत्माके इस प्रकार बंध होता है यह सिद्धान्त निर्धारित करते हैं—[रूपादिकैः रहितः] रूपादिकसे रहित आत्मा [यथा] जैसे [रूपादीनि] रूपादिको [द्रव्याणि च गुणान्] रूपी द्रव्योंको और उनके गुणोंको [पश्यति जानाति] देखता है और जानता है [तथा] उसी प्रकार [तेन] रूपीके साथ [बंधं जानीहि] बंध होता है ऐसा जानो।

तात्पर्य—अरूपी आत्मा जैसे रूपी द्रव्यको जानता है वैसे जीव रूपी पुद्गलकर्मको बांधता है।

टीकार्थ—जिस प्रकारसे रूपादिरहित जीव रूपी द्रव्योंको तथा उनके गुणोंको देखता है तथा जानता है उसी प्रकार रूपादिरहित जीव रूपी कर्मपुद्गलोंके साथ बंधता है क्योंकि यदि ऐसा न हो तो अमूर्त मूर्तको कैसे देखता जानता है ? इस प्रकार यहाँ भी प्रश्न अनिवार्य है। और ऐसा भी नहीं है कि अरूपीका रूपीके साथ बंध होनेकी बात अत्यन्त दुर्घट होनेसे उसे दार्ष्टान्तरूप बनाया है, परन्तु दृष्टान्त द्वारा आबालगोपाल सभीको स्पष्ट समझाया गया है। स्पष्टीकरण—जैसे बाल गोपालका पृथक् रहने वाले मिट्टीके बैलको अथवा सच्चे बैलको देखने और जाननेपर बैलके साथ संबंध नहीं है तो भी विषयरूपसे रहने वाला बैल जिसका निमित्त है ऐसे उपयोगमें भासित वृषभाकार दर्शन ज्ञानके साथका संबंध बैलके साथके संबंध रूप व्यवहारका साधक अवश्य है इसी प्रकार आत्माका अरूपी होनेके कारण स्पर्शशून्यपना होनेसे कर्मपुद्गलोंके साथ संबंध नहीं है तो भी एकावगाहरूपसे रहने वाले कर्म पुद्गल जिनके

अथ भावबन्धयुक्तिं द्रव्यबन्धस्वरूपं प्रज्ञापयति—

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो ॥१७६॥

जिस रागादि भावसे, विषयागत वस्तु जानता लखता।
उससे ही रक्त होता बँध जाता कर्मसे वह फिर ॥१७६॥

भावेन येन जीवः पश्यति जानात्यागतं विषये। रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेशः ॥ १७६ ॥

अयमात्मा साकारनिराकारपरिच्छेदात्मकत्वात्परिच्छेद्यतामापद्यमानमर्थजातं येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेन पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यत एव। योऽयमुपरागः स खलु स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयो भावबन्धः। अथ पुनस्तेनैव पौद्गलिकं कर्म बध्यत एव, इत्येष भावबन्धप्रत्ययो द्रव्यबन्धः ॥१७६॥

नामसंज्ञ—भाव ज जीव आगद विसय त एव पुणो कम्म त्ति उवदेस। धातुसंज्ञ—पेच्छ दर्शने जाण अवबोधने, रज्ज रागे बंध बंधने। प्रातिपदिक—भाव यत् जीव आगत विषय तत् एव पुनर् कर्मन् इति उपदेश। मूलधातु—दृशिर् प्रेक्षणे ज्ञा अवबोधने रञ्ज् रागे, बन्ध बन्धने। उभयपदविवरण—भावेण भावेन जेण येन तेण तेन—तृतीया एकवचन। जीवो जीवः कम्मं कर्म उवदेसो उपदेशः—प्रथमा एक०। पेच्छदि पश्यति जाणदि जानाति रज्जदि रज्यति—वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। आगदं आगतं—द्वि० एक०। विसये विषये—सप्तमी एक०। एव पुणो पुनः त्ति इति—अव्यय। बज्झदि बध्यते—वर्त० अन्य० एक० भावकर्मप्रक्रिया। निरुक्ति— उपदेशनं उपदेशः ॥१७६॥

टीकार्थ—यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभासस्वरूप होनेसे प्रतिभास्य पदार्थसमूहको जिस मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भावसे देखता है और जानता है, उसीसे उपरक्त होता है। जो यह उपराग (विकार) है वह वास्तवमें स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय भावबंध है। और उसीसे अवश्य पौद्गलिक कर्म बंधता है। इस प्रकार यह द्रव्यबंधका निमित्त भावबंध है।

प्रसंगविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें भावबन्धका स्वरूप बताया गया था। अब इस गाथामें भावबन्धकी युक्ति और द्रव्यबन्धके स्वरूपको बताया गया है।

तथ्यप्रकाश—(१) यह जीव जिस ही मोहरूप रागरूप या द्वेषरूप भावसे पदार्थोंको देखता जानता है उस ही भावसे उपरक्त (मलिन) हो जाता है। (२) जो भी यह उपराग है उसके ही द्वारा पौद्गलिक कर्म बँध जाता है। (३) यह उपराग ही भावबंध है जो कि पुद्गलकर्मके साथ जीवको बद्ध कर देनेमें कारण है। (४) जैसे पुद्गलका स्निग्ध रूक्षपना बन्धका कारण है ऐसे ही जीवका यह उपराग बंधका कारण है। (५) पौद्गलिककर्मबंध भावबंधनिमित्तक है।

अथ परिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकतमरागविशिष्टत्वं सविशेषं प्रकटयति—

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो ।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥१८०॥

बन्ध परिणाममें है, परिणाम भि रागद्वेषमोहसहित ।
द्वेष मोह अशुभ हि है, शुभ व अशुभ राग द्विविध है ॥१८०॥

परिणामाद्बन्धः परिणामो रागद्वेषमोहयुतः । अशुभौ मोहप्रद्वेषौ शुभो वाशुभो भवति रागः ॥ १८० ॥

द्रव्यबन्धोऽस्ति तावद्विशिष्टपरिणामात् । विशिष्टत्वं तु परिणामस्य रागद्वेषमोहमयत्वेन । तच्च शुभाशुभत्वेन द्वैतानुवर्ति । तत्र मोहद्वेषमयत्वेनाशुभत्वं, रागमयत्वेन तु शुभत्वं चाशुभत्वं च विशुद्धिसंक्लेशाङ्गत्वेन रागस्य द्वैविध्यात् भवति ॥१८०॥

नामसंज्ञ—परिणाम बंध परिणाम रागदोसमोहजुद असुह मोहपदोस सुह व असुह राग । धातुसंज्ञ—हव सत्तायां । प्रातिपदिक—परिणाम बन्ध परिणाम रागद्वेषमोहयुत अशुभ मोहप्रद्वेष शुभ वा अशुभ राग । मूलधातु—भू सत्तायां । उभयपदविवरण—परिणामादो परिणामात्–पञ्चमी एक० । बंधो बन्धः परिणामो परिणामः रागदोसमोहजुदो रागद्वेषमोहयुतः–प्रथमा एक० । असुहो मोहपदोसो–प्र० एक० । अशुभौ मोहप्रद्वेषौ–प्रथमा द्विवचन । सुहो शुभः असुहो अशुभः रागो रागः–प्रथमा एक० । व–अव्यय । हवदि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया । निरुक्ति—प्रीतिरूप इति युक्तः युज् मिश्रणे । समास—रागश्च द्वेषश्च मोहश्चेति रागद्वेषमोहाः तैः युतः रागद्वेषमोहयुतः ॥१८०॥

दो प्रकारका है, उनमेंसे मोह द्वेषमयपनेसे तो अशुभत्व होता है और रागमयपनेसे शुभत्व तथा अशुभत्व होता है, क्योंकि विशुद्धि तथा संक्लेशयुक्त होनेसे राग दो प्रकारका होता है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामें भावबन्धको ही निश्चयतः बंध कहा गया था । अब इस गाथामें बताया गया है कि द्रव्यबन्धका हेतुभूत परिणाम शुभ व अशुभ ऐसे दो प्रकार रूप है ।

तथ्यप्रकाश—(१) द्रव्यबन्धका कारण विशिष्ट परिणाम है, अविशिष्ट परिणाम नहीं । (२) परिणामकी विशिष्टता रागद्वेषमोहमयपना होनेसे होती है । (३) मोहमय व द्वेषमय परिणाम अशुभ भाव है । (४) रागमय परिणाम शुभभाव भी हो सकता है व अशुभ भाव भी हो सकता है । (५) विशुद्धिका अङ्गभूत रागपरिणाम शुभभाव है । (६) संक्लेशका अङ्गभूत रागपरिणाम अशुभभाव है ।

सिद्धान्त—(१) विशुद्धि और संक्लेशका अङ्ग होनेसे रागपरिणाम शुभ व अशुभ दो प्रकारका है । (२) शुभ राग व अशुभराग दोनों ही भावबन्धरूप है ।

दृष्टि—१– वैभाविकनय (२०३) । २– शाश्वतनय (२०२) ।

अथ द्विविधपरिणामविशेषमविशिष्टपरिणामं च कारणे कार्यमुपचर्य कार्यत्वेन निर्दिशति—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णोसु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥१८१॥

शुभ परिणाम पुण्य है, व अशुभ परिणाम पाप कहलाता ।
परिणाम स्वोपयोगी, दुखोंके नाशका कारण ॥ १८१ ॥

त्वात् शुभपरिणाम पुण्य पापपुद्गलबन्धकारणत्वादशुभपरिणाम पापम् । अविशिष्टपरिणाम-स्य तु शुद्धत्वेनैकत्वान्नास्ति विशेष । स काले ससारदु खहेतुकर्मपुद्गलक्षयकारणत्वात्ससार दु खहेतुकमपुद्गलक्षयात्मको मोक्ष एव ॥१८१॥

क्षयकारण दु खक्षयकारण-प्रथमा एकवचन । अण्णेसु अन्येषु-सप्तमी बहु० । समय-सप्तमीएकवचन । निरुक्ति-सम् अयन समय । समास-शुभश्चासौ परिणामश्चेति शुभपरिणाम, दु खाना क्षय दु खक्षय, तस्य कारण दु खक्षयकारण ॥१८१॥

भेद नही है । वह अविशिष्ट परिणाम समयपर ससार दु खके हेतुभूत कर्मपुद्गलके क्षयका कारण होनेसे ससारदु खका हेतुभूत कर्मपुद्गलक्षयात्मक मोक्ष ही है ।

प्रसङ्गविवरण—अनन्तरपूर्व गाथामे द्रव्यबन्धके कारणभूत विकारपरिणामको शुभ व अशुभ दो प्रकारका बताया गया था । अब इस गाथामे बताया गया है कि अविशिष्ट परिणाम दु खरहित होनेका कारण है ।

तथ्यप्रकाश—(१) परिणाम दो प्रकारका होता है—कोई परद्रव्यप्रवृत्त है कोई स्वद्रव्यप्रवृत्त है । (२) परद्रव्यमे लगा हुआ परिणाम विशिष्ट परिणाम कहलाता है । (३) विशिष्ट परिणामके दो प्रकार हैं—शुभ परिणाम व अशुभपरिणाम । (४) शुभ परिणाम पुण्य भाव है, क्योकि वह पुण्यपुद्गलोके बन्धका कारण है । (५) अशुभ परिणाम पापभाव है, क्योकि वह पापपुद्गलोके बन्धका कारण है । (६) शुभाशुभ भावरहित शुद्ध भावको अविशिष्ट परिणाम कहते हैं । (७) अविशिष्ट परिणाम एकरूप है, उसके विशेष अर्थात् भेद नही है । (८) अविशिष्ट परिणाम ससारदु खके कारणभूत कर्मपुद्गलोके क्षयका कारणभूत है । (९) समस्त कर्मपुद्गलोके क्षय होनेका नाम मोक्ष है ।

सिद्धान्त—१- शुभपरिणाम पुण्य है व अशुभपरिणाम पाप है ।

दृष्टि—१- एकजातिकारणे अन्यजातिकार्योपचारक व्यवहार (१३७) ।

प्रयोग—बन्धहेतुभूत शुभाशुभ परिणामोसे रहित होकर निज अविशिष्ट सहज चैतन्यस्वरूपमे आत्मत्वको अनुभवना ॥१८१॥

अब जीवकी स्वद्रव्यमे प्रवृत्ति और परद्रव्यसे निवृत्तिकी सिद्धिके लिये स्व परका विभाग दिखलाते है—[अथ] अब जो [पृथिवीप्रमुखा] पृथ्वी आदि, [जीव निकाया] जीवनिकाय [स्थावरा च त्रसा] स्थावर और त्रस [भणिता] कहे गये है [ते] व [जीवात् अन्ये] जीवसे अन्य हैं [च] और [जीव अपि] जीव भी [तेभ्य अन्य] उनसे अन्य है ।

तात्पर्य—परमार्थत पृथिवी आदि ६ काय जीवसे अन्य है और उनसे अन्य है ।

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्तिसिद्धये स्वपरविभागं दर्शयति—

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा ।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ॥१८२॥

क्षित्यादि जीवकायें, त्रस थावर रूप जो कहे षड्विध ।
अन्य वे जीवसे हैं, उन सबसे अन्य है आत्मा ॥ १८२ ॥

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन स्वपरविभागज्ञानाज्ञाने अवधारयति—

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज ।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥१८३॥

जो स्वभाव आश्रय कर नहिं जाने स्वपरद्रव्यको ऐसे ।
वह मोही यह मेरा, ऐसा भ्रम मोहसे करता ॥१८३॥

यो नैव जानात्येवं परमात्मानं स्वभावमासाद्य । कुरुतेऽध्यवसानमहं ममेदमिति मोहात् ॥ १८३ ॥

यो हि नाम नैवं प्रतिनियतचेतनाचेतनत्वस्वभावेन जीवपुद्गलयोः स्वपरविभागं पश्यति

नामसंज्ञ—ज ण वि एव परमप्प सहाव अज्झवसाण अम्ह अम्ह इम ति मोह । धातुसंज्ञ—आ सा गमनविनाशनयोः, कर करणे । प्रातिपदिक—यत् न एव अपि परमात्मन् स्वभाव अध्यवसान अस्मत् अस्मत् इदम् इति मोह । मूलधातु—आ षद् लृ गतौ डुकृञ् करणे । उभयपदविवरण—जो यः—प्रथमा एक० । ण न वि अपि एवं ति इति—अव्यय । परमप्पाणं परमात्मानं सहावं स्वभावं—द्वितीया एक० । आसेज्ज

एक ज्ञायकस्वरूप परमात्मतत्त्वकी भावना न होनेसे कर्मोदयज रागादिविकारका निमित्तमात्र करके कार्माणवर्गणाको नामकर्मत्व बँध गया था ।

सिद्धान्त—१– देह कायोंको जीव कहना उपचार है ।

दृष्टि—१– एकजातिद्रव्ये अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार (१०६) ।

प्रयोग—संसारसंकटोंसे शरीरोंसे मुक्ति पानेके अभिलाषियोंका भेदविज्ञान करके पर द्रव्यसे उपयोगको हटाकर स्वद्रव्यमें उपयुक्त होना चाहिये ॥१८२॥

अब जीवको स्वपरविभागज्ञानको स्वद्रव्यप्रवृत्तिके निमित्तरूपसे व स्वपरविभागके अज्ञानको परद्रव्यप्रवृत्तिके निमित्तरूपसे अवधारित करते हैं—[यः] जो [एवं] इस प्रकार [स्वभावम् आसाद्य] जीव पुद्गलके स्वभावको निश्चित करके [परम् आत्मानं] परको और स्वको [न एव जानाति] नहीं जानता, [मोहात्] वह मोहसे '[अहम् इदं] मैं यह हूं, [मम इदं] मेरा यह है,' [इति] इस प्रकार [अध्यवसानं] अध्यवसान [कुरुते] करता है ।

तात्पर्य—स्व परके भेदज्ञानसे रहित जीव मिथ्या भाव कर कष्ट पाते हैं ।

टीकार्थ—जो आत्मा इस प्रकार जीव और पुद्गलके अपने अपने निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्वस्वरूप स्वभावके द्वारा स्व परके विभागको नहीं देखता, वही आत्मा मैं यह हूं, मेरा यह है' इस प्रकार मोहसे परद्रव्यको अपने रूपसे मानता है दूसरा नहीं । इससे यह निश्चित हुआ कि जीवको परद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त स्वपरके ज्ञानका अभावमात्र ही है, और सामर्थ्यसे निश्चित हुआ कि स्वद्रव्यमें प्रवृत्तिका निमित्त उसका अभाव है ।

[illegible] आत्मा बन्ध इति विभावयति—

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं।
कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥१८८॥

सप्रदेश वह आत्मा, कषाययुत मोह राग द्वेषोंसे।
कर्मरज लिप्त होता, इसको ही बन्ध बतलाया ॥१८८॥

[illegible]शुद्धात्मलाभ एवेत्यावेदयति—

ण चयदि जो दु ममत्तिं अहं ममेमंति देहदविणेसु ।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ॥१६०॥

देह धनोंमे मेरा, यह है यों जो ममत्व नहिं तजता ।
सो श्रामण्य छोड़कर, कुमार्गको प्राप्त होता है ॥१६०॥

स खलु शुद्धात्मपरिणतिरूपं श्रामण्याख्यं मार्गं दूरादपहायाशुद्धात्मपरिणतिरूपमुन्मार्गमेव प्रतिपद्यते। अतोऽवधार्यते अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव ॥१६०॥

प्रतिपन्न उन्मार्ग। मूलधातु—त्यज त्यागे, भू सत्तायां। उभयपदविवरण—ण न दु तु ति इति–अव्यय। चयदि त्यजति हादि भवति–वर्तमान अन्य पुरुष एकवचन क्रिया। जो य सो स पडिवण्णो प्रतिपन्न–प्रथमा एकवचन। ममत्ति ममता सामण्णं श्रामण्य उम्मग्गं उन्मार्ग–द्वि० एक०। अहं–प्र० एक०। मम–षष्ठी एक०। इमं इदं–प्रथमा एक०। देहदुविणेसु देहद्रविणेषु–सप्तमी बहु०। चत्ता त्यक्त्वा–असमाप्तिकी प्रक्रिया। निरुक्ति–श्रमणस्य भाव श्रामण्यं द्रूयते यत्र तत्र इति द्रविणं द्रु गतौ आदि। समास—देहाश्च द्रविणानि चेति देहद्रविणानि तेषु ॥१६०॥

(३) निश्चयनयकी अपेक्षा न रखकर एकान्तत व्यवहारनयका आलम्बन करनेसे मोह उत्पन्न होता है। (४) जिसके परद्रव्यमे व्यामोह उत्पन्न हुआ है वह देहमे यह मैं हूं ऐसा अनुभव करता है। (५) देह व्यामुग्ध जीव देहसुखसाधनभूत परद्रव्यामे यह मेरा है इस ममत्वको नही छोडता। (६) जो अहकार, ममकारको नही छोडता वह शुद्धात्मपरिणतिरूप श्रामण्य मार्गको दूरसे ही छोड देता है। (७) जो शुद्धात्मदृष्टिरूप श्रामण्यमार्गसे दूर रहता है वह अशुद्धात्मपरिणतिरूप उन्मार्गमे रमता है। (८) अशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मक अशुद्धनयसे अशुद्धात्मत्वका ही लाभ होता है।

सिद्धांत—(१) अशुद्धनयसे अशुद्धात्माका लाभ होता है।

दृष्टि—१– एकजातिद्रव्य अन्यजातिद्रव्योपचारक असद्भूत व्यवहार, स्वजात्यसद्भूत व्यवहार, विजात्यसद्भूत व्यवहार आदि (१०६, ६७, ६८)।

प्रयोग—पराश्रित सकलबाधाओंसे दूर होनेके लिये परद्रव्य व परभावसे दृष्टि हटाना ॥१६०॥

अब शुद्धनयसे शुद्धात्माका ही लाभ होता है यह अवधारित करते हैं—[अहं परेषां न भवामि] मैं परका नही हूं, [परे मे न सन्ति] पर मेरे नही हैं [अहम् एकः ज्ञानम्] मैं एक ज्ञान हूं' [इति यः ध्याने ध्यायति] इस प्रकार जो ध्यानमें रहता हुआ ध्यान करता है, [स आत्मा] वह आत्माको [ध्याता भवति] ध्याने वाला होता है।

तात्पर्य—अपनेको ज्ञानमात्र ध्याने वाला आत्मा आत्मध्याता कहलाता है।

टीकार्थ—जो आत्मा मात्र अपने विषयमे प्रवर्तमान अशुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप व्यवहारनयके अविरोधसे मध्यस्थ होता हुआ शुद्धद्रव्यके निरूपणस्वरूप निश्चयनयके द्वारा मोहको दूर किया है जिसने ऐसा होता हुआ, मैं परका नही हूं पर मेरे नही हैं इस प्रकार स्व परके परस्पर स्वस्वामिसंबधको छोडकर, 'शुद्धज्ञान ही एक मैं हूं' इस प्रकार अनात्माको

रसग धवणगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सवस्पर्शरसग धवणगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यक्स्य सता महतोऽथस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागन चास्त्यकत्वम् । तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागन चास्त्यकत्वम् । तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागन चास्त्यकत्वम् । एव शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्य किमन्यरध्वनीनाङ्गसगच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुव ॥१९२॥

द्वितीया एकवचन । अहू-प्रथमा एकवचन । मण्ण मन्य-वतमान उत्तम पुरुष एकवचन क्रिया । निरुक्ति-आलवन आलम्ब तेन रहित अनालम्ब त लवि अवलम्बन । समास—ज्ञान आत्मा स्वरूप यस्य स ज्ञानात्मा त ॥१९२॥

(प्राप्तव्य) है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्माका ध्रुव सवस्व शुद्ध (केवल) आत्मा ही है अन्य कुछ नही । (२) आत्मा स्वय सत् अहेतुक होनेसे अनादि अनन्त है और स्वत सिद्ध है, इसी कारण शाश्वत ध्रुव है । (३) आत्मा समस्त परद्रव्योंसे जुदा है और अपने स्वधर्मोंसे तन्मय है यही एकत्व है, यही आत्माकी यहाँ अभिप्रेत शुद्धता है । (४) अपने आपमे ज्ञानमय होनेसे अखण्ड ज्ञानात्मक यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व निजचित्स्वभावमे तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (५) स्वय प्रतिभासमात्र होनेसे दर्शनभूत यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व स्वचित्स्वभावमे तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (६) प्रतिनियत स्पर्शादिको ग्रहण करने वाली मूर्त विनश्वर इन्द्रियोंसे पर और सवस्पर्शादिका ज्ञाता अमूर्त अविनश्वर यह अतीन्द्रियस्वभाव आत्मा इन्द्रियात्मक परद्रव्योंसे जुदा व ज्ञायकस्वरूप स्वधर्ममे तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (७) क्षणिक परिच्छेद्य पर्यायोका ग्रहण मोचन न होनेसे अचल क्रियाव्यापाररहित स्वरूपत अचल यह आत्मा परिच्छेद्यपर्यायात्मक परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्ममे तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (८) परिच्छेद्य द्रव्यका आलम्बन न होनेसे अनालम्ब यह स्वाधीन आत्मा परिच्छेद्य परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्मम तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (९) विकारमयविनाशपनका स्वाभाविकता न होनेसे मोक्षमार्गस्वरूपका साधक यह आत्मा परवृत्तिसे जुदा व स्वसहजवृत्तिमान तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (१०) उक्त प्रकार सुनिश्चित चिन्मात्र यह एक आत्मा ही ध्रुव है और उपलब्धव्य है।

रसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सर्वस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो महतोऽस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । एवं शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरूपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः किमन्यैरध्वनीनाङ्गसंगच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयैरध्रुवैः ॥१९२॥

द्वितीया एकवचन । अहं-प्रथमा एकवचन । मण्णे मन्ये-वर्तमान उत्तम पुरुष एकवचन क्रिया । निरालम्ब-आलम्बनं आलम्ब तेन रहित अनालम्ब त लवि अवलम्बन । समास-ज्ञानं आत्मा स्वरूपं यस्य स ज्ञानात्मा त ॥१९२॥

(प्राप्तव्य) है ।

तथ्यप्रकाश—(१) आत्माका ध्रुव सर्वस्व शुद्ध (केवल) आत्मा ही है अन्य कुछ नहीं । (२) आत्मा स्वयं सत् अहेतुक होनेसे अनादि अनन्त है और स्वतः सिद्ध है, इसी कारण शाश्वत ध्रुव है । (३) आत्मा समस्त परद्रव्योंसे जुदा है और अपने स्वधर्मोंसे तन्मय है यही एकत्व है, यही आत्माकी यहाँ अभिप्रेत शुद्धता है । (४) अपने आपमें ज्ञानमय होनेसे अखण्ड ज्ञानात्मक यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व निजचित्स्वभावमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (५) स्वयं प्रतिभासमान होनेसे दर्शनभूत यह आत्मा अतन्मय परद्रव्यसे जुदा व स्वचित्स्वभावमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (६) प्रतिनियत स्पर्शादिको ग्रहण करने वाली मूर्त विनश्वर इन्द्रियोंसे परे और सर्वस्पर्शादिका ज्ञाता अमूर्त अविनश्वर यह अतीन्द्रियस्वभाव आत्मा इन्द्रियात्मक परद्रव्योंसे जुदा व ज्ञायकस्वरूप स्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (७) क्षणिक परिच्छेद्य पर्यायोंका ग्रहण मोक्षण न होनेसे चञ्चल विकल्प व्यापाररहित स्वरूपतः अचल यह आत्मा परिच्छेद्यपर्यायात्मक परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (८) परिच्छेद्य द्रव्यका आलम्बन न होनेसे अनालम्ब यह स्वाधीन आत्मा परिच्छेद्य परद्रव्यसे जुदा व परिच्छेदात्मकस्वधर्ममें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (९) विकारमयनिवर्गसाधनको स्वाधीनविकारा न होनेसे मार्गमें ध्रुवत्वादिका साधक यह आत्मा परवृत्तियोंसे जुदा व स्वसद्वृत्तियोंमें तन्मय होनेसे एकत्वगत शुद्ध है । (१०) उक्त प्रकार सुनिश्चित चिन्मात्र यह एक आत्मा ही ध्रुव है और उपलब्धव्य है ।